प्रथम संस्करण, १९५२

लेखक की अन्य रचना

ग्रेट ब्रिटेन का आधुनिक इतिहास

(१६०३—१८१५ ई०)

प्रकाशक—किताब महल ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ जीरो रोड, इलाहाबाद।

प्राक्कथन

लगभग एक हजार शताब्दियों के पश्चात् भारत दासता की बेड़ी से मुक्त हो स्वतंत्रता की साँस लेने लगा है। अतः इसे पग-पग पर सावधान होकर चलना है। एक सफल और सुयोग्य नागरिक बनने के लिए इतिहास का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिये अत्यावश्यक है। इतिहास से मेरा तात्पर्य राज-परिवारों के वृत्तों, घटनाओं और तिथियों से नहीं है, बल्कि मानव समुदाय के क्रमिक विकास से है। मानव समाज का क्रमिक विकास ही विश्व-इतिहास का उपयुक्त विषय है। अतः अब हर एक नागरिक के लिये यह अनिवार्य हो गया है कि वह अपने ही देश के नहीं, वरन् सम्पूर्ण संसार के विभिन्न देशों के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करे—दुनिया के सभी भागों की सभ्यता एवं संस्कृति से परिचित हो। वर्तमान काल अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है जो अशान्ति के भयंकर रोग से पीड़ित है। मानसिक संकीर्णता ही इसके मूल में छिपी हुई है। अनेक महापुरुषों तथा विद्वानों के विचार से कूप-मण्डूकता के कीटाणु को समूल नष्ट कर विश्व-राज्य की स्थापना ही इस रोग की रामबाण औषधि है। अतएव इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मानव-सम्प्रदाय या विश्व-इतिहास का समुचित अध्ययन एक श्रेयस्कर मार्ग है। अतः स्वतंत्र भारत के विश्व-विद्यालयों का ध्यान स्वाभाविक ही इस ओर आकृष्ट हुआ है और इनके पाठ्यक्रम में इसे उचित स्थान मिला है।

अंग्रेजी साहित्य में विश्व-इतिहास की कमी तो नहीं है, किन्तु राष्ट्र-भाषा में इस विषय पर अवश्य ही पुस्तकों का बड़ा अभाव है। यह बहुत ही खटकने वाली बात है। हिन्दी साहित्य के इसी अभाव की पूर्ति के हेतु इस ग्रन्थ की रचना हुई है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति और उनके हित को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। महत्वपूर्ण विषयों की विशद विवेचना की गई है तथा उन्हें स्पष्ट और रोचक बनाने का समुचित प्रयास किया गया है। सभी आवश्यक बातों की पूर्ण व्याख्या हो जाने के कारण दुरूह स्थल भी सरस हो गये हैं। उपयुक्त स्थानो पर चित्र तथा मानचित्र भी पर्याप्त संख्या में दे दिये गये हैं। विद्यार्थियों के लाभार्थ पुस्तक के अन्त में प्रश्नावली तथा ग्रन्थ-सूची भी दी गई हैं।

विद्यार्थियों के लिये उपयोगी होते हुए यह ग्रन्थ भाषा तथा भाव की दृष्टि से सामान्य पाठकों के लिये भी सुबोध तथा लाभदायक है। इसके लिखने में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो पाठकवृन्द ही कर सकेंगे। यदि इससे उनका कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा। दुनिया की कहानी जैसे व्यापक और

विस्तृत विषय वाले ग्रन्थ में त्रुटियों का न होना ही अस्वाभाविक है। अतः जो महानुभाव उन त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करेंगे या कोई नया सुझाव उपस्थित करेंगे तो मैं उनका हृदय से कृतज्ञ होऊँगा। द्वितीय संस्करण में भूलों का सुधार तथा सुझावों का समावेश करने की चेष्टा की जायगी।

इस पुस्तक की रचना में मुझे जिन लेखकों तथा मित्रों से सहायता या प्रेरणा मिली है मैं उनका आभारी हूँ।

राजेन्द्र कालेज, छपरा
शनिवार, माघ कृष्ण १४, सं० २००८
२६ जनवरी, १९५२ ई०
[जनतन्त्र दिवस]

राधाकृष्ण शर्मा

समर्पण

'विश्व-बन्धुत्व' सिद्धान्त

के

पोषकों तथा पालकों

को

विषय सूची

प्राचीन युग

दुनिया

अध्याय १

विषय प्रवेश—इतिहास और कुछ अन्य बातें

(क) इतिहास और इसकी उपयोगिताएँ

इतिहास और इतिहासकार

इतिहास केवल वस्तुस्थितियों, तिथियों और युद्धों से पूर्ण कोई संकीर्ण विषय नहीं है जैसा कि साधारण अर्थ में समझा जाता है। सच्चा इतिहास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव आदर्शों तथा उद्देश्यों की क्रमिक पूर्ति का उल्लेख है। इसका विषय मानवी अनुभव है—किस प्रकार मनुष्य जंगली अवस्था से सभ्य अवस्था को प्राप्त हुआ है, किस तरह वह एक-एक करके सभ्यता की सीढी पर आरूढ़ हुआ है। किसी समय मानव नग्न तथा जंगली अवस्था में था—उसे पृथ्वी पर चलना और रहना नहीं आता था। किन्तु समय बीतने के साथ-साथ उसका क्रमशः विकास होता गया और आज वह थलचर ही नहीं है बल्कि जलचर तथा नभचर भी बन गया है। कभी वह प्रकृति का दास था तो आज इसका स्वामी हो गया है। वह नित्य ही एक नये फैशन—एक नूतन मार्ग की खोज करता है। इतिहास बतलाता है कि ये सभी परिवर्तन कब, कैसे और क्यों हुए। इसे ठीक ही 'मानवता में परिवर्तन का अध्ययन' कहा गया है। अतः मानव जाति के जिस वर्ग ने कोई परिवर्तन नहीं किया है अर्थात् सदा शिथिल रहते हुए अपनी आदिम अवस्था में पड़ा है, इतिहास उसकी सर्वथा उपेक्षा करता रहा है।

इसके स्वरूप के विषय में विद्वानों के बीच मतभेद है। कुछ विद्वानों के लिये यह एक कला है तो कुछ के लिये एक विज्ञान। लेकिन सर्वसाधारण के लिये इसे विज्ञान समझना कठिन है क्योंकि यह रसायन शास्त्र या पदार्थ शास्त्र जैसा विज्ञान नही है। वास्तव में इतिहास को कला और विज्ञान दोनों माना जा सकता है। इसमें 'सामानों का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा फलों का कलात्मक संयोग' पाया जाता है। इसके सिवा विज्ञान ज्ञान प्राप्त कराता है और कला कार्य करना सिखलाती है। इतिहास से अतीत का ज्ञान प्राप्त होता है और उसके आधार पर वर्तमान तथा भविष्य में कार्य करने का मार्ग दीख पड़ता है।

एक प्रश्न और उठता है कि इतिहास का दुहराव होता है या नहीं ! चक्रक्रम में विश्वास करने वालों के लिये इतिहास का दुहराव होता है। लेकिन विकास क्रम के समर्थकों के लिये इसका दुहराव नहीं होता। दोनों पक्षों में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु प्रथम कथन में अधिकांश सत्यता है। समान कारण से समान फल का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इतिहास बतलाता है कि कोई भी विदेशी अनिच्छुक राष्ट्र को सैन्य बल के सहारे स्थायी रूप से नहीं दबा सकता है। यह बात जैसे प्राचीन युग के लिये लागू है वैसे ही वर्तमान युग में भी इसकी पुष्टि होती है।

इतिहासकारों के कन्धों पर उत्तरदायित्व का बहुत बड़ा बोझ है। राष्ट्र-निर्माण या देशोत्थान में उनका बहुत बड़ा हाथ रहता है। अतः इतिहास लेखन कला में बहुत प्रवीणता होनी चाहिये। इतिहास लेखकों में कल्पना, रचनात्मक तथा सूक्ष्म भावनाओं का होना अत्यावश्यक है। सभी बातों को बुद्धिवाद की कसौटी पर कस कर छानबीन करने के पश्चात् निष्पक्ष भाव से उन्हें लिपिबद्ध करना चाहिये। उनके अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत और उनका दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिये।

इतिहास की उपयोगिताएँ

इतिहास के अध्ययन की उपयोगिता स्पष्ट है। इसमें मनुष्य का प्रेम स्वाभाविक होता है। यह मनोरंजन, ज्ञान-प्राप्ति और पथ प्रदर्शन तीनों का निश्चित साधन है। यह अभी कहा जा चुका है कि इतिहास युगों से संचित मानव अनुभवों का बहुमूल्य एवं सन्चित भण्डार है। यह अतीत का निवास-स्थान है; और अतीत मृतक-तुल्य नहीं है बल्कि जीवित और जाग्रत है। सचमुच इतिहास उदाहरण के जरिये सिखलाने वाला दर्शन शास्त्र है और उदाहरण उपदेश से अत्युत्तम और प्रभावशाली होता है। मनुष्य की शिक्षा के लिये उदाहरण से बढ़कर कोई अन्य शिक्षालय नहीं हो सकता क्योंकि वह दूसरों का अनुकरण करना विशेष चाहता है। इसके सिवा इतिहास भूत, वर्तमान और भविष्य को एक सूत्र में आबद्ध करता है। वर्तमान अतीत का बच्चा और भविष्य का पिता है। इतिहास के ही माध्यम से अतीत का अवलोकन कर वर्तमान तथा भविष्य का अनुमान किया जाता है। अतः एक सफल और सुयोग्य नागरिक तथा राजनीतिज्ञ होने के लिये इतिहास का अध्ययन अत्यावश्यक है। कोई वैज्ञानिक हो या न हो, कोई दार्शनिक हो या न हो, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी राज्य का नागरिक तो अवश्य ही होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इतिहास का विशेष महत्त्व है।

विश्व इतिहास के पढ़ने की आवश्यकता

परन्तु हमारे युग का दुर्भाग्य इस बात में है कि व्यापकता के बदले संकीर्णता पर

ही अधिक जोर दिया जाता है। विश्व या मानव समाज के बदले देश या राष्ट्र के इतिहास को अधिक महत्व दिया जाता है। मानव इतिहास के सामूहिक अध्ययन के स्थान पर उसके एक भाग का अध्ययन किया जाता है। यह बात तो भुला दी जाती है कि राष्ट्र तो अपार समुदाय का एक अंगमात्र है, देश विशाल पृथ्वी का एक टुकड़ा मात्र है। इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर और बुरा होता है। जैसा उद्‌भव स्थान होता है वैसी ही वहाँ से निकली धारा भी होती है। पाठक की दृष्टि संकुचित हो जाती है, कूपमण्डूक की भाँति वह अपने ही देश को संसार और अपनी सभ्यता को सर्वोच्च समझ बैठता है। वह यह नहीं समझ पाता कि संसार कितना विस्तृत है जिसमें कैसे-कैसे लोग रहते आये हैं। उसमें संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना विकसित होती है जो वर्तमान अशांति का मूल कारण है।

अब दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। छोटी चीज के स्थान पर बड़ी चीज का महत्व समझना चाहिये। पहिली बात यह कि मानव समाज एक वृहद् परिवार है जो सारे विश्व में फैला हुआ है। सम्पूर्ण संसार में एक ही परिवार रूपी वृक्ष की शाखायें फैली हुयी हैं। दुनिया एक ही है जिसके रंग-मंच पर नाटककार भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न खेल खेलते आये हैं किन्तु वे सभी नाटककार हैं मनुष्य ही। सब को दिल और दिमाग होते हैं, सब में एक ही आत्मा का स्वरूप मिलता है और सभी एक ही पिता की संतान हैं जिनके शारीरिक निर्माण में कोई अन्तर नहीं है। जो भेद है सो जलवायु विशेष के कारण।

दूसरे, राज्य बनता-बिगड़ता है। किसी देश या वर्ग का उत्थान-पतन होता है। व्यक्ति विशेष मृत्यु को प्राप्त होता है यानी मनुष्य ही मरणशील प्राणी है। किन्तु मनुष्य जाति सतत् एवं स्थायी है जो सदा ही आगे की ओर बढ़ती रही है। "वह सूर्य के समान बादलों में ढक सकती है, परन्तु कभी बुझ नहीं सकती।"[1] विश्व इतिहास मनुष्य जाति की इसी प्रगति या परिवर्तन का इतिहास है। इसी प्रगति और परिवर्तन को सभ्यता और संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। यह प्रगति निरन्तर और अखण्ड है। यदि विश्व के किसी भाग में इसकी गति मन्द रहती है तो किसी भाग में तीव्र, लेकिन गति बन्द कभी नहीं होती है। अतः सभ्यता और संस्कृति की चीजें—वाङ्मय, दर्शन, कला, विज्ञान आदि कहीं भी पैदा हों, उनसे सभी मनुष्य प्रभावित होते हैं और वे मानव मात्र के धरोहर स्वरूप हैं।

तीसरे, आज विज्ञान ने सारे विश्व को एक सूत्र में बाँध दिया है। इसके चमत्कार

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर

के फलस्वरूप समय और दूरी संक्षिप्त हो गये हैं और एक जगह की घटना सारे भूमण्डल में व्याप्त हो जाती है। इस युग में दो महायुद्ध हो चुके; उनके कारण कहीं से उत्पन्न हुये हों, उनका प्रभाव तो सार्वभौम रहा है। वे ठीक ही विश्व युद्ध कहे जाते हैं। इस तरह मानव समाज पारस्परिक निर्भरता के सूत्र में आबद्ध है। अतः इसकी बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान मानव मात्र की सामूहिक चेष्टा के बिना सम्भव नहीं, कदापि सम्भव नहीं है।

अतः विश्व या मानव सम्प्रदाय के इतिहास के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। इसके द्वारा संसार के विभिन्न कुटुम्बों की सभ्यता से संपर्क होता है। इससे साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता की भावना का नाश होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीयता और सार्वभौम भ्रातृत्व-भावना विकसित होती है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" के उदार विचार का प्रादुर्भाव होता है और पारस्परिक सहयोग एव निर्भरता की प्रवृत्ति प्रस्फुटित होती है। वर्तमान संघर्ष युग में ऐसी ही उदार प्रवृत्ति की विशेष आवश्यकता है।

इन सभी बातों के सिवा अपने ही देश या राष्ट्र के इतिहास को भी अच्छी तरह समझने के लिये विश्व-इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि सपूर्ण को समझे बिना एक अंग या टुकड़े को सुचारु रूप से नहीं समझा जा सकता है। सम्पूर्ण के ज्ञान से उसके खण्ड का कुछ भी ज्ञान अवश्य हो सकता है, किन्तु केवल खण्ड के ज्ञान से सम्पूर्ण का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

(ख) मानव-प्रगति का काल-निर्णय

मानव जाति की प्रगति को दो भागों में बाँटा जाता है—पूर्व इतिहास काल (आदि काल) और इतिहास काल। पूर्व इतिहास काल लगभग ५० हजार वर्ष ई० पू० से शुरू होता है। इसका दो विभाजन किया जाता है—प्राचीन पाषाण काल और नवीन पाषाण काल। सभ्यता की प्रगति के आधार पर प्राचीन पाषाण काल को फिर दो भागों में बाँटा जाता है—पूर्वकालीन और उत्तरकालीन। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि इस पुराने युग का नामकरण पत्थर के ही आधार पर क्यों किया गया है। बात यह है कि उस युग के लोग केवल पत्थर से ही परिचित थे, अन्य किसी धातु से नहीं। अतः उनके जो भी अस्त्र-शस्त्र होते थे वे पत्थर के ही बनते थे। अतः स्वाभाविक ही उस युग को पत्थर युग कहा जाने लगा। इस काल की बातों का पता भूतत्त्वों के विद्वानों ने खंडहरों, कब्रों एवं पहाड़ और चट्टान जैसी प्राकृतिक चीजों का अध्ययन कर लगाया है। प्राचीन काल की अवशिष्ट चीजें आजकल अद्भुतालयों (म्युजियम) में देखी जा सकती हैं। इस युग की प्रगति के निर्णय में अनुमान और कल्पना से ही विशेष काम लिया जाता है। लेकिन कभी-कभी कल्पनाशक्ति भी शिथिल हो जाती है और बहुत सी बातें समझ में नहीं आतीं। यही कारण है कि इस काल की बहुत सी बातें विद्वानों के विवाद और

मतभेद के विषय बन गयी हैं क्योंकि उपर्युक्त साक्ष्य लिखित प्रमाणों के समान विश्वसनीय नहीं हैं। अनुमान पर निर्भर रहने के कारण विद्वानों के विचार मेल नहीं खाते। फिर भी अन्य कोई चारा नहीं है और उसी की शरण लेनी पड़ती है। यह काल ७ हजार वर्ष ई० पू० के लगभग समाप्त होता है और लेखन कला के आरम्भ और धातुओं के प्रयोग के साथ इतिहास काल शुरू होता है। इस काल में सभी बातें लिपिबद्ध की जाने लगीं। अतः इस काल का हाल जानने में विशेष सुविधा होती है। बहुत समय तक तो लिखने के लिए कागज नहीं था, भोज-पत्र या ताड़ के पत्तों पर ही लिखा जाता था और उन्हें बड़ी ही सावधानी के साथ रखा जाता था। फिर भी उनके नष्ट होने का भय तो बना ही रहता था। अतः पत्थर के टुकड़ों, चट्टानों और खम्भों पर लिखने की परिपाटी चल पड़ी। ये सभी चीजें तो सैकड़ों-हजारों वर्षों तक कायम रहती हैं। आजकल यदि कोई उन्हें देखना चाहे तो बड़े-बड़े अद्भुतालयों में देख सकता है। कहीं-कहीं प्राचीन समय की हस्तलिपियाँ भी देखने को मिलती हैं। आगे चलकर एक प्रकार का कागज बनाया जाने लगा जो पेपिरस कहलाता था। इसी से अंग्रेजी का 'पेपर' शब्द बना है जिसका अर्थ कागज होता है। इसके सैकड़ों वर्ष बाद आधुनिक कागज और मुद्रणालय का आविष्कार हुआ। अब हर एक प्रकार की पुस्तक आसानी से लिखी जाने लगी। लेकिन इतिहासकारों के सामने दो बाधाएँ उपस्थित हो गईं। वर्तमान काल में पुस्तकों, समाचारपत्रों और दूसरे सामानों की इतनी भरमार हो गई है कि उचित और अनुचित का विचार करना दुस्तर कार्य हो गया है। इसके सिवा यह युग राष्ट्रीयता का है जिससे अन्य राष्ट्र के सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से कुछ कहना आसान नहीं है।

इतिहास काल के तीन विभाजन

फिर इतिहास काल को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—(अ) प्राचीन—लगभग ७ हजार वर्ष ई० पू० से ५वीं सदी में रोमन साम्राज्य के पतन तक (४७६ ई० बा०)। (ब) मध्यकालीन—५वीं सदी से १५वीं सदी के मध्य तक। (स) अर्वाचीन—१५वीं सदी के मध्य से अब तक। किन्तु इस विभाजन से यह न समझ लेना चाहिये कि ये तीनों युग एक दूसरे से बिलकुल पृथक् हैं। तीनों युगों के बीच न पार करने योग्य कोई दीवार निर्मित नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि मानव समाज का सम्पूर्ण इतिहास श्रृङ्खलाबद्ध है। मानव प्रकृति सरिता की धारा के समान निरन्तर और व्यापक है। तीनों युगों की घटनाएँ, कारण और परिणाम के रूप में एक सूत्र में परस्पर सम्बद्ध हैं। केवल अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें तीन भागों में विभाजित किया गया है। लेकिन इतना स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक युग की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर यह विभाजन किया गया है।
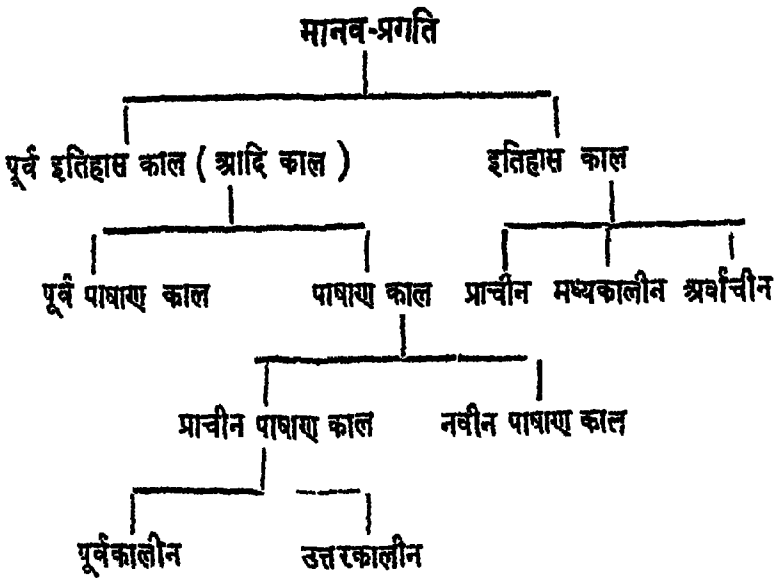
(ग) इतिहास तथा भूगोल का सम्बन्ध

इतिहास और भूगोल में बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। नातिशीतोष्ण जलवायु वाले भाग में ही सभ्यता का विकास हुआ है। इस भाग के लोगों को प्राकृतिक शक्तियों से संघर्ष करना नहीं पड़ता है और अन्य क्षेत्रों में प्रगति करने के लिये उन्हें पूरी शान्ति और पर्याप्त अवकाश मिलता रहा है। लेकिन जिस भाग में शीत या उष्णता की प्रचुरता रहती है वहाँ के लोगों को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति की शक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ा जिससे उन्हें अन्य बातों के लिए शान्ति तथा अवकाश का सदा ही अभाव रहा। अतः नदियों तथा समुद्रों के किनारे ही, जहाँ की जलवायु सम रही है, सभ्यता का उदय और विकास हुआ है। इस तरह पाषाण युग के बाद भौगोलिक दृष्टि से सभ्यता की तीन अवस्थाएँ रही हैं—नदी कालीन, समुद्र कालीन और महासागर कालीन। प्राचीन काल में हिन्दुस्तान मे सिन्धु-गंगा नदियों, चीन में यॉगट्सी ह्वांगहो नदियों, मेसोपोटेमिया में दजला-फरात नदियों और मिश्र में नील नदी के तटों पर उच्च सभ्यता के केन्द्र स्थापित हुए। नदियों की घाटियों मे मानव जीवन की तीन आवश्यक वस्तुएँ मिट्टी, अन्न और जल आसानी से मिल जाते थे। नदियों के किनारे लोग मकान बनाने लगे, खेती कर अन्न उपजाने लगे और इधर-उधर फल-फूल भी मिलने लगा था। जल से सिंचाई का काम होता था। नावों के द्वारा इस पार से उस पार आना-जाना होने लगा। इस तरह व्यापार का प्रारम्भ हो गया। धीरे-धीरे ग्राम और नगर बस गये। अतः लोग नदियों को देवी देवता के रूप में पूजने लगे। मिश्र वाले नील को पिता और भारत वाले गंगा को माता कहकर पुकारने लगे और सदा अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिये तैयार रहने लगे।

प्राचीन दुनिया में भूमध्य सागर का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसके तट पर

के स्थित भू-भाग व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे और इसके किनारे के निवासियों में नाविक प्रवृत्तियों का विकास हुआ था। उन लोगों ने भरपूर आर्थिक उन्नति की थी। पूर्व तथा पश्चिम के देशों में इसी मार्ग से व्यापार होता था। वहाँ विभिन्न भागों के लोग आते जाते थे जिनके बीच विचारों का आदान-प्रदान होता था। अतः उनमें विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास होना स्वाभाविक था; यद्यपि आपसी झगड़े भी होते रहते थे। भूमध्यसागरीय भागों में मनोहारी प्राकृतिक दृश्यों का भी अभाव नहीं था। इनसे लोगों की कल्पना शक्ति को प्रोत्साहन मिला जिससे उत्तम कला और साहित्य के विकास मे सहयोग प्राप्त हुआ। इसका किनारा पृथ्वी के तीन बड़े महादेशों को छूता है—एशिया, यूरोप और अफ्रीका। अतः इसके किनारे पर के प्रदेशों में भी उच्च कोटि की सभ्यता तथा संस्कृति का विकास होने लगा था। इसी के तट पर यूनान, सीरिया, रोम, कार्थेज और अलेक्जेंड्रिया जैसे नगर बसे थे। मक्का और मदीना भी जो इस्लाम धर्म के केन्द्र थे, कोई बहुत दूर नहीं थे। भूमध्यसागर का पूर्वी भाग ही यूरोपीय सभ्यता का आदिम स्थान है।

समुद्रकालीन सभ्यता के बाद महासागर कालीन सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। जब अटलांटिक जैसे महासागर में मशीन के सहारे विशाल जहाज चलने लगे तो महासागर तटीय देशों का उत्थान होने लगा। वे जहाजों के निर्माण में एक दूसरे से होड़ करने लगे और उपनिवेशों की स्थापना की जाने लगी। इस तरह साम्राज्य स्थापित होना शुरू हुआ। लेकिन आधुनिक समय मे भूगोल का स्थान विज्ञान ने हड़प लिया है। जिस देश ने विज्ञान में जितनी उन्नति की है वह उतना ही सभ्य और शक्तिशाली समझा जाता है। वर्तमान युग हवाई जहाज और अणुबम का युग है। जिस राष्ट्र के पास ये चीजें प्रचुर मात्रा में हैं वही आज अग्रगण्य है—उसी की विश्व मे तूती बोलती है।

इस पुस्तक में इन्हीं सभ्यताओं के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जायगा। प्रथम भाग में प्राचीनकाल, द्वितीय भाग में मध्यकाल और तृतीय भाग में आधुनिक काल की सभ्यता और संस्कृति का वर्णन किया जायगा।

(घ) सभ्यता तथा संस्कृति की व्याख्या

प्राक्कथन—पिछले सन्दर्भों में सभ्यता तथा संस्कृति शब्दों का बहुत बार प्रयोग किया गया है और आगे भी इन्हीं के विकास का वर्णन होने जा रहा है। अतः यह जानना आवश्यक है कि ये हैं क्या चीज ? सभ्यता एक ऐसा शब्द है जो बड़ा ही आकर्षक, मनोहर और प्रचलित है। सभ्यता की पोशाक पहनना गर्व और गौरव समझा जाता है और आज के युग में तो इसके नाम पर क्या-क्या नहीं हो रहा है !

सभ्यता शब्द की परिभाषा बतलाना और उसे समझना कुछ कठिन-सा मालूम

होता है। जब दो या अधिक व्यक्ति आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और गाली-गलौज तथा मार-पीट करते हैं, एक दूसरे का खून बहाते हैं तो ये सब बातें सभ्यता के नियम के विरुद्ध समझी जाती हैं और वे व्यक्ति असभ्य माने जाते हैं। उनपर अभियोग लगाया जाता है और उनको सजा होती है। किसी की हत्या करने वाले को प्राणदण्ड तक दिया जाता है। किन्तु बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते हैं जिसके कारण सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में बच्चे, स्त्री और पुरुष उनके बम, बारूद और बन्दूकों के शिकार बन कुत्तों की मौत मरते हैं। फिर भी वे राष्ट्र सभ्यता के ठीकेदार बने रहते हैं और अपने को सभ्य कहते हैं। कैसी विचित्र बात है! सभ्यता का सम्बन्ध राज्य, वैभव से भी नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझ बैठे हैं। ये सभी बातें तो जलवायु और भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करती हैं।

सभ्यता की व्याख्या

सभ्यता का अर्थ बड़ा ही व्यापक है और इसकी कुछ खास विशेषताएँ हैं। यह एक जीवन पद्धति या शैली है। बर्बरता और सभ्यता दोनों विरोधात्मक शब्द हैं। मनुष्य पहले बर्बरता की अवस्था में था जिसे जंगली अवस्था भी कहते हैं। इस सभ्यता में किसी प्रकार का व्यवस्थित जीवन नहीं था। मनुष्य बे घर बार का भटकता फिरता था और अपने स्वार्थ को सर्वोपरि समझता था। दूसरे को जान से मारने या लूट लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं थी। अहमत्व की प्रधानता थी। कोई नियम या अनुशासन नहीं था। किन्तु, समय-गति के साथ-साथ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार नयी-नयी चीजों का अनुसन्धान कर व्यवस्थित जीवन स्थापित करने लगा क्योंकि उसमें बुद्धि बल की विशेषता थी। इस तरह मानव प्रगति की तीन स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति में मनुष्य ने अन्य प्राणियों पर विजय प्राप्त की। दूसरी स्थिति में उसने प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष कर व्यवस्थित जीवन-प्रणाली स्थापित की और तीसरी अवस्था में अपने संगठित सामाजिक जीवन का विकास करते हुये सांस्कृतिक उन्नति की। प्रगति के इसी क्रमिक विकास को सभ्यता का विकास कहा जाता है।

इस तरह सभ्यता के चिह्न संस्कृति की सामग्रियाँ तो हैं ही, इसकी सर्वोत्तम पहचान है पारस्परिक सहयोग एवं सहानुभूति की भावना। मानव समाज व्यक्तियों का समूह है और प्रत्येक व्यक्ति, पुरुष या स्त्री, में दुर्गुण होते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। जो व्यक्ति इन दुर्गुणों से जितना ही दूर है वह उतना ही सभ्य कहलाने का दावा कर सकता है। इन पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करते हुये समाज का सर्वांगीण विकास करना ही सभ्यता की परम कसौटी है। ऐसा सभ्य व्यक्ति अपने को किसी संकीर्ण परिवार या राष्ट्र का नहीं बल्कि मानव-परिवार का एक सदस्य समझता है। वह मनुष्य से किसी धर्म या रंग के कारण नहीं बल्कि मनुष्य के नाते प्रेम करता है।

वह कोई कार्य मानव मात्र के कल्याणार्थ करता है और सबको अपने में और अपने को सब प्राणि मात्र में देखता है।

लेकिन वर्तमान युग में उपर्युक्त विश्वबन्धुत्व या अन्तर्राष्ट्रीय भावना का अभाव-सा है। इसका जन्म तो हो गया है किन्तु अभी यह शैशवावस्था में पड़ी कराह रही है। आज के भौतिक युग में सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है, फिर भी वास्तविक अर्थ में सभ्य समाज का, जिसमें मानव मात्र की भलाई हो, निर्माण करना अभी बाकी है। भौतिकता सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई है, किन्तु यह आध्यात्मिकताविहीन है। सभ्यता का मन-मोहक सुन्दर फूल खिल गया है परन्तु इसमें बन्धुत्व के हृदयग्राही सरस गन्ध का समावेश नहीं हुआ है। यही कारण है कि मनुष्य आकाश में उड़ लेता है लेकिन पृथ्वी पर रहना उसे नहीं आता। दुनियाँ के सामने यही समस्या उपस्थित है। यह तभी हल हो सकेगी जब कि व्यक्ति और समाज—व्यक्तिवाद और समष्टिवाद—भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा।

सभ्यता और संस्कृति

अब यह जानना आवश्यक है कि सभ्यता तथा संस्कृति में क्या अन्तर है? अंग्रेजी भाषा में इन्हें क्रमशः सिविलिजेशन (Civilisation) तथा कल्चर (Culture) कहते हैं। बहुत से लोग सभ्यता तथा संस्कृति को पर्यायवाची शब्द समझ बैठे हैं किन्तु यह उनकी भूल है। दोनों में अन्तर है यद्यपि उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। सभ्यता का सम्बन्ध मनुष्य की भौतिक, आर्थिक और सामाजिक उन्नति से है तथा संस्कृति का सम्बन्ध उसकी आध्यात्मिक, भावनात्मक और कलात्मक उन्नति से है। पहले में मानव दृष्टि बहिर्मुखी है और दूसरे में अन्तर्मुखी। मनुष्य पहले असभ्यता की अवस्था से ऊपर उठकर सभ्यता प्राप्त करता है और तब उसमें संस्कृति का विकास होता है।

(ङ) सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्र

प्राचीन समय में सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में एशिया सबसे आगे था। इसका अधिकांश भाग मानव समाज की आदि लीला भूमि थी। मेसोपोटेमिया (दक्षिण में बेबीलोन और उत्तर में असीरिया), सीरिया (बेबीलोन के पश्चिम), फिनीशिया (सीरिया के पश्चिम का संकीर्ण भू भाग), ईरान (फारस), भारत और चीन—एशिया में प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र थे। अफ्रीका के उत्तर में मिश्र और यूरोप के दक्खिन में क्रीट, यूनान (ग्रीस) तथा रोम भी प्राचीन सभ्यता के प्रसिद्ध केन्द्र थे। प्राचीन काल में मिश्र भी एशिया की भूमि से जुटा हुआ था। मध्यकाल में इनमें से कुछ केन्द्रों का तो पतन हो गया किन्तु चीन और भारत जैसे केन्द्र कायम रहे। इस युग में इस्लाम के अभ्युदय के साथ अरब संसार की प्रधानता स्थापित हुई। अर्वाचीन काल में अटलांटिक महासागर पर स्थित इंगलैंड और अमेरिका सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में आगे बढ़े।

वैज्ञानिक युग में इंगलैंड और अमेरिका ने तो उन्नति की ही है, यूरोप के अन्य देश भी पीछे नहीं रहे हैं और विश्व के अग्रणी राष्ट्रों में रूस ने तो अपना एक खास स्थान ही बना लिया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि यूरोप की सभ्यता व संस्कृति के विकास में एशिया की अपूर्व देन रही है। आधुनिक काल में समय के फेर से एशिया यूरोप से पीछे पड़ गया और यूरोप ने उसका गला दबाये रखा। किन्तु अब शोषण तथा साम्राज्य-वाद के दिन लद चुके हैं, एशिया में भी जागृति की लहर चल पड़ी है और यूरोप के चगुल से गले को निकाल कर यह फिर अपना मस्तक ऊँचा कर रहा है।

(च) मानव परिवार

मानव जाति भौगोलिक स्थिति या रंग के आधार पर ५ परिवारों में बँटी हुई है। (१) कार्केशियन—मानव वश का यह एक बहुत ही मुख्य परिवार है। कास्पियन और काले समुद्रों के बीच काकेशस नाम का पहाड़ है और इसी पहाड़ के नाम पर मानव जाति के एक परिवार का नाम काकेशियन पड़ा क्योंकि इन लोगों का आदि स्थान इसी के आसपास था। इस परिवार के लोग श्वेत या गोरे रग के होते हैं और इनका शरीर मजबूत तथा आकार लम्बा होता है। आजकल ये लोग सभी महादेशों में पाये जाते हैं किन्तु खास तौर से यूरोप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका ही इनका स्थान था। इस वंश की ३ शाखायें हैं :—(क) आर्य या इन्डो-यूरोपियन—ग्रीक, लैटिन, ट्यूटन या जर्मन, केल्ट, स्लेवोनियन, हिन्दू, पर्सियन, अफगान, आर्मिनीयन। (ख) सेमेटिक—हिब्रू, अरब, फिनीशी, बैबिलोनियन, असीरियन। (ग) हेमेटिक—मिश्र के निवासी।

(२) मंगोलियन या तर्तार—एशिया में इस वंश के लोगों की भरमार है। मध्य एशिया का प्लेटो इनका आदि स्थान था। पूरब और दक्खिन-पूरब में ये पाये जाते हैं। इनका रग पीला, केश काला और सीधा, गाल की हड्डियाँ निकली हुई और नाक चौड़ी होती है। मगोल, चीनी, जापानी, बर्मी, स्यामी, तिब्तन, साइबेरियन इसी वंश के लोग हैं। यूरोप में भी इस वश के लोग पाये जाते हैं जैसे तुर्क, मागयर, फिन्न, बल्गे-रियन, लैपलैन्डर।

(३) नीग्रो या हब्शी—इस वंश के लोगों का रग काला और नाक चपटी होती है। नीग्रो एक स्पेनी शब्द है जिसका अर्थ ही होता है काला। ये लोग दक्खिनी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में पाये जाते हैं।

(४) मलय—इस वश के लोग मलक्का और निकट द्वीपों, मैडेगेस्कर और न्यूजी-लैन्ड में पाये जाते हैं। इनका रंग भूरा होता है।

(५) अमेरिकन—ये लोग उत्तरी और दक्खिनी अमेरिका में पाये जाते हैं। इन

का रंग लाल होता है। इसीलिये अमेरिका के आदि निवासियों को प्रायः "रेड इन्डियन" भी कहते हैं।
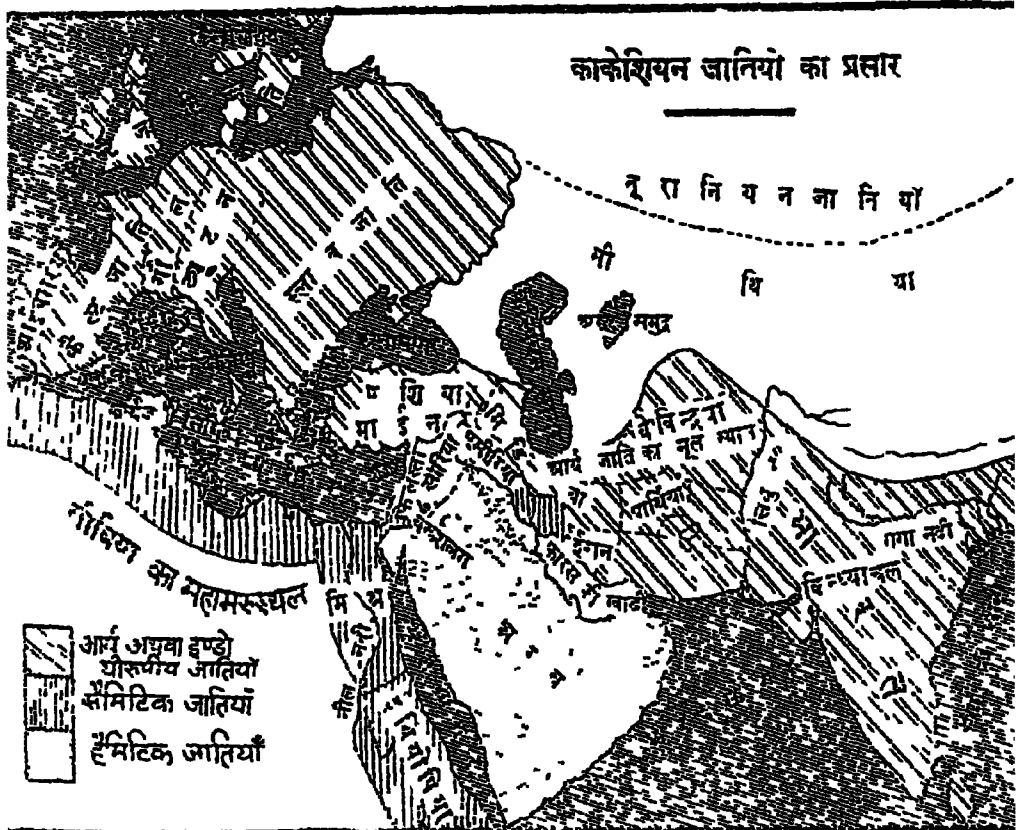
चित्र १

मानव जाति के इन वंशों में इतिहास के काकेशियन जाति का ही महत्वपूर्ण और चिरस्मरणीय स्थान है। विश्व-सभ्यता के निर्माण में इसी जाति का प्रमुख भाग है। इसमें भी यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो श्रेय अधिक इसकी आर्य शाखा को ही प्राप्त होगा। हेमेटिक शाखा में तो केवल मिश्र निवासी ही थे जो प्राचीन समय में सभ्यता के शिखर पर पहुँचे, कुछ समय तक अपना प्रभाव दिखाये और उसके बाद उनकी अवनति हो गई। सेमेटिक शाखा के लोग धार्मिक भावना के लिये ही विशेष प्रसिद्ध हैं क्योंकि विश्व के तीन महान् धर्मों—यहूदी, ईसाई और इस्लाम के प्रवर्त्तक इसी शाखा के लोग रहे हैं। वे शान्त प्रकृति के थे और फीनिशियनों को छोड़ कर वे सभी अपने घर में ही सीमित रहते थे और प्रगति एवं भ्रमण में उनकी विशेष अभिरुचि नहीं था। अतः मानव समाज को आर्यों की ही सबसे बड़ी देन है। कला, विज्ञान, साहित्य, राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों में आर्यों की ही गहरी और अमिट छाप है। प्राचीन ग्रीक और रोमन तथा आधुनिक फ्रांसीसी, जर्मन और अंगरेज—जो सभ्यता के क्षेत्र में अग्रदूत रहे हैं—इसी आर्य वंश की सन्तान हैं।

आर्य एक संस्कृत शब्द है जो ऋ धातु में ण्यत् प्रत्यय जोड़कर बना है। इसका अर्थ होता है श्रेष्ठ। आर्यों के आदि स्थान के विषय में विद्वानों के बीच गहरा मतभेद है, किन्तु अधिक विद्वानों का मत है कि आर्य कहीं पूर्वी यूरोप में रहते थे। जनसंख्या में वृद्धि और साहसिक स्वभाव के कारण वे अपने आदि स्थान को छोड़ने लगे। वे भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न दलों में चले और सुविधानुसार जहाँ-तहाँ बस गये। इनकी ऐल शाखा २००० ई० पू० से १५०० ई० पूर्व तक, और परशु, योन, उरतू और शक आदि शाखाएँ १५०० ई० पूर्व से ६०० ई० पूर्व तक विभिन्न भू भागों में फैल गईं। १६०० से १३०० ई० पूर्व तक इनकी मितानी शाखा एशियामाइनर में और १८०० से १५०० ई० पूर्व तक इनकी हिकुषाकु शाखा मिश्र में बस गई।

सर्वप्रथम वे एशिया के भू भागों में बसे। उसके बहुत वर्षों बाद यूरोप में उनकी बस्तियाँ स्थापित हुईं। प्रारम्भ में मध्य और दक्खिनी यूरोप में केल्टों का बोलबाला रहा किन्तु अब तो वे केवल ब्रिटिश द्वीप समूह और फ्रान्स में ही पाये जाते हैं। उन्हें हराकर इटालिक इटली में, हेलेनिक ग्रीस में, ट्यूटन मध्य एवं उत्तरी यूरोप में बस गये। सबसे पीछे लिथुआनियन और स्लाव आये। लिथुआनियन बाल्टिक समुद्र के निकट और स्लाव रूस, बोहेमिया, सर्विया तथा पोलैंड में बसे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव जाति का कोई भी परिवार अपने वंश की पवित्रता का दावा नहीं कर सकता। ऐसा दावा करना ढोंग मात्र ही है। एक समय था जब कि मानव समाज में कोई जातीय बन्धन नहीं था और पारस्परिक मेल-जोल, खान-पान, शादी-सम्बन्ध सब चलता था।

अध्याय २

सृष्टि का प्रारम्भ—पृथ्वी तथा जीवधारियों का जन्म

पृथ्वी की उत्पत्ति

पृथ्वी, जिसपर मनुष्य और हजारों प्रकार के जीव-जन्तु रहते हैं, कब और कैसे उत्पन्न हुई, यह बड़ी ही रोचक कहानी है। वैज्ञानिकों के मतानुसार आज से करोड़ों वर्ष पहले सूर्य बहुत ही विशाल और अतितप्त गैस का पुञ्ज था। संयोगवश कभी कोई नक्षत्र उसके पास आया जिसके आकर्षण से उसके कुछ छोटे-छोटे टुकड़े उससे अलग हो गये। लेकिन वे बिलकुल अलग होकर कहीं बहुत दूर नहीं चले गये बल्कि अपने पिता सूर्य के ही चारों ओर घूमने लगे। एक प्रकार की ऐसी शक्ति होती है जो छोटी या हलकी चीजों को, बड़ी या भारी चीजों की ओर खींचती है। ये ही टुकड़े या अग्निकण ग्रह कहलाये। प्रमुख ग्रहों की संख्या ६ मानी जाती है जिनमें यह पृथ्वी भी सम्मिलित है। ये सूर्य के ग्रह कहलाने लगे। इन ग्रहों के भी ग्रह होते हैं जो उपग्रह कहलाते हैं। पृथ्वी का उपग्रह चाँद है। इसके साथ पृथ्वी का बड़ा गहरा सम्बन्ध है और वह पृथ्वी के चारों ओर घूमता रहता है क्योंकि वह पृथ्वी का ही एक टुकड़ा है जो उसके बहुत निकट रहता है। इस प्रकार सूर्य, ग्रह और उपग्रह सबों को मिलाकर एक परिवार बन गया जो सौर-मण्डल कहलाने लगा, क्योंकि सौर या सूर्य इस परिवार का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ सदस्य था।

समय का विकास

पृथ्वी जन्म के समय तो बड़ी ही गर्म थी किन्तु वह क्रमशः ठण्डी होती गयी और उसे सूर्य से ताप और प्रकाश मिलते रहे। उसका आकार गोल होने के कारण सम्पूर्ण भाग पर सूर्य की रोशनी एक ही बार नहीं पड़ती। एक भाग में प्रकाश मिलता है तो दूसरा भाग उससे वंचित रहता है; इस तरह प्रकाश वाले भाग को दिन और अन्धकार वाले भाग को रात कहते हैं। पृथ्वी अपने वृत्त पर पश्चिम से पूरब की ओर घूमती है और वह २४ घन्टे में यानी १ दिन और रात में पूरा चक्कर देती है और वह जितने समय में सूर्य की एक बार परिक्रमा करती है उतने समय को एक वर्ष कहा जाता है। ऐसे ही दण्ड, पहर, मिनट, घंटा, सप्ताह और महीना का विकास हुआ। इस प्रकार सूर्य की प्रदक्षिणा की क्रिया के ही आधार पर समय का निर्धारण हुआ है।

जमीन, जल और जीवन

आज जो पृथ्वी हम लोगों के सामने पड़ी है वह कई अरब वर्षों के परिवर्तनों का

परिणाम है। यह जन्म लेते ही निवास के योग्य नहीं बन गयी। करोड़ों वर्ष तक इस पर कोई जीव-जन्तु या पेड़-पौधे नहीं उत्पन्न हुए। इसका कारण था कि पृथ्वी भी तो ज्वलन्त अग्निपिण्ड का ही एक कण थी। अतः इसकी गर्मी अवश्य ही असह्य रही होगी जो किसी चीज को जला देती होगी। किन्तु पृथ्वी सूर्य से बहुत ही छोटी थी। अतः समय गति के साथ वह ठण्डी होने लगी और इसके ऊपर पत्थर के समान कड़ी पपड़ी पड़ने लगी। यह पपड़ी सर्वत्र समतल नहीं थी बल्कि ऊँची-नीची थी। ऊँची पपड़ी वाले भाग को ही पहाड़ कहा जाने लगा। लेकिन जमीन के नीचे का भाग तो वर्षों गर्म ही रहा। जब जमीन गर्म थी तो हवा भी गर्म थी। अतः जमीन के ठण्ढा हो जाने पर हवा में जो भाप थी उससे बादल बना और वर्षा का प्रारम्भ हुआ। उस समय लगातार मूसलधार पानी बरसा और बहुत पानी भूमि के निचले भाग में जमा हुआ जिससे समुद्र और सागर का निर्माण हुआ। पहाड़ों पर पानी पड़ने से नदियों का जन्म हुआ। कुछ समय तक तो जल भी गर्म रहा किन्तु यह भी धीरे-धीरे ठण्डा होने लगा। जमीन और जल दोनों जितना ही ठण्डा होते गये उतना ही वे जीवधारियों के रहने योग्य बनते गये।

आदि काल के जीवधारियों के विषय में जानने के लिये तो खास तौर से प्राकृतिक सामग्रियों और कल्पना पर निर्भर करना पड़ता है। पुरानी चट्टानों में जानवरों की हड्डियाँ मिलती हैं जिन्हें फोसिल या पथराई हुई हड्डी कहते हैं। इन हड्डियों को देखने से यह मालूम होता है कि उस चट्टान के बनने के बहुत पहले वह जीवधारी अवश्य ही रहा होगा जिसकी हड्डियाँ मिलती हैं। जीवधारी से मतलब केवल जानवरों से ही नहीं है बल्कि पेड़-पौधों से भी है जिनमें जीव होता है। जीवधारियों का प्रादुर्भाव एक क्रम से हुआ है—सबसे पहले निम्न श्रेणी के जानवर आये और उसके बाद क्रमानुसार ऊँची श्रेणी के जानवर आते गये। सबसे पीछे मनुष्य आया जो सर्वोच्च श्रेणी का जानवर माना जाता है। जानदार चीजों में सर्व प्रथम जल-जन्तुओं का आगमन हुआ। पहले जो जानदार चीज आई वह ऐसी थी जिसके पास न तो खाल थी और न हड्डी। उसकी आकृति लोथड़े के समान थी जो बदलती रहती थी। इसके बाद घोंघे और केंकड़े की जाति के जानवर पैदा हुए। तीसरी अवस्था में मछलियाँ आईं जिनमें खाल या हड्डियाँ पाई जाती थीं। परिवर्तन तो निरन्तर होता रहा। जब जमीन का अधिक भाग सूख गया तो मेंढक जैसे जानवर पैदा हुए जो जल और थल दोनों ही पर रह सकते थे। यह चौथी अवस्था थी। पाँचवीं अवस्था में उन जीव-जन्तुओं का आगमन हुआ जो पेट के बल रेंग सकते थे और जिनका उत्पादन अण्डों द्वारा होता था। ये इस समय के साँप, छिपकली, छुछुन्दर, कछुआ आदि जीवों के पूर्वज कहे जा सकते हैं। उनका आकार बहुत बड़ा होता था और कोई-कोई तो १०० फीट तक लम्बे होते थे। इसी काल में जमीन पर बहुत बड़े-बड़े जंगल निकल आये थे, पेड़-पौधों की भरमार हो गयी। कुछ

समय बाद उन पर मिट्टी और चट्टान का बोझ पड़ा और वे कोयले के रूप में बदल गये। आजकल पत्थर कोयला की जो खानें हैं वे प्राचीन काल के जंगल हैं। पेट के सहारे रेंगने वाले जीवों के बाद छठीं अवस्था में आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन पक्षियों के बाद सातवीं अवस्था में वे जीवधारी उत्पन्न हुए जो अण्डे के बदले गर्भ धारण करते और अपनी सन्तानों को दूध पिलाते थे। ऐसे जानवर कुत्ते, बिल्ली और खरगोश की जाति के होंगे। ये जीव घास या मास खाकर जीवन यापन करते थे। इस समय जमीन पर पर्याप्त घासें भी निकल आयी थीं।

सातवीं अवस्था के जीव विभिन्न प्रकार के थे और उनमें परिवर्तन होता रहा। अन्त में बन्दरों या बनमानुसों का जन्म हुआ। ये बन्दर और बनमानुस अर्द्ध मानव थे जो मनुष्यों के पूर्वज समझे जाते हैं। यह कोई १० लाख वर्ष पूर्व की बात रही होगी। इस सम्बन्ध में डार्विन साहब का सिद्धान्त विशेष रूप से प्रचलित और मान्य है। फिर भी यह सर्वमान्य और विवाद से परे नहीं है।

———

अध्याय ३

प्रगति का प्रभात—प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता

पूर्व पाषाण काल

यह देखा जा चुका है कि निम्न श्रेणी के जानवर ही करोड़ों वर्षों में कई परिवर्तनों से गुजरते हुए मनुष्य की श्रेणी में पहुँचे हैं। यह बुद्धि की विशेषता है जो मनुष्य को जानवरों से अलग करती रही है। लेकिन पृथ्वी के जीवन की तुलना में मनुष्य का जीवन बिलकुल नया है या यों कहा जाय कि मनुष्य के जन्म होने के समय तक पृथ्वी पुरानी हो चुकी थी। आदि मानव की बाह्य रूप-रेखा आधुनिक मनुष्य की तरह नहीं थी किन्तु शरीर का अधिकांश भाग आजकल के मनुष्य जैसा ही था। इंगलैंड में ससेक्स प्रदेश के अन्दर पिल्ट डाउन में, जर्मनी में हीडलबर्ग नामक स्थान में और जावा में ट्रीनिल स्थान में कुछ ऐसी चीजें प्राप्त हुई हैं जो आदि मानव की स्थिति की सूचक हैं। हीडलबर्ग में एक पुरानी खोपड़ी मिली है जो आदि मानव की खोपडी समझी जाती है। हीडल वर्ग श्रेणी के मानव जंगली थे और शिकार की खोज में भटकते फिरते थे। आखेट उनका प्रधान पेशा था और वे चकमक पत्थरों (फ्लींट) से छुरी तथा कुल्हाड़ी जैसे औजारों को बनाते थे जो बड़े ही भद्दे होते थे।

चित्र २—हीडलबर्ग मानव

इसके बाद चतुर्थ तुषार युग का प्रारम्भ हुआ। यूरोप में जर्मनी तक बर्फ के बड़े-बड़े टुकड़े चले आते थे। उस समय अभी भूमध्य या लाल सागर नहीं था। भूमध्य सागर के स्थान पर दो झीलें थीं। धीरे-धीरे तुषार युग का अन्त हुआ और मध्य एशिया तथा यूरोप से बर्फ नष्ट हो गये और आदमियों का प्रसार होने लगा। आज से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व पृथ्वी पर ऐसे मनुष्य का आगमन हुआ जो नीनडरथाल कहे जाते हैं क्योंकि उनके अवशेष जर्मनी की नीनडरथाल नामक घाटी में मिले हैं। ये लोग करीब २५ हजार वर्षों तक यूरोप में रहे।

पाषाण काल

प्राचीन पाषाण काल

नीनडर थाल श्रेणी के लोगों से प्राचीन पाषाण युग का आरम्भ होता है। ये लोग बन्दरों से मिलते-जुलते थे किन्तु उनकी सूझ-बूझ की शक्ति बन्दरों से अधिक थी। इन लोगों की आकृति विचित्र थी। ये लोग झुक जाते थे किन्तु सीधे खड़े नहीं होते थे। ये लोग खुले स्थानों और गुफाओं में रहते थे। ये खास कर नदियों के किनारे ही अपना डेरा डालते थे, इनके पास पानी लाने के लिये कोई बर्तन नहीं था। इनके भोजन मछली, मांस और जंगली फल-मूल थे। ये लकड़ी और पत्थर के हथियारों से छोटे-छोटे पशुओं का शिकार कर मांस प्राप्त करते थे और चमड़ों को सुखाकर अपना शरीर ढकते थे। ये संगठित जीवन के महत्व को मोटा-मोटी समझने लगे थे और छोटे-छोटे गिरोहों में रहते थे। हरेक गिरोह का एक नेता होता था जो सबों में चतुर और शक्तिशाली समझा जाता था। उसके कमजोर होते ही उसे हटा कर या मार कर अन्य मजबूत व्यक्ति उस पद पर आरूढ़ हो जाता था। उन्हें आग का प्रयोग मालूम था क्योंकि इससे वे जंगली जानवरों को भगाने में सफल होते थे। जंगलों में कभी-कभी पत्थरों की अन्य किसी चीज की रगड़ से आप ही आप आग उत्पन्न हो जाती थी। बच्चे और औरतें उसमें सूखी लकड़ियों को डालकर उसे कायम रखने की कोशिश करते थे। कुछ समय बाद उन्हें मालूम हो गया कि चकमक पत्थरों के आपस में संघर्ष से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। ये लोग मृतकों के साथ खाने की चीजें और औजार रख देते थे क्योंकि मरने के बाद भी इन चीजों की आवश्यकता समझी जाती थी।
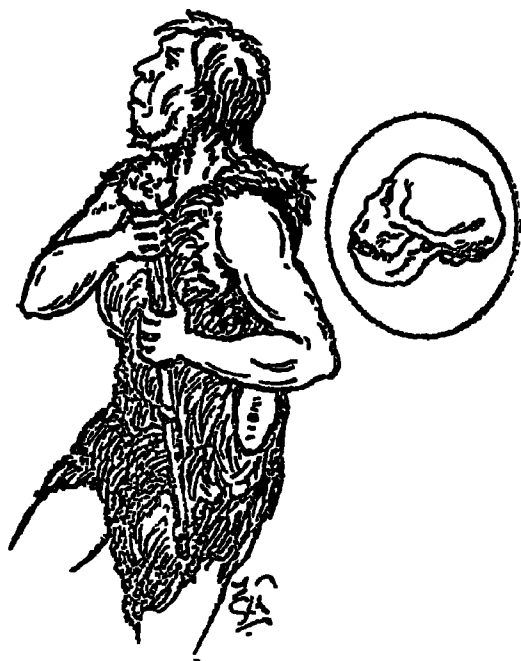
चित्र ३—नीनडर थाल मानव

नीनडर थाल प्राचीन पाषाण युग के पूर्वार्द्ध के आदमी थे। इसके उत्तरार्द्ध में वे लोग फले फूले जिन्हें क्रोमेग्नान, ग्रिमाल्डी और एजिलियन कहते हैं क्योंकि उनके अवशिष्ठ चिह्न हड्डियाँ अस्त्र-शस्त्र आदि-क्रोमेग्नान, ग्रिमाल्डी तथा मासदएजिल नामक स्थानों

की पर्वत-कन्दराओं में मिले हैं। ये सभी स्थान फ्रांस या स्पेन में स्थित हैं। आदि मानव के अवशेष चिह्न सबसे अधिक स्पेन में ही प्राप्त हुए हैं। ये लोग नीनडर थाल से अधिक मानवी और सभ्य थे। वे उच्च श्रेणी के जंगली कहे जा सकते हैं। ये लोग अर्द्ध-मानवों को गुफाओं से खदेड़ कर उन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिये थे। लेकिन ये अधिकतर खुले स्थानों में ही रहते थे और पशुओं के चमड़े से अपना शरीर ढँकते थे। कभी-कभी रंगीन घोंघों की माला बनाकर गले में पहनते थे। वे पत्थरों और हड्डियों पर खुदाई करते और इनकी मूर्त्तियाँ बनाते थे तथा कुछ साधारण दर्जे के यन्त्रों को भी बनाना जानते थे। ये हड्डियों की सूई बनाकर चमड़े को सीने का काम लेते थे। गुफाओं की दीवारों और चट्टानों पर विविध जीव-जन्तुओं के चित्र बनाते थे और उन्हें भिन्न-भिन्न रंगों से रंगते थे। घोड़े, साँड, हरिण, सुअर आदि जन्तुओं के चित्र मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे अच्छे चित्रकार और कलाकार भी थे। सम्भवतः वे रंगों का उपयोग अपने शरीर को सँवारने में भी करते होंगे। गुफाओं के भीतर चित्र मिलते हैं जिससे मालूम होता है कि वे कोई चर्बी का प्रयोग कर प्रकाश भी अवश्य ही जलाते होंगे। ये बर्छे या पत्थर के टुकड़े को तेज कर शिकार करते थे और पहले के जैसा अपने मृतकों को गाड़ देते थे।

तुलनात्मक दृष्टि से क्रोमेग्नान ही अधिक आगे बढ़े थे जिनमें औरीग्नेसियन, सोलु-ट्रीयन, मैगडेलेनियन प्रसिद्ध हैं। निवास के अनुसार इनकी कई श्रेणियाँ थीं। मैगडेले-नियन श्रेणी के क्रोमेग्नान सबसे अच्छे थे। कला के क्षेत्रों में सबसे प्रवीण ये ही लोग थे और उत्तरी स्पेन में अलतामिरा की गुफा में इनके द्वारा निर्मित सुन्दर चित्र के अवशेष अभी तक प्राप्त हैं। एजिलियन लोग धनुष बाण का प्रयोग करते थे और विभिन्न संकेतों के सहारे अपने भावों को प्रकट करते थे।

लेकिन इन लोगों में भी अभी बहुत कुछ कमी थी। पहले ही कहा गया है कि वे थे जंगली, भले ही उच्च श्रेणी के क्यों न हों। सभ्यता के दो बड़े चिह्नों—कृषि-कर्म और पशु-पालन से ये अभी तक अनभिज्ञ थे, अन्न उपजाने और मकान बनाने के तरीकों से पूरे अपरिचित थे। वे बर्तन या रसोई बनाना नहीं जानते थे और मांस-मछलियों को कच्चे या आग पर सेंक कर खा लिया करते थे। ये घोड़े का मांस विशेष पसन्द करते थे।

इन लोगों से बहुत कुछ मिलते-जुलते मनुष्य आस्ट्रेलिया के दक्षिण तस्मानियाँ द्वीप में पाये गये हैं। १७वीं सदी के पूर्वार्द्ध में डचों ने इस द्वीप की खोज की। यहाँ के लोग कुछ भौगोलिक स्थिति के कारण दुनियाँ के और मनुष्यों से अलग रह गये जिससे इनका बौद्धिक विकास नहीं हो पाया। अतः ये लोग प्राचीन पाषाण काल के लोगों जैसा आधुनिक काल में भी रह गये हैं।

यहीं पर और एक बात की चर्चा कर देनी आवश्यक प्रतीत होती है। पहले ही बताया गया है कि उस समय भू-मध्यसागर नहीं था और वहाँ दो झीलें थीं। यूरोप और

अफ्रीका मिले हुये थे। किन्तु प्राचीन पाषाण काल के ही अन्तर्गत कभी एक बड़ी बाढ़ आयी जिससे भू-मध्यसागर की सृष्टि हुई और यूरोप तथा अफ्रीका अलग हो गये। शायद इसी बाढ़ की चर्चा कुछ धर्म ग्रन्थों में भी की गई है।

नवीन पाषाण काल

अब एक नये युग का उदय हुआ। जलवायु में परिवर्तन होता रहा। बर्फ के पहाड़ अब उत्तरी सागर तक ही सीमित रहने लगे और मध्य एशिया तथा यूरोप में बहुत से घने जंगल उग आये। अब एक नये मानव सम्प्रदाय का पदार्पण हुआ। ये लोग पत्थर युग ही के थे क्योंकि ये भी उसी के हथियार बनाते थे लेकिन कई बातों में ये पहले के लोगों से बढ़े-चढ़े थे। इसलिये वे नवीन पाषाण काल के आदमी कहलाने लगे। ये लोग एशिया और अफ्रीका की ओर से आये। अतः यदि यूरोप में इनका काल लगभग १२ हजार वर्ष पूर्व था तो एशिया और अफ्रीका में इससे भी कुछ पहले रहा होगा। इससे सिद्ध होता है कि दुनिया के विभिन्न भागों में पाषाण युगीन सभ्यता भिन्न-भिन्न कालों में विकसित हुई। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सब भागों में विकास का क्रम भी विभिन्न रहा होगा।

चित्र ४—पाषाण युग के हथियार

प्रगति के मार्ग में उन्होंने बड़ी उन्नति की थी। ये खुरदरे पत्थर के बदले चिकने पत्थर के हथियार

बनाने लगे और उनपर अच्छी पालिश दी जाने लगी। पशु चर्म तो अभी भी पहनावा था ही किन्तु ये अब सन के मोटे कपड़े भी बुनने लगे थे। ये लोग छोटी-छोटी टोकरियाँ और बर्तन भी बनाने लगे और सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि ये कृषि और पशुपालन के कार्य करने लगे। कृषि-प्रथा के प्रचलन होने से बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। काम कई भागों में बँट गया जिससे श्रम-विभाजन और कार्य-निपुणता के सिद्धान्त की नींव पड़ी। अब लोगों का जीवन व्यवस्थित होने लगा। आराम से भोजन मिलने लगा, रात-दिन जानवरों के पीछे दौड़ने की आवश्यकता न रही। अब सुख से सोने और विचारने के लिये अधिक शान्ति तथा अवकाश मिलने लगा। नई-नई चीजें और नये-नये मार्ग का अनुसन्धान होने लगा। घोड़े, गाय, कुत्ता, भेड़, बकरी, आदि जैसे जानवर पाले जाने लगे। दूध का उपयोग होने लगा और लोग रसोई पकाने लगे। इस तरह ग्रामों का विकास हुआ। जहाँ व्यापार और उद्योग-धन्धों की सुविधा थी वहाँ के ग्राम नगर में परिवर्तित हो गये। उस समय अभी कोई सिक्के तो नहीं थे, लेकिन वस्तुओं का ही आदान-प्रदान किया जाता था। समाज में धनी, गरीब व्यक्ति मिलने लगे। धनियों के लाभार्थ अच्छी-अच्छी चीजें बनने लगीं जिनसे ललित कला का विकास होना शुरू हुआ। धन-दौलत की रक्षा के लिये कुछ व्यवस्था की गई। कितने लोग झीलों के बीच छोटे-छोटे घर या झोपड़ी बना कर रहने लगे। ये झील के रहने वाले लोग अधिक सुरक्षित थे क्योंकि कोई जंगली जानवर या दूसरा आदमी सहज ही उस पर आक्रमण नहीं कर सकता था। ये लोग सोने का आभूषण भी व्यवहार में लाते थे। ये लोग अभी भी मांस खाते रहे किन्तु घोड़े और खरगोश का मांस खाना छोड़ दिये। ये लोग भी चित्र तो बनाते थे लेकिन किसी महत्व का नहीं और ये उत्तर प्राचीन-पाषाणकालीन लोगों के जैसे कुशल चित्रकार नहीं थे। फिर भी ये उन्नति तो करते ही रहे और इन्हीं को आधुनिक मानव सम्प्रदाय का असल पूर्वज कहा जाता है।
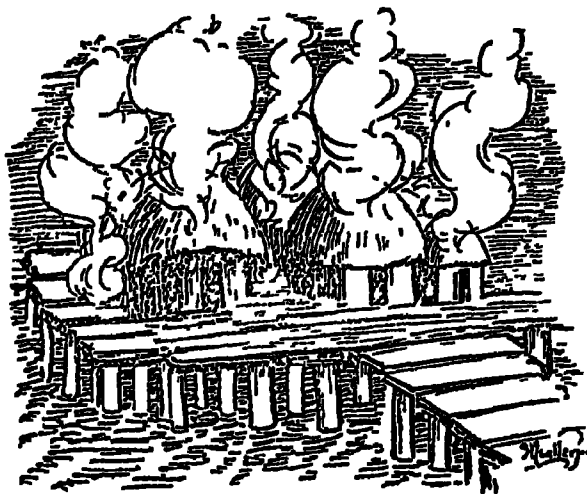
चित्र ५—नवीन पाषाण युगीन झील का एक ग्राम

धातु युग

काल क्रम से लोगों को विभिन्न धातुओं का ज्ञान प्राप्त हुआ। पत्थरों में लचीलापन

नहीं होता या और इससे निर्मित हथियारों में—तीव्र धार नहीं निकाली जा सकती थी। अतः मनुष्यों ने कोमल तथा लचीले धातुओं—सोना, चाँदी, ताँबा, टीन और लोहा की जानकारी प्राप्त की। सर्वप्रथम सुवर्ण काम में लाया गया और नवीन पाषाण युग के लोग इसके आभूषणों को पहनने लगे थे। तत्पश्चात् चाँदी और ताँबे व्यवहार में आये। आगे चलकर काँसा या जस्ता का उपयोग होने लगा। यह एक धातु है जो ताँबे तथा राँगे के योग से बनता है और यह मिश्रित उत्पादन बड़ा कड़ा होता है। इसके बनी
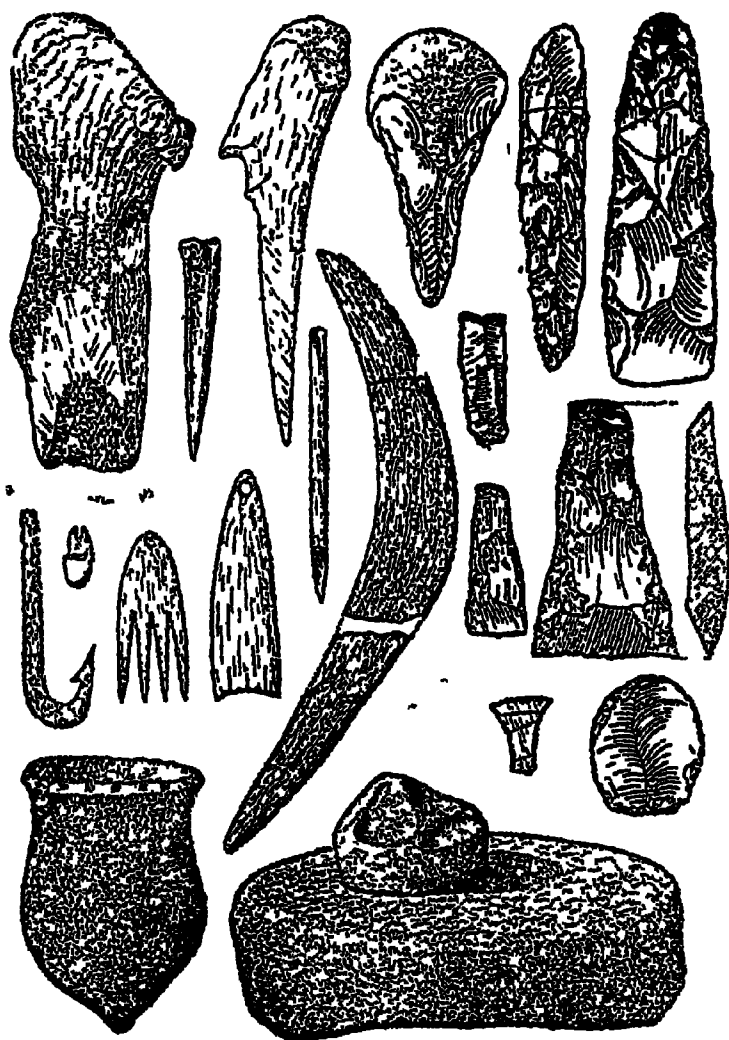
चित्र ६—काँसे के युग के हथियार

टाँकियों से पत्थर की काट-छाँट होने लगी और घरों तथा मन्दिरों में चट्टानों का प्रयोग होने लगा। लगभग ५ हजार वर्ष पूर्व लोहे की उपयोगिता भी मालूम हो गई। इसके बने औजार और हथियार मजबूत तथा सुन्दर होते थे और इनकी धार भी खूब तेज होती थी। असीरिया के सैनिक सर्वप्रथम लोहे के हथियारों से सुसम्पन्न थे और उसी

काल से युद्ध की भयंकरता में वृद्धि हो चली। लेकिन धातुओं के प्रयोग के साथ इतिहास काल का सम्बन्ध हो जाता है।

आदि मानवों का धर्म

आदि मानवों में भी धार्मिक धारणायें पनप रही थीं। वे लोग बहुत डरते थे और प्राकृतिक चीजों—सूर्य, पहाड़, नदी, समुद्र आदि को देवता मानते थे। जब युद्ध में हार होती, या बीमारी होती या बाढ़ जैसी आफत आती तो वे लोग समझते थे कि उनके देवता क्रुद्ध हैं। अतः उन्हें खुश करने के लिये वे नर-नारियों का ही बलिदान कर देते थे। वे अपने दल के नेता को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे और उनसे भी डरते थे। अतः उनके मरने पर वे उनके साथ बहुत सी चीजों को भी गाड़ देते थे या उनकी चीजों को स्मृतिस्वरूप अलग रख देते थे .जिन्हें कोई छू नहीं सकता था। ऐसे कृत्यों से आत्माओं की अमरता में विश्वास का आभास मिलता है। इस तरह पुराने युग में भय और स्वार्थ के बीच धर्म का उदय हुआ।

अध्याय ४

नील नदी की घाटी की सभ्यता—मिश्र

भूमिका

अफ्रीका का उत्तरी पूर्वी भाग मिश्र कहलाता है जो स्वेज नहर के निर्माण के पहले पश्चिमी एशिया से मिला हुआ था। नदी कालीन सभ्यताओं में मिश्र की सभ्यता मेसोपोटामिया की सभ्यता के समकालीन थी। लेकिन मिश्र की सभ्यता की एक बड़ी विशेषता थी जो अन्य सभ्यताओं में नहीं पायी जाती। उसकी सभ्यता निरंतर गति से दीर्घकाल तक विकसित होती रही है। प्रो० फ्लीन्डर्स पेट्री के मतानुसार ईसा से १०,००० वर्ष पहले इसका प्रारम्भ हो गया था। किसी सभ्यता का विकास दो चीजों पर निर्भर करता है—जातीय गुण और भौगोलिक स्थिति। मिश्र को दोनों ही चीजें प्राप्त थीं जिनके कारण वहाँ उच्च श्रेणी की सभ्यता का विकास हो सका।
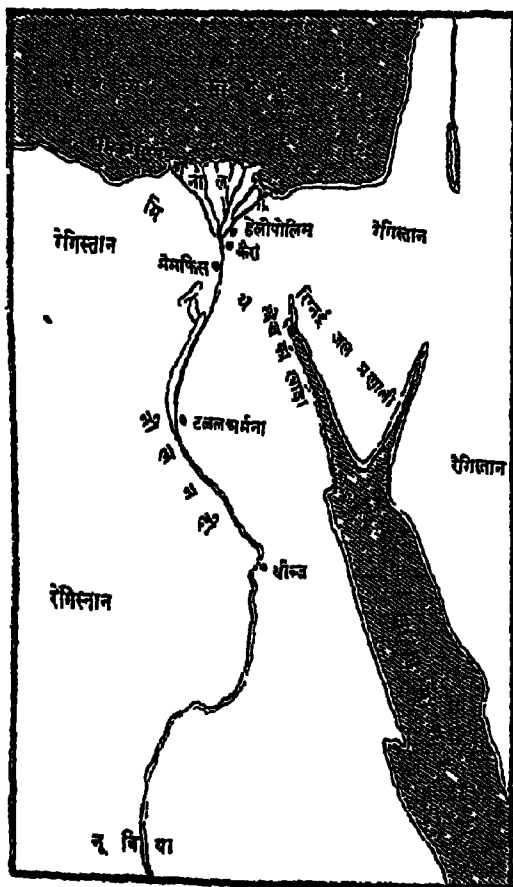
चित्र ७—मिश्र और नील नदी की घाटी

मिश्रवाले काकेशियन जाति की हेमेटिक शाखा के थे। वे अनुकरणशील, सहयोगी, चतुर और बड़े ही परिश्रमी होते थे। मृत्यु सम्बन्धी विषयों में उनकी बड़ी अभिरुचि थी। इसी भावना के फलस्वरूप मिश्री सभ्यता में कुछ अन्य प्रमुख तत्त्वों का प्रादुर्भाव हो सका। सम्राटों के स्मारक बनाये जाते थे जिनसे प्रस्तर कला, वास्तु-कला तथा भवन-निर्माण कला और गणित शास्त्र के विकास में मदद मिली। शवों को सजाने की भावना ने ललित तथा चित्र कलाओं को प्रोत्साहित किया और अन्त्येष्टि संस्कारों में गाने बजाने की परम्परा थी जिससे संगीत कला का विकास हुआ। शव-संस्कार

के नियमों को लिखने की भी प्रणाली थी जिससे लेखन कला की वृद्धि में सहायता प्राप्त हुई।

मिश्र की भौगोलिक स्थिति भी उनके अनुकूल ही थी। वहाँ नील नाम की नदी उत्तर की ओर बहती है। इसकी दो शाखायें हैं जो पूर्वी अबीसीनिया के पहाड़ से और पश्चिमी न्यान्जा के झील से निकलती हैं और दोनों खार्तुम में मिल जाती हैं। इसी नदी के कारण मिश्र की उन्नति सम्भव हो सकी। जीवन की तीन आवश्यक वस्तुएँ—मिट्टी, जल, और अन्न मिलने लगीं और लोग वहाँ बस गये। कृषि की उन्नति होने लगी। इसकी उपजाऊ भूमि में विविध प्रकार के अन्न, फल, फूल तथा साग-सब्जी उत्पन्न होने लगे। जूट के समान वहाँ एक पौधा होता था जिससे कपड़ा और पेपीरस नाम के पौधे से कागज बनाया जाने लगा। वहाँ के लोग बाहरी आक्रमण के भय से भी मुक्त थे क्योंकि मिश्र के पश्चिम में मरुभूमि, पूरब में लाल सागर, उत्तर में भूमध्य सागर, और दक्खिन में असभ्य लोगों का वास था। इस तरह मिश्र निवासी अबाध गति से अपनी उन्नति करते रहे। लेकिन उनकी उन्नति के मूल में नील नदी ही थी। मिश्र में हर साल बाढ़ आती थी जिससे खेतों के मेड़ नष्ट हो जाते थे। फिर मेड़ों को नाप तौलकर निर्माण करना पड़ता था। इस तरह ज्यामिति शास्त्र का विकास हुआ।

राजनीतिक दृष्टि से भी नील नदी ने मिश्र को प्रभावित किया। इसकी बाढ़ों पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये सुसगठित शक्ति की भी आवश्यकता होती थी। इससे केन्द्रीय शक्ति और साम्राज्य विकास में सहायता मिली। इसके सिवा नील ने मिश्र को दो भागों में विभाजित कर दिया था जिनका विकास एक दूसरे से भिन्न रहा है। ऊपरी मिश्र विश्व के अन्य भागों से पृथक् रहा और निचले मिश्र का भूमध्य सागर तथा एशिया के अन्य प्रदेशों से सम्बन्ध बना रहा। अतएव दोनों भागों की उन्नति का मार्ग विभिन्न हो गया। इन्हीं सभी लाभों के कारण ठीक ही मिश्र को नील नदी का दान या भेंट कहा गया है। मिश्री इस परोपकार को सदा याद रखते थे और भारत के हिन्दुओं के जैसा नील नदी को देवता मानकर इसकी आराधना किया करते थे।

राजनीतिक जीवन

मिश्र के राजनीतिक जीवन काल को ३ भागों में बाँटा जाता है, (क) पिरामिड युग, (ख) सामन्तयुग, (ग) साम्राज्यवादी युग। तीनों युगों की अपनी-अपनी खास विशेषतायें हैं। प्रत्येक युग का आदर्श भिन्न-भिन्न था और राजधानी भी पृथक् थी। प्रथम युग में मेम्फिस, द्वितीय युग में थीब्स और तृतीय युग में अमना राजधानी थी। हरेक के अन्त में अराजकता फैली थी किन्तु दो बार पतन के पश्चात् अद्भुत उत्थान भी हुआ था।

पिरामिड युग (३४०००-२५० ई० पू०)

इसे प्राचीन साम्राज्य का युग भी कहा जाता है जो लगभग ६०० वर्षों तक कायम

रहा। प्राचीन समय से लेकर ईसा से ३३२ वर्ष पूर्व सिकन्दर के आक्रमण तक मिश्र में ३१ वंशों ने राज्य किया। वहाँ पहले दो नगर-राज्य थे—नील डेल्टा या निचला मिश्र और दक्खिन का भाग या ऊपरी मिश्र। ३४०० वर्ष ई० पूर्व में या। इससे भी कुछ पहले मेन्स ने इन दोनों छोटे राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली राज्य कायम किया और डेल्टा के भूभाग में मेम्फिस नगर में राजधानी स्थापित की। इस तरह वह प्रथम सम्राट था जिसने प्रथम राजवंश की नींव दी। वह अपने को फरेओ कहता था इसी पदवी से वहाँ के शासक प्रसिद्ध हुए। उसने राज्य-विस्तार करने के लिये उत्तर में फिलिस्तीन, फिनीशिया और सीरिया पर हमला किया। यह युग पिरामिडों के निर्माण के लिये प्रसिद्ध है जिसके नाम पर इस युग का नामकारण ही हुआ है। इस समय का एक और दूसरा स्मारक चिह्न था जिसे स्फिंक्स कहते हैं। पिरामिड और स्फिंक्स ये दोनों हैं क्या चीज अब इसे भी समझ लेना चाहिये।

प्राचीन मिश्रियों का विश्वास था कि मरने के बाद शरीर में आत्मा पुनः आ जाती है। अतः वे सोचते थे कि यदि शरीर ही सड़-गल कर नष्ट हो जायगा तो फिर आत्मा रहेगी कहाँ? इसलिये वे मृतक शरीर को बराबर कायम रखना चाहते थे। इसके लिये वे किसी विशेष प्रकार का तेल और मसाला उपयोग करते थे। ऐसे शव को ममी कहते हैं जो मिश्र में आज भी वर्तमान हैं। ऐसे ही पिरामिड पत्थर का बनाया हुआ कब्र है। ये पत्थर बड़े ही लम्बे चौड़े होते थे जिसके बीच में कुछ गहराई होती थी। उसी गहरे भाग में तत्कालीन सम्राट का शव रख दिया जाता था। पिरामिडों की संख्या ७० है जो मेम्फिस (काहिरा) से कुछ पूरब हटकर मरुस्थल भाग में बने हुए हैं। ये लगभग ६० मील के क्षेत्र में फैले हुए हैं। सबसे सुन्दर और विशाल गिजे का चौथा पिरामिड है जिसे चौथे राजवंश के सम्राट खूफू (चिओप्स) ने ३००० वर्ष ई० पूर्व निर्माण कराया। इसमें २३ लाख पत्थर लगे हैं जो ६० लाख टन वजन में हैं। यह १३ एकड़ भूमि में स्थित है। इसकी ऊँचाई लगभग ४८४ फीट और लम्बाई ७५५ फीट थी। इसके बनाने में २० वर्षों तक एक लाख मजदूर संलग्न रहे थे। 'यह विशाल पत्थर का टुकड़ा कहाँ से और कैसे लाया गया किसी की समझ में नहीं आता।

स्फिंक्स भी ऐसी ही एक रहस्यपूर्ण चीज है। मिश्री घड़ियाल और सिंह जैसे कई जानवरों को उच्च ख्याल से देखते थे और उनकी मूर्तियाँ बनाते थे लेकिन उनमें मनुष्य का सिर दिखा देते थे। इस तरह की एक मूर्ति गिजे में विशाल पिरामिड के निकट चट्टान पर निर्मित की गई है। एक सोया हुआ सिंह है जिसका सिर मनुष्य का है। यह लगभग ५० गज लम्बा और २० गज ऊँचा है। यह खूफू के भाई खफ्रे (खेफरन) के समय में बनाया गया है। यह सबसे बड़ा मानव मुख है। समूचे मुख की

चित्र ८—गिजे का पिरामिड तथा स्फिंक्स

लम्बाई ११ गज और चौड़ाई ४½ गज है, केवल नाक की लम्बाई लगभग २ ग
है।

ये पिरामिड और स्फिंक्स मिश्र की सर्वोत्तम कला और विज्ञान के द्योतक हैं और उनके बनाने में बहुत धन-दौलत खर्च होता था। पिरामिडों के निर्माण में तो धन पानी के जैसा बहाया गया; खूफू और खफ्रे पिरामिडो के जरिये अपने विपुल धन-वैभव का भी प्रदर्शन करना चाहते थे। किन्तु परिणाम हुआ बुरा। देश की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी और सम्राटों की अवनति होने लगी।

सामन्त युग (२४००-१८०० ई० पू०)

यह मध्यवर्ती साम्राज्य का युग भी कहा जाता है जो लगभग ७०० वर्षों तक रहा। पिरामिड युग के सम्राटों के पतन के बाद देश में सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई। सामन्तों और सरदारों की वृद्धि होने लगी और सम्राट् का प्रभाव साधारण रह गया। २१६० ई० पू० में एक सामान्त ने थीब्स में अपनी राजधानी कायम कर ११वां वंश स्थापित किया। इस काल में कुछ प्रगति तो हुई किन्तु जन साधारण की दशा में कोई खास सुधार नहीं हुआ। शासन भी सुदृढ़ नहीं था। अतः हिक्सस नाम के एक सेमेटिक राजा ने मिश्र को जीत कर १६वां वंश स्थापित किया। मिश्रियों के हारने का यह कारण था कि उनकी सेना में पदचर थे जो भाले और धनुष-बाण से लड़ते थे किन्तु सेमेटिक सैनिकों के पास रथ, घोड़े और तलवार थे। इस तरह पहले-पहल मिश्र में एक विदेशी शासन स्थापित हुआ। लेकिन यह बहुत वर्षों तक न चल सका। करीब दो सदियों के बाद स्वतंत्रता संग्राम छिड़ गया। दक्खिन में थीब्स नगर में आमोसिक नाम के सामन्त

ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और मिश्र देश स्वतंत्र हो गया। लेकिन सेमेटिक शासन के दो परिणाम हुए। मिश्र निवासियों की युद्ध-प्रथा में परिवर्तन हो गया। वे अब रथ और घोड़े का उपयोग करने लगे और इससे उत्साहित होकर अपने राज्य की सीमा की वृद्धि चाहने लगे। अस्त्र-शस्त्र बढ़ाये जाने लगे।

साम्राज्यवादी युग (१६६०-१००० ई० पू०)

इस तरह मिश्र में साम्राज्यवादी युग का सूत्रपात हुआ जो प्राचीन मिश्र का स्वर्ण युग था। यह नवीन साम्राज्य का युग भी कहा जाता है जो लगभग ६०० वर्षों तक कायम रहा।

आमोसिस ने १८वें वंश को स्थापित किया। १८वां और १९वां वंश बहुत ही प्रसिद्ध हैं और इन वंशों के राज्य काल में देश ने खूब ही उन्नति की। इस युग में हाट्शेपशुट, थट्मोस तृतीय, आमन होटप तृतीय, आमन होटप चतुर्थ (अखनाटन) और रैमीसेस द्वितीय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें अन्तिम राजा को छोड़कर सभी १८ वें वंश के राजा थे।

हाट्शेपशुट थुटमोस तृतीय की पत्नी थी और अपने पति के साथ इसने २२ वर्षों (१५०१-१४४६ ई० पू०) तक राज्य किया। वह इतिहास में प्रथम महारानी के नाम से विख्यात है। वह शान्तिप्रिय औरत थी और अपने देश को समृद्धिशाली बनाना चाहती थी। उसके प्रोत्साहन से कई मन्दिर बनवाये गये। वह पुरुषों के जैसा व्यवहार करती और पोशाक पहनती थी।

किन्तु उसका पति थुटमोस युद्धप्रिय व्यक्ति था। वह स्वयं एक महान् सैनिक था। उसने स्वतंत्र रूप से लगभग ३४ वर्षों (१४७९-१४४७ ई० पू०) तक शासन किया। उसने सूडान, फिलस्तीन, सीरिया और फिनीशिया को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। उसने एक सुदृढ जहाजी बेड़ा की भी स्थापना की जिससे एशिया के द्वीपों को जीतने में वह समर्थ हुआ। उसकी इन विजयों का वर्णन कारनाक के मन्दिर की दीवालों पर मिलता है और उसे इस सफलता के कारण प्राचीन मिश्र के नेपोलियन की पदवी से विभूषित किया जाता है। वह एक महान् विजेता होते हुए कला तथा सौन्दर्य का भी प्रेमी था। उसकी राजधानी, थीब्स संस्कृति का प्रधान केन्द्र भी बन गई थी।

आमन होटप का शासन काल (१४११-१३७५ ई० पू०) मिश्र के इतिहास का स्वर्ण काल समझा जाता है। इस समय देश उन्नति की शिखर पर पहुँच गया। देश धन-दौलत से परिपूर्ण था और राजा वैभवशाली कहलाता था। अपने अकूत धन-वैभव के कारण वह "रजत-राजा" की उपाधि से गौरवान्वित किया गया है। मन्दिरों में सोने, हीरे, जवाहर के ढेर लगे थे। तत्कालीन सभ्य संसार मिश्र की मित्रता के लिये उत्सुक था और आमन होटप के पास उपहार भेजता था। उसके जंगी बेड़े

भू-मध्यसागर में चक्कर काटते थे तो व्यापारी बेड़े नोसस आदि जगहों से सामानों को लाकर मन्दिरों और महलों को भरते थे। ससार के प्रथम व्यक्ति के रूप में सर्वत्र उसकी तूती बोल रही थी। अमर्ना में करीब ३०० पत्र मिले हैं जिनसे इस काल की विशेष बातें मालूम होती हैं। ये पत्र अन्तर्राष्ट्रीय पत्र-व्यवहार के सबसे पुराने नमूने हैं।

आमन होटप चतुर्थ (१३७५-१३५८ ई० पू०)

आमन होटप मिश्र में ही नहीं प्राचीन दुनिया मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसने १८ वर्षों तक राज्य किया और ३० वर्ष की उम्र में ही काल कवलित हो गया। लेकिन इतने ही समय में उसने ऐसा कार्य किया जिसने उसके नाम को अमर बना दिया। वह मिश्र का आदर्शवादी राजा और धार्मिक सुधारक था। उसमें कई बड़े-बड़े गुण थे। वह मिश्र का पहला फेरोह था जो अपने को देवता के बदले एक मानव के रूप में देखता था। वह अपनी सन्तानों से खूब प्रेम करता था और अपनी प्रजा को भी प्यार करता था। वह शान्ति का समर्थक और हिंसा तथा युद्ध का विरोधी था। वह समाज सुधारक और क्रान्तिकारी था। कुछ दृष्टि से यदि उसे प्राचीन मिश्र का अशोक और मुहम्मद कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उस समय मिश्र में एक नहीं कई देवी-देवताओं की पूजा होती थी। प्रत्येक ग्राम और नगर का अपना-अपना अलग देवता था। अनुमान किया गया है कि उनके देवी-देवताओं की सख्या २००० से अधिक थी जो प्रेम और दया के नहीं बल्कि क्रोध और द्वेष के प्रतीक समझे जाते थे। अतः भय और स्वार्थ के कारण उनकी उपासना की जाती थी। मिश्रवासी अपने देवताओं की मूर्त्तियाँ बनवाया करते थे। उनके देवताओं में प्रमुख थे 'रा' सूर्य देव और 'ओसिरिस' नर देव। ओशिरिस मनुष्य से देवता के रूप में आ गया था और वह मृतकों का न्यायपति और दूसरी दुनियाँ का स्वामी था। इसिस उसकी पत्नी और होरस उसका पुत्र था। इन देवताओं को देश के अधिकांश लोग मानते थे। आमन होटप ने इन सभी देवी-देवताओं के बदले एक ही देवता—सूर्य की पूजा प्रचलित की। सूर्य मानव सम्प्रदाय के देवता थे और उनका प्रतीक एटन था। एटन प्रेम, शान्ति और दया का प्रतीक था जो प्राणी मात्र का कल्याण चाहता था। वह ऐसा लोभी नहीं था कि स्वादिष्ट खाद्यान्नों और मनुष्य या पशु के रक्त को चाहता। वह प्रार्थना और साधारण फल-फूल से

चित्र १—अखनातन

ही खुश रहता था। अतः सर्वसाधारण की उसके पास पहुँच हो सकती थी। शाम सवेरे, अस्त और उदय के समय उसकी पूजा हो सकती थी लेकिन उसकी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती थी, क्योंकि उसका कोई आकार-प्रकार नहीं था। वह निर्गुण और निराकार था। अतः पुरोहितों के लिये कोई विशेष स्थान नहीं था। पुराने वातावरण से छुटकारा पाने के लिये उसने अमर्ना में नई राजधानी बनाई। अमर्ना का मतलब होता था—सूर्य का आकाश। उसने अपने देवता की प्रशंसा में एक बड़ी ही रोचक एवं सरस कविता बनाई थी जो अभी भी वर्तमान है। जब हिट्टियों और हिब्रूओं ने क्रमशः सीरिया और फिलस्तीन पर आक्रमण किया तो आमन होटप ने उनका सामना करने से अस्वीकार कर दिया और इन प्रदेशों को अपने साम्राज्य से निकल जाने दिया। वह सर्वत्र एटन को ही देखता था और अपने नाम में भी एटन जोड़कर अखनाटन कर लिया जिसका अर्थ सन्तुष्ट एटन होता है। इस तरह वह विश्व के इतिहास में प्रथम राजा था जिसने भौतिक उन्नति की उपेक्षा की, व्यक्ति के नैतिक स्तर को उन्नत करने की चेष्टा की, मूर्ति पूजा का खंडन और एक सर्वव्यापक ईश्वर का प्रचार किया। वह दुनियाँ के इतिहास में एकेश्वरवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रथम महान् समर्थक था।

किन्तु उसके विचार समय से बहुत आगे थे, समाज में पुरोहितों का बोलबाला था, जनता उसके साथ नहीं थी। उसने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये कोई संघ या सम्प्रदाय कायम नहीं किया। अल्पकाल में ही वह संसार से चल बसा। इन सभी कारणों से उसके मरने के बाद शीघ्र ही पुरानी स्थिति पुनः स्थापित हो गई।

इसके बाद १९वें वंश के रेमीसस द्वितीय ने अपने ६७ वर्ष के शासन काल में खोये हुए गौरव को फिर से प्राप्त कर लिया। उसने अनेक मन्दिर और महल बनवाये। नील नदी से लाल सागर तक एक नहर का निर्माण हुआ।

मिश्र का पतन

किन्तु अब देश पतनोन्मुख हो गया। इसके कई कारण थे। देश की शासन प्रणाली एक विशाल साम्राज्य के उपयुक्त नहीं थी। पारस्परिक द्वेष तथा संघर्ष से आन्तरिक दुर्बलता उत्पन्न होने लगी। राजाओं की कमजोरी के साथ-साथ पुरोहितों की शक्ति में वृद्धि हो रही थी। इस क्षति की पूर्ति करने के लिये शासकों को जनता की सहानुभूति भी नहीं प्राप्त थी क्योंकि साम्राज्यवादी नीति के कारण वह असन्तुष्ट थी। २६वें वंश के समय देश का कुछ उत्थान हुआ। इस काल में मिश्र में विदेशियों को रहने की आज्ञा मिल गई थी। अतः उनके द्वारा मिश्री सभ्यता का खूब प्रचार हुआ। लेकिन इस बीच देशी सेनाओं में विदेशियों का प्रवेश होने लगा था। इससे राजाओं की कमजोरी प्रत्यक्ष हो गई। अतः बाहरी आक्रमण के लिये प्रोत्साहन और अवसर मिलने लगा। ३१वां वंश अन्तिम वंश था जिसके शासक बड़े ही अयोग्य थे। इसके पहले असीरिया
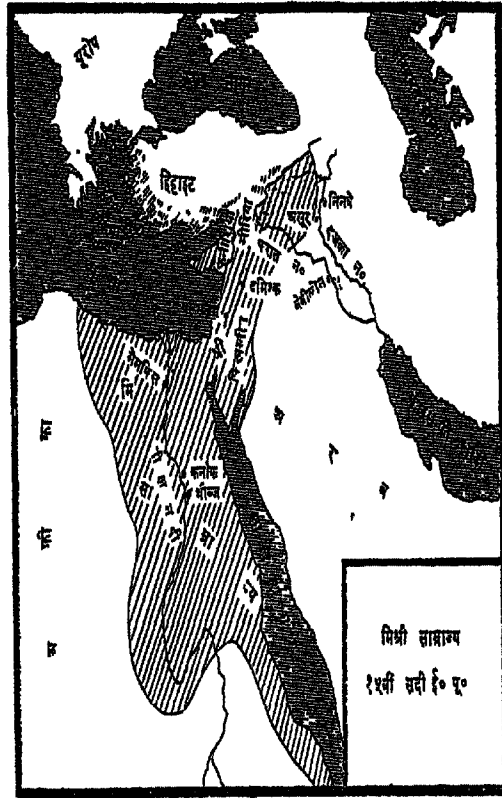
चित्र १०

और फ़ारस के राजाओं ने मिस्र पर आक्रमण कर अपने अधिकार में कर लिया था। ३३२ ई० पू० में महान् सिकन्दर ने ३१वें वंश के राज्य का अन्त कर मिस्र को अपने साम्राज्य में मिला लिया। मिस्रवासी लकीर के फ़कीर बने थे और वे मृत्यु तथा भविष्य के विषय में अधिक सोचते थे। उन्हे लोहे का प्रयोग नहीं मालूम था। उनका राज्य काँसे के युग का अन्तिम राज्य था। किन्तु उसके दुश्मनों को लोहे का प्रयोग मालूम था जिससे वे युद्ध कला में मिस्रवासियों से अधिक कुशल थे। अतः उन्हें आक्रमण-कारियों के सामने आत्म-समर्पण करने के सिवा अन्य कोई चारा नहीं रह जाता था।

३३२ ई० पू० से मार्च १९२२ ई० तक यह देश विदेशियों—ग्रीक, रोमन, अरब, तुर्क और ब्रिटिश के चंगुल में बारी-बारी से बुरी तरह फँसा रहा। १४ मार्च १९२२ को अंग्रेजों ने इसे स्वतंत्र कर यहाँ के निवासी अहमद पाशा को राजा स्वीकार कर लिया। लेकिन यह स्वतंत्रता भी सीमित ही थी।

सभ्यता एवं संस्कृति

भूमिका

१६ वीं सदी तक मिश्री सभ्यता के विषय में संसार को कुछ भी जानकारी नहीं थी लेकिन भव्य पिरामिडों को देखकर लोग दाँतों तले उँगली दबाने लगते थे। इस सदी के अन्त में नेपोलियन ने मिश्र पर आक्रमण किया था और उसके बाद से यहाँ के पुरातत्वों का अध्ययन होने लगा। किन्तु मिश्र के उत्कीर्ण लेखों को कोई पढ़ नहीं सकता था। बाद में इन लेखों का रूपान्तर यूनानी भाषा में मिला और इस तरह मिश्री लेखों का अध्ययन हुआ। इससे पता लगा कि मिश्र ने उच्चकोटि की सभ्यता का निर्माण किया था जिसका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

धर्म

भारतवर्ष के जैसा मिश्र में भी धर्म का बोलबाला था। धनी-गरीब, राजा-प्रजा सभी धार्मिक सिद्धान्तों में दृढ़ विश्वास रखते थे और देवी-देवताओं की उपासना करते थे। देवताओं के वास के लिये बहुत से मन्दिर बने हुये थे और राज्य की ओर से इसके लिये कुछ भूमि दान दे दी जाती थी। थीब्स के समीप कारनाक नगर बड़ा विशाल धन-दौलत से परिपूर्ण था। इसके खंडहर अभी तक कायम हैं जिसे लोग देखकर अचम्भित होते हैं। लेकिन मिश्रनिवासी धार्मिक क्षेत्र में उतने प्रगतिशील नहीं थे जितना अन्य क्षेत्रों में। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मिश्र में सैकड़ों देवी-देवता प्रचलित थे और आमन होटप ने सबके बदले एक देवता एटन का प्रचार करने के लिये प्रयत्न किया। लेकिन एकेश्वरवाद की कल्पना का विकास न हो सका और उसका प्रयत्न व्यर्थ साबित हुआ। पुरानी प्रथा पुनः स्थापित कर ली गई और मिश्र-निवासी बहुदेववादी ही बने रहे। देवताओं की मूर्त्तियाँ बनाकर विस्तृत विधियों के सहारे पूजा होने लगी। आकाश-मण्डल, नक्षत्र, पृथ्वी, समुद्र, नभचर, स्थावर सभी आराधना के पात्र समझे जाते थे। ओसिरिस जो जीवन तथा उपज का देवता था और उसकी पत्नी इसिस जो आकाश देवी समझी जाती थी बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। धर्म पर राजा का नियंत्रण था। वही प्रधान पुरोहित था और सभी धर्माचार्य उसके अधीन थे। वह सूर्य देव का पुत्र माना जाता था। अन्य पुरोहितों का भी बड़ा प्रभाव था।

मिश्रवासियों का एक यह भी विश्वास था कि पशुओं में भी देवताओं का निवास होता था। अतः वे पशुओं का पालन पोषण करते थे और उनका वध करने से हिचकते थे। साधारण लोग तो उनकी पूजा तक भी करते थे। वे पशुओं के शरीर पर मनुष्यों के सिर के साथ पत्थरों पर चित्र भी खींचते थे जो स्फिंक्स कहे जाते थे। किन्तु, सबसे महत्व की बात तो यह थी कि भारतीयों के जैसा मिश्रवाले भी आवागमन या पुनर्जन्म के सिद्धान्त के समर्थक थे। वे इस सिद्धान्त को भी मानते थे कि कर्म के अनुसार मनुष्य

को फल भी भोगना पड़ता है। सुकर्म करने वाला पुण्यात्मा पुर्नजन्म से मुक्त भी हो सकता था। लेकिन निकृष्ट कर्म करने वाले की आत्मा को कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है और शुद्ध होने पर पुनः मानव शरीर मे प्रवेश करती है। इसी से वे शव को जलाते या फेंकते नहीं थे, विशेष प्रकार के तेल-मसाले का उपयोग कर उन्हे सुरक्षित रखते थे। इन्हीं शवो को ममी कहते हैं। पिरामिड भी कब्र ही है जिसमे सम्राटों की ममियों को रखा गया है। सेटी प्रथम और रेमीसस द्वितीय को मरे सहस्रों वर्ष हो गये किन्तु आज भी उनके शव (ममी) काहिरा के अजायबघर मे सुरक्षित पड़े हैं। इन स्फिक्स, ममी और पिरामिड का विस्तृत वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

मिश्रवासियों का यह भी सोचना था कि यदि मृत व्यक्ति की आत्मा सैकड़ों वर्ष तक भटकती ही रहेगी तो उसे भौतिक पदार्थों की आवश्यकता पड़ेगी। अतः मृतकों की समाधियों में बहुत सी खाद्य-चीजें और सासारिक सामग्रियाँ रख दी जाती थीं जिन्हे पुरा-तत्त्व वेत्ता देखकर उस युग के हाल का पता लगाते हैं। कितनी कब्रें भोग-विलास के वस्तुओं से भरा भण्डार हैं और वे इतिहासकारो के लिये मूल-पुस्तक स्वरूप हैं। तूतन खामन (१३५०-१३४१ ई० पूर्व) अपनी कब्र के ही कारण इतिहास में प्रसिद्ध है। अन्यथा उसका कोई महत्व नहीं था क्योंकि वह १० वर्ष की उम्र में सम्राट हुआ और ६ वर्ष ही के बाद मर गया। किन्तु उसकी कब्र में विपुल धन और सामान मिले हैं। ये सब होते हुए भी मिश्रनिवासी आत्मा के सूक्ष्म तत्व पर विचार उपस्थित नहीं कर सके। इस दृष्टि से भारतीय उनसे बहुत आगे निकल गये थे।

कला-कौशल एवं विज्ञान

कला-कौशल और विज्ञान के क्षेत्रों मे मिश्र निवासी अग्रगण्य थे। उन्होंने ललित और वास्तु-कला दोनों ही में उन्नति की। प्राचीनकाल में वे सबसे कुशल भवन निर्माता थे। इंजीनियरिंग के क्षेत्रों में उन्होंने बड़ी निपुणता प्राप्त की थी। वे ईंट तथा सीमेन्ट बनाने और पलस्तर करने में बहुत ही सिद्धहस्त हो चुके थे। विशालता और सुदृढ़ता ही उनकी निर्माण कला की प्रमुख विशेषताएँ थीं। मूर्त्ति कला में भी वे अपना सानी नहीं रखते थे। पिरामिड और स्फिक्स, आबेलिस्क और मन्दिर, उनके कला-कौशल के अच्छे नमूने हैं। पिरामिड और स्फिक्स का वर्णन तो पहले ही हो चुका है। पिरामिड उनके विज्ञान और कौशल का सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है। पिरामिड में लगाया गया एक-एक शिला खण्ड डेढ़ सौ टन तक का होता था। कहाँ से और कैसे विशाल पर्वत-शिला मरुस्थल पारकर लायी गयी—आज भी वैज्ञानिकों और दर्शकों के चिन्तन तथा रहस्य का विषय है। एक इतिहासवेत्ता[1] के मतानुसार १६ वीं सदी के पहले विश्व-

---

[1] ब्रिस्टेड

इतिहास के किसी भी युग में यन्त्र विद्या में इतनी शीघ्र प्रगति नहीं हुई थी"। सबसे बड़ा स्फिन्क्स भी गिजे के पिरामिड के समीप ही पाया जाता है। आवेलिस्क भी स्फिन्क्स के जैसा पर्वत-शिला है लेकिन दोनों की बनावट में कुछ अन्तर है। आवेलिस्क चौखूंटा सूच्याकार मीनार होता या जिसके सिरे पर सोना मढ़ा जाता था। एक-एक आवेलिस्क का पत्थर '१०० टन तक होता था। सम्राज्ञी हाटशेप शुट की स्मृति में एक आवलिस्क का निर्माण किया गया था। मन्दिरों का तो पूछना ही क्या है। मिश्र में उनकी भरमार थी। किन्तु कारनाक, थीब्स और लक्सौर के मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। कारनाक के मन्दिर की लम्बाई ½ मील है और इसके निर्माण में लगभग २ हजार वर्ष बीते हैं। सामन्त काल में इसका बनना शुरू हुआ और मिश्र के यूनानी शासकों-टाल्मी के समय में पूरा हुआ। इसके सुन्दर और आकर्षक भागों का निर्माण साम्राज्यवादी युग में हुआ था। इस विशाल मन्दिर में एक विस्तृत कमरा है। इसकी लम्बाई चौड़ाई पर्याप्त है। इसके बनाने में खम्भो का उपयोग किया गया है। अतः इसे खम्भ कमरा कहा जाता है। १६ पक्तियों में १३६ खम्भे लगे हैं। मध्य के १२ खम्भों में प्रत्येक की ७६ फीट ऊँचाई है जिसके शिखर पर १०० आदमी खड़े हो सकते हैं। कारनाक से एक-ही मील पर लक्सौर का मन्दिर है। लक्सौर थीब्स के मन्दिर भी भव्य और विशाल हैं।

मूर्ति बनाने में भी मिश्री बड़े ही प्रवीण होते थे हजारों वर्ष बीत जाने पर भी अनेकों मूर्तियाँ अभी भी कायम हैं। स्फिन्क्स की चर्चा की जा चुकी है। एक-एक मूर्ति ६० फीट तक ऊँची और १००० टन तक भारी होती है। आमन होटप तृतीय की २ विशाल और अखनाटन की स्त्री की एक कला पूर्ण मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं। मन्दिरों की दीवालों, पिरामिडों और कब्रों पर बहुत सी बातें और चित्र अंकित हैं जिन्हें देखकर उस समय का हाल मालूम किया जाता है। थीब्स के मन्दिर की दीवालों पर विशेषकर युद्ध के चित्र अंकित किये गये हैं। कितने जानवरों और जन्तुओं के चित्र बनाए गये हैं जिनमें बहुत से सजीव दीख पड़ते हैं। अन्य किसी देश में दीवारों पर इतना अधिक चित्र अंकित नहीं मिलते हैं। मिश्र में बड़े ही कुशल राज, कुम्हार, सोनार और बढ़ई मिलते थे। बड़े-बड़े पत्थरों को काटना-छाँटना, सुन्दर बर्तन, बेल-बूटेदार आभूषण और बहुत कुछ आधुनिक ढंग की लकड़ी के सामान को तैयार करना उन्हीं का काम था। सेंट और अञ्जन भी बनाये जाते थे। जुलाहे कपड़े बुनते थे। पेपीरस से कागज के अतिरिक्त रस्सियाँ तथा चटाइयाँ भी बनती थीं। इससे चप्पल भी बनाये जाते थे। मिश्री हाथी-दाँत का व्यवहार करते थे और मिट्टी से ईंटों को बनाते, उन्हें धूप में सूखाते और उनपर कोई रंग चढ़ा कर उन्हे मकान-निर्माण के काम में लाते थे।

मिश्र वालों ने इंजीनियरिंग के सिवाय विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी उन्नति की।

उन्होंने ही भू-मध्य और लाल सागर के बीच प्रथम नहर का निर्माण किया, ग्रहों, उपग्रहों और तारात्रों का अध्ययन किया और उनकी गति जानने का यन्त्र निकाला, ३६५ या १२ महीने का साल निश्चित किया, समय जानने के लिये सूर्य-घड़ी का आविष्कार किया, रेखा गणित तथा बीजगणित के नियमों को निर्धारित किया, दशमलव-विधि स्थापित की और चिकित्सा शास्त्र को विकसित किया'। कई रोगों के उनमें विशेषज्ञ होते थे। वे एनिमा का व्यवहार करते थे। लेकिन चीर-फाड़ के कामों में वे उतने नहीं बढ़े क्योंकि वे किसी शव को चीर कर देखना नहीं चाहते थे। रसायन तथा भौतिक शास्त्र की उनकी जानकारी बहुत सीमित थी। वे नदियों और समुद्र में नाव या जहाज भी चलाना जानते थे।

इस प्रकार मिश्र में विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे चल पड़े। व्यापार की उन्नति हुई। देश की बनी चीजें-बर्तन, वस्त्र गहने आदि बाहर जाती थीं और उनके बदले बाहर की चीजें-सोना, सुगन्धियाँ मछलियाँ, जहाज आदि मँगाई जाती थीं।

इससे यह मालूम होता है कि मिश्र निवासी तटस्थ नहीं रहते थे। अन्य राष्ट्रों से भी उनका सम्पर्क था। यह पहले ही कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के ३०० पत्र अमर्ना में मिले हैं। थुटमस चतुर्थ ने मिटानी राजकुमारी से विवाह किया था जो इतिहास में प्रथम राजनीतिक विवाह समझा जाता है।

विद्या एवं लेखन कला

मिश्र में विद्या और लेखन कला का भी विकास हुआ। शिक्षा प्रणाली उपयोगितावाद

चित्र ११—मिश्र भाषा के अक्षर

चित्र १२—मिश्र के चित्र संकेत

पर आधारित थी और इसमें पुरोहित वर्ग की प्रधानता थी। बेबीलोन के जैसा चित्रों द्वारा भाव व्यक्त किया जाता था। २४ प्रकार के चिह्नों का आविष्कार किया गया था। ये केवल व्यञ्जन का ही काम करते थे और इनमें स्वर नहीं था। कालान्तर में इन्हीं से

संकेत लिपि शब्द तथा वर्ण माला का विकास हुआ। वे कण्डे की कलम, लकड़ी की दावात स्याही और कागज का व्यवहार करते थे। कागज पेपीरस से बनाया जाता था और इसके बनाने में कुछ चिकने पदार्थ का उपयोग किया जाता था। बृटिश अद्भुतालय में इस प्रकार का एक कागज है जो १३५ फीट लम्बा और १७ इञ्च चौड़ा है। काजल, गोंद तथा जल के मिश्रण से स्याही बनाई जाती थी। पेपीरस के बड़े-बड़े टुकड़ों पर विविध विषयों सम्बन्धी बातें लिखी जाने लगीं जिनसे शिक्षा का प्रचार होने लगा। शिक्षा को राज्याश्रय प्राप्त था। इस प्रकार कई विषयों पर पुस्तकें प्राप्य होने लगीं। साहित्य में धार्मिकता की प्रधानता होती थी। जीवन-चरित्र तथा इतिहास अधिक लिखे जाते थे। सरस कविता और रोचक कहानी भी लिखी जाती थीं। सिन्यु ही की कहानी प्रसिद्ध हो गई। मृतक के मनबहलाव के लिये इसकी एक प्रति उसके साथ रख दी जाती थी। दूसरी दुनिया में प्रथम दर्शनार्थ मृतकों के लिये पुस्तक लिखी जाती थी जो मृतक-पुस्तक के नाम से प्रसिद्ध है। पेपीरस के अलावा मिट्टी की पट्टियों और पर्वत-शिलाओं पर भी लिखा जाता था। लेखन कला के विकास से शासन और व्यापार में सुविधा हो गई। राजकीय और व्यापारिक कागज-पत्रों के नमूने मिले हैं। बहुत से लोग लेखक तथा मुनीब के पद पर कार्य कर अपनी जीविका चलाते थे।

शासन प्रणाली

उपर्युक्त सभी बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मिश्र निवासियों की शासन प्रणाली सुदृढ़ थी। चीन और बेबीलोन के जैसा मिश्र में भी ईसा से लगभग ५००० वर्ष पूर्व नगर-राज्य का उदय हुआ था। निचला और ऊपरी मिश्र दो ही नगर-राज्य थे जिन्हें ३४०० ई० पूर्व में मिला कर राज तंत्र कायम किया गया। सम्राट् की पदवी फैरेओ थी जिसका शाब्दिक अर्थ होता है विशाल घर। फैरेओ निरंकुश शासक था और दैवी अधिकार के सिद्धांत में विश्वास करता था। वही शासक, सेनापति, व्यवस्थापक और न्यायकर्त्ता सब कुछ था। शान्ति तथा सुरक्षा के लिये वही उत्तरदायी था। मेम्फिस तथा थीब्स में राजधानी रही थी। फैरेओ निरंकुश होते हुए भी योग्य और चतुर होते थे। प्रजा के हित का ध्यान रखा जाता था। सड़क, सींचाई आदि का प्रबन्ध होता और अन्न या पशु के रूप में कर लिया जाता था। सम्पूर्ण राज्य कई भागों में बँटे हुए थे और प्रत्येक भाग में एक-एक शासक था जो फेरोओं के अधीन रह कर राज्य-प्रबन्ध करता था। मिश्र में डाक और मनुष्य गणना जैसी प्रथायें भी क़ायम थीं। अतः शासन प्रणाली लोक प्रिय थी और देवताओं के समान फेरोओं की पूजा होती थी।

रहन-सहन

समाज कई श्रेणियों में विभक्त था राज घराना, पुरोहित, कृषक, कारीगर, और

गुलाम तथा नौकर। वर्ग-विभाजन लचीला था, आर्यों की भाँति जटिल नहीं। राज प'रवार सर्वोच्च समझा जाता था और सम्राटों का शादी-सम्बन्ध उसी परिवार में सीमित था। भाई-बहनों के भी वैवाहिक सम्बन्ध होता था। पुत्री तथा भगिनी से भी विवाह करने की प्रथा थी। राजपरिवार के बाद पुरोहित तथा सैनिक वर्ग का स्थान था। ये जमीन के मालिक होते थे और राज कर से मुक्त थे। पुरोहित का मतलब केवल मन्दिर के पुजारी से नहीं था। इस वर्ग में कवि, लेखक, विधान निर्माता, चिकित्सक, जादूगर आदि तरह-तरह के प्रभावशाली लोग थे। सैनिकों में पदचर तथा अश्वारोही प्रमुख थे। रथ, ढाल, कुल्हारी, बर्छा, तलवार और धनुषवाण उनके प्रसिद्ध अस्त्र-शस्त्र थे। सैनिकों को जमीन दी जाती थी जिसे वे जोत सकते थे किन्तु अन्य कोई पेशा नहीं कर सकते थे।

मजदूरों से कड़ा काम लिया जाता था। गुलामों और नौकरों की दशा सन्तोष प्रद नहीं थी। बहुत से गुलाम युद्ध के कैदी थे। गुलामों और मजदूरों से प्रायः बेगार कराया जाता था।

विवाह काल में पत्नी के प्रति भक्ति की शपथ पति को लेनी पड़ती थी। विवाह-विच्छेद अपवाद स्वरूप था। समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था। पुरुष और स्त्री दोनों का अधिकार समान था। स्त्री धन और जागीर अपने अधिकार में रख सकती थी और दूसरों को दे भी सकती थी। स्त्रियों का खूब सम्मान होता था। उच्च घराने की स्त्रियाँ विविध प्रकार के आभूषणों से अपने को सुसज्जित करती थीं। कुंडल, कंकण, बाजू, कंठहार, कड़ा आदि उनके कुछ प्रसिद्ध गहने थे। प्रायः सभी स्त्रियाँ सोने की सिकड़ी भी पहनती थीं। उनमें पर्दा का अभाव था और वे पुरुषों के साथ भोज में भाग लेती थीं। वे शासिका भी हो सकती थीं। माता के प्रति लोगों की बड़ी श्रद्धा होती थी। प्राचीन काल की किसी भी सभ्यता में स्त्रियों को इतने व्यापक अधिकार तथा उच्च स्थान नहीं प्राप्त थे। प्राचीन भारत में भी किसी स्त्री के गद्दी पर बैठने की चर्चा नहीं मिलती है।

भोज के अवसर पर स्वादिष्ट भोजन तथा शराब का व्यवहार होता था। काँसे या चाँदी के प्याले में लोग मद्य पीते थे। तश्तरियों और चम्मच का भी प्रयोग होता था। आमोद-प्रमोद के लिये खञ्जरी तथा वीणा बजते थे। नट बाजी, मुष्टि-युद्ध, साँढ़-युद्ध, नाच तथा जूए के खेल भी प्रचलित थे। इसी अवसर पर ममी का प्रदर्शन भी कराया जाता था ताकि लोग खूब मौज कर लें क्योंकि एक दिन सभी को मरना है। मिश्र निवासी बड़े ही शौकीन थे। वे बहुमूल्य तथा भड़कदार वस्त्र पसन्द करते थे। स्त्रियों के सिवाय पुरुष भी आभूषणों को धारण करते थे। अंगूठी पहनने की प्रथा अधिक प्रचलित थी। अमीर लोग सोने की अंगूठी रखते थे। अन्य साधनों से भी शरीर को सुसज्जित किया जाता था। छुरे, कंघी, दर्पण शृङ्गारदान आदि काम में लाये जाते थे क्योंकि

ये सभी चीजें कब्रों में पाई गई हैं। सेन्ट, पाउडर तथा उबटन का भी प्रयोग होता था। ओठ तथा नाखून रंगे जाते थे। आँखों में काजल जैसी कोई चीज लगाई जाती थी। बालों को सुगन्धित तेल से सवांरा जाता था। इस तरह मिश्रवासियों का जीवन मस्ती से ओत-प्रोत था। वे गम्भीर थे किन्तु उनके चेहरे पर सदा प्रफुल्लता भी झलकती थी। अतः वे अपने सामाजिक जीवन में रसिक, सौन्दर्य प्रेमी तथा आशावादी थे। वे चार्वाक तथा एपिक्युरस के सिद्धान्त-खाओ, पीओ, और मौज करो—के समर्थक मालूम पड़ते थे।

मिश्री सभ्यता की देन

इस प्रकार ईसा से ५ हजार वर्ष पूर्व मिश्र में उच्चकोटि की सभ्यता का विकास हुआ। एक लेखक के मतानुसार सभ्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिश्रवासियों ने २ हजार वर्षों के भीतर (४५००-२५०० ई० पूर्व) उतनी प्रगति की जितनी न तो अन्य किसी जाति ने की और न अन्य किसी युग में ही हुई। रोम और यूरोप की सभ्यता पर यूनान का बहुत प्रभाव पड़ा लेकिन यूनान मिश्रियों से बहुत कुछ प्रभावित हुए। विश्व ने कई बातों में विज्ञान की शिक्षा मिश्र से ही प्राप्त की है। कई प्रकार के बेल-बूटे, मकानों में पंक्तिबद्धस्तम्भों और मेहराबों का प्रयोग, वर्तमान तिथि-पत्र मिश्र का ही देन हैं। मिश्र-निवासी ही डाक तथा गणना, लेखक तथा शिक्षा प्रणालियों के भी प्रारम्भ और विकास करने वाले थे। उनकी लेखन-कला का भूमध्य सागरीय तथा यूरोपीय देशों में विभिन्न रूपों में प्रचार हुआ था। उन्होंने नील नदी से लाल सागर तक एक नहर निकाली जो वर्तमान स्वेज नहर का अग्र सूचक कही जा सकती है।

———

अध्याय ५

दजला फरात घाटी की सभ्यता—मेसोपोटेमिया

भूमिका

प्राचीन समय में दजला फरात की घाटी में भी सभ्यता का उदय हुआ। जिन कारणों से मिश्र में सभ्यता का विकास हुआ उन्हीं कारणों से एशिया के इस पश्चिमी भाग में भी सभ्यता के चिह्न प्रकट हुए। दजला-फरात नाम की दो नदियाँ प्रवाहित होती हैं जो मिश्र के उत्तरी-पूर्वी कोण में स्थित हैं। इन नदियों के मध्य भू-भाग को मेसोपोटेमिया कहते हैं। मेसो का अर्थ 'मध्य' पोटाम का अर्थ 'नदी' होता है। यह बड़ा ही उपजाऊ भाग है और इसका स्वरूप अर्द्ध-वृत्ताकार है। अतः कुछ इतिहासज्ञों ने इसे 'उर्वर नवचन्द्र' की उपाधि दे रखी है। वर्तमान काल में यही भाग ईराक के नाम से प्रसिद्ध है।

मेसोपोटामिया की सभ्यता मिश्र की सभ्यता के समकालीन तो है ही, कुछ अंश में वह मिश्री सभ्यता से अधिक प्राचीन भी है। मिश्र के समान ही मेसोपोटामिया की भौगोलिक स्थिति वहाँ के निवासियों के अनुकूल थी जिससे जीवन की अनेक सुविधाएँ—पीने के लिए जल, मकान बनाने के लिये मिट्टी और सामान, अन्न पैदा करने के लिए उपजाऊ भूमि, सिंचाई तथा यातायात की सुविधा आदि उन्हें प्राप्त थीं। अतः वहाँ भी सभ्यता का प्रभात हुआ लेकिन जहाँ मिश्र की सभ्यता का विकास अबाध गति से होता रहा वहाँ मेसोपोटेमिया की सभ्यता के विकास में बाधा पड़ती रही। असुरक्षित होने तथा समुद्र से लगाव रहने के कारण बीच-बीच में बाहरी आक्रमण होते रहे जिससे विकास की गति में परिवर्तन होता रहा। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिये कि विकास की गति कभी भी बिलकुल बन्द नहीं हो गई—वह मन्द भले ही हो गई हो, सर्वथा रुक नहीं गई; प्रगति का क्रम चलता रहा। यहाँ के प्रथम निवासी सुमेरियन थे, उसके बाद क्रमशः बेबीलोनियन, असीरियन और केल्डियन आये। केल्डियन बेबीलोनियनों के ही एक अंग माने जाते हैं। अतः मेसोपोटेमिया की सभ्यता इन्हीं तीनों जातियों की सभ्यताओं का सामञ्जस्य है। इनमें भी सुमेरियन अधिक सभ्य थे जिनसे अन्य दो जातियों ने बहुत कुछ सीखा। सुमेरिया में सभ्यता एवं संस्कृति का श्रीगणेश हुआ और बेबीलोनिया ने इसका विकास किया। इस भूखण्ड में पाषाण की बड़ी कमी थी। अतः यहाँ के निवासी ईंटों का ही विशेष प्रयोग करते थे। ये खुदाई का काम भी मिट्टी की पट्टियों पर करते थे, किन्तु ये सभी चीजें स्थायी रूप से कायम नहीं रह सकीं।

राजनीतिक इतिहास

(क) सुमेरिया (४५०० -२००० ई० पूर्व)

दजला-फरात नदियों के संगम के ऊपर दजला के तटीय भू भाग को सुमेरिया कहा जाता था। यहाँ के खँडहरों को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इसकी सभ्यता का उदय ५००० वर्ष ई० पू० से भी पहले हुआ था। सुमेरियनों ने एक संगठित राज्य स्थापित किया था जो कई नगर राज्यों में विभाजित था। इनमें निप्पर, उम्म, लगश, लार्सा, एरेक, उर विशेष प्रसिद्ध थे। राज्य का क्षेत्र फारस की खाड़ी से लाल भूमध्य सागर तक फैला हुआ था। नगर-राज्य आपस में लड़ते-झगड़ते थे और युद्ध में सैनिक बड़े-बड़े भाले, कटारें, गदा और ढालों का व्यवहार करते थे। पारस्परिक युद्ध के कारण सुमेरियन सैन्य अस्त्र-शस्त्र तथा संगठन में मिश्रियों से आगे बढ़ गये थे। मिश्रियों से १००० वर्ष पहले से सुमेरियन खच्चरों द्वारा खींचे जाने वाले रथों तथा पहिये वाली गाड़ियों का प्रयोग करते थे।

सभ्यता

खेती प्रधान पेशा तो था ही, यहाँ व्यापार भी होता था। लेन-देन में सिक्के का व्यवहार नहीं था किन्तु वे बैंक प्रथा से परिचित थे और समुचित माप-तौल और बट्टे का प्रयोग करते थे। मूल्य और पारिश्रमिक कानूनों द्वारा निश्चित किये जाते थे और सर्वप्रथम उन्हीं लोगों ने दीवानी नियमों का संग्रह कर लिपिबद्ध किया। उनकी ६० से सम्बन्धित प्रणाली (जो शीघ्र ही दशमलव से संयुक्त हो गई) समय और वृत्त के विभाजन में आज भी प्रचलित है। चित्र-प्रणाली के आधार पर उन्होंने क्युनीफॉर्म लेखन-कला विकसित की जो मिट्टी की पट्टी पर लिखने के लिये उपयुक्त थी। भास्कर कला का भी कुछ उत्थान हुआ। मकानों में खिड़कियों का अभाव रहता था और प्रायः कच्ची ईंटों का प्रयोग होता था। अतः वे मजबूत नहीं होते थे। प्रारम्भ में प्रत्येक नगर के अलग-अलग देवी-देवता थे किन्तु आगे चलकर त्रिदेवों की कल्पना हुई। अनु (आकाश) एनलिल (ब्रह्माड) और आ (समुद्र) इनके नाम थे। निप्पर के देव एनलिल सर्वप्रधान थे। देवी-देवताओं के लिये मन्दिर भी बनते थे। विश्व-निर्माण, प्रलय और अन्य दुनिया सम्बन्धी गल्प भी प्रचलित थे।

समाज ३ श्रेणियों में विभक्त था—उच्च श्रेणी-जिसमें राज-परिवार, पुजारी और भूमिपति थे; मध्यम-जिसमें कृषक और व्यवसायी लोग थे, और निम्न जिसमें गुलाम थे। पुजारियों का बहुत प्रभाव था और एरेक नगर में तो सर्वत्र उन्हीं का बोलबाला था। मन्दिरों में स्त्रियाँ भी रहती थीं। समाज में स्त्रियों के साथ कठोर व्यवहार था। पुरुष का व्यभिचार क्षम्य था किन्तु स्त्रियों को इसके लिये फाँसी तक दी जाती थी। पुरुष बांझ स्त्रियों को त्यागकर हाने करले दूसरा विवका अधिकारी था।

सुमेरियों का पतन

लगभग २७५० ई० में अक्काद जति ने सुमेरिन साम्राज्य पर आक्रमण कर इसका अन्त कर डाला। यह नया साम्राज्य सुमेर-अक्काद का साम्राज्य कहलाने लगा। लेकिन यह बहुत समय तक कायम न रहा और सदियों के बाद ही समाप्त हो गया। सुमेरियों के पतन के कई कारण थे। नगर राज्यों में प्रतिद्वन्द्विता की भावना थी। वे सुदृढ़ शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण नहीं कर सके। उनमें विलासिता तथा भ्रष्टाचार का समावेश हो गया था। युद्ध-कला में आक्रमणकारी उनसे अधिक निपुण थे और उनका सेना नायक सारगन वीर एवं कुशल सैनिक था।

(ख) बेबीलोनिया (२०००-१२०० ई० पूर्व)

सुमेरिया और एकेडिया के साम्रज्य के पतन होने के बाद बेबीलोन और असीरिया के साम्राज्य का उत्थान हुआ। दजला की घाटी के उत्तरपश्चिम में बेबीलोनिया और इससे उत्तर फरात की घाटी में असीरिया स्थित था। इन दोनों राज्यों का इतिहास अधिकांश समय एक दूसरे से सम्बद्ध रहा है। दोनों आपस में लड़ते रहते थे और कभी बेबीलोन की विजय होती तो कभी असीरिया की।

बेबीलोन के इतिहास के आरम्भ काल के विषय में किसी निश्चित मत का निर्णय नहीं हो सका है। लेकिन लगभग २००० वर्ष ई० पू० से इसका हाल मिलता है। उस समय यहाँ छोटे-छोटे नगर-राज्य स्थापित थे जिनमें 'आगाड' का नगर-राज्य सर्वप्रमुख था। इसका संस्थापक सारगन प्रथम था जो सेमेटिक जाति का शक्तिशाली व्यक्ति था। उसने आसपास के प्रदेशों को अपने बाहुबल से जीतकर पश्चिमी एशिया में प्रथम साम्राज्य की नींव खड़ी की। उसके साम्राज्य की सीमा भूमध्य सागर तक फैल गई थी। इस वंश का सबसे महान् और प्रतापी राजा हम्मुराबी था। उसका शासन काल २२वीं सदी में रहा था। वह प्रथम राजवंश का छठा राजा था। वह एक सफल विजेता और शासक तो था ही, वह कला-कौशल का भी प्रेमी था। उसने अपने राज्य का और विस्तार किया और उसमें सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया। उसने अबतक के बिखरे सैकड़ों कानूनों को नियमबद्ध किया और इसी के लिये वह अधिक प्रसिद्ध है। शासन और व्यवस्था के क्षेत्र में रोमनों के पहले उसके समान किसी ने भी उन्नति नहीं की थी। दुनियाँ के इतिहास में वह विधान-निर्माता के ही रूप में विख्यात है। उसने पुराने

चित्र १३—हम्मूरबी

कानूनों में सुधार किया, नये कानूनों का निर्माण किया और सबों को एक संहिता में

लिपिबद्ध कर डाला। उसने इस संहिता को एक विशाल प्रस्तर खण्ड पर खुदवा कर बेबीलोन के मुख्य मन्दिर के पास गड़वा दिया। उसने अच्छे मन्दिर और मकान बनवाये और शिक्षा प्रचार के लिये सतत प्रयत्न करता रहा। स्कूल में मिट्टी की तख्तियों पर लेखन-कला सिखलायी जाती थी। बेबीलोन का साम्राज्य लगभग २००० वर्षों तक कायम रहा।

सभ्यता—बेबीलोन की सभ्यता सुमेरियन सभ्यता का ही परिवर्तित संस्करण थी। सुमेरिया ने जो नींव खड़ी की उसी को बेबीलोनिया ने विस्तृत किया। बेबीलोन नये साम्राज्य की राजधानी था। मारडूक यहाँ के प्रसिद्ध देवता थे जो एनलिल के प्रतीक स्वरूप थे। बाद में मारडूक बेल के नाम से प्रसिद्ध हो गये। जादू का प्रयोग, शुभ अशुभ की गणना, ग्रहों की चाल का अनुमान करना, जानवरों के कार्यों और और बलि चढाये गये पशुओं की अंतरियों का अध्ययन करना—इनके धर्म की विशेषताएँ थीं।

बेबीलोन का पतन—हम्मुराबी की मृत्यु के बाद बेबीलोनियों के समाज में व्यभि-चार तथा विलास का प्रचार हो गया था। अतः उनकी शक्ति का ह्रास हो रहा था। इसी समय उत्तर तथा पश्चिम से विदेशियों के आक्रमण हुए। केसाइट, हिट्टाइट और असीरी जातियाँ प्रसिद्ध थीं। आक्रमणकारियों को दो सुविधाएँ थीं जिनके कारण उन्हें सफलता प्राप्त हो सकी। वे घोड़े तथा लोहे का प्रयोग जानते थे किन्तु बेबीलोन के निवासी इनसे अभी अनभिज्ञ थे।

(ग) असीरिया (१३००—६०६ ई० पूर्व)

अब १३०० ई० पूर्व के लगभग असीरियों ने बेबीलोन के साम्राज्य पर आक्रमण करना शुरू किया और उन्होंने एक बड़ा शक्तिशाली सैनिक राज्य स्थापित किया। ये सेमेटिक थे और इनका साम्राज्य लगभग ७०० वर्षों तक जीवित रहा। बहुत सी बातों के लिये असीरिया बेबीलोन का ही ऋणी रहा। यह सेना-संगठन और निरंकुश साम्राज्य शासन के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यह युद्ध तथा सैन्य-शक्ति पर आधारित था। असीरियनों को प्राचीन काल का प्रशियन कहा गया है। घेरा डालने, धावा करने और व्यूह रचने में वे बड़े ही दक्ष होते थे। वे युद्ध क्षेत्र में घोड़ों तथा रथों पर जाते थे और भाले, तलवार तथा धनुष बाण से लड़ते थे। लोहे का व्यवहार मालूम हो जाने पर वे भयंकर हथियारों का प्रयोग करने लगे थे। उनका राज्य एकतन्त्र था जो सैन्य-बल पर आधारित था। सैनिक अपनी क्रूरता के लिये प्रसिद्ध थे जिनका पेशा प्रधानतः ध्वंसात्मक था। वे जहाँ भी जाते थे, मकानों को तोड़ते और मनुष्यों की हत्या करते थे। विजित प्रदेशों की जनता करों से पीड़ित थी जिन्हें कड़ाई से वसूल

किया जाता था। कभी-कभी विजित प्रदेशों की आबादियों में परिवर्तन कर दिया जाता था। हिंसा और निर्दयता का ही शासन में बोलबाला था। दण्डविधान
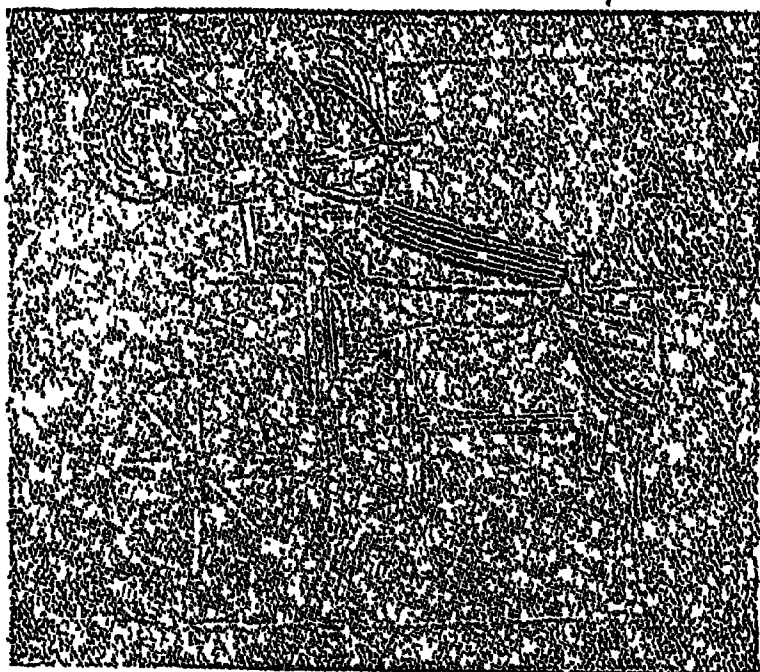
चित्र १४—असीरी युद्ध-रथ

निष्ठुरतापूर्ण था। साम्राज्य की राजधानी "निनवे" में थी जो वैभवपूर्ण प्रसिद्ध नगर था। दूसरा प्रसिद्ध नगर असुर था। असुर और इश्तर असीरिया के प्रसिद्ध देव थे।

राज्य का वास्तविक संस्थापक 'टिगलाथ पिलासर तृतीय" था जो ७४५ ई० पूर्व में असीरिया का राजा हुआ। इसने बेबीलोन तथा डेमेस्कस को जीत लिया। उसके बाद सारगन द्वितीय (७२२-७०५ ई० पूर्व) प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने मिश्र के फेरोह को पराजित किया, अरब और साइप्रस द्वीप के लोगों पर टैक्स लगाया, यहूदियों के विद्रोह को दबाया और बहुत से यहूदियों को कैद कर असीरिया में रहने के लिये विवश किया। उसका पुत्र "सेना करीब" (७०५-६८१ ई० पूर्व) भी प्रभाव शाली सम्राट हुआ। अपने पिता के समान ही वह भी सफल सैनिक था। उसने कोल्डिया; बेबीलोन तथा फिलस्तीन के निवासियों को दबाया लेकिन मिश्र को जीतने में सफल न हो सका था। उसका पौत्र असुर बनी पाल (६६७-६२६ ई० पूर्व) भी एक बड़ा विजेता था जो इस राज्य का अन्तिम सम्राट था। उसने मिश्र पर भी विजय प्राप्त की थी। सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में इसकी धाक जमी हुई थी। उसका शासन-काल असीरिया के इतिहास का स्वर्ण युग है।

चित्र १५

असीरी सभ्यता—इस तरह असीरिया के सम्राट विजेता, सैनिक आक्रमणकारी और अत्याचारी थे। किन्तु वे कोरे जंगली नहीं थे। उन्होंने सैन्य तथा युद्ध कला का विकास किया। उनका शासन तथा साम्राज्य संगठन अपूर्व था। उनकी शासन प्रणाली सामरिक थी। अतः उनकी सेना सर्वोत्तम थी। साम्राज्य का प्रधान सम्राट ही था जिसके हाथों में सारे शासनाधिकार सीमित थे। डाक और सड़कों की अच्छी व्यवस्था थी। साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। गुप्तचर विभाग भी सुव्यवस्थित था। उन्होंने कई भवनों का निर्माण किया। सारगन द्वितीय ने निनवे के उत्तर-पूरब, सारगन वर्ग में एक विशाल भवन बनवाया। यह २५ एकड़ भूमि में स्थित था और इसमें करीब ८०,००० लोगों का वास हो सकता था। कई नगरों में पुस्तकालय स्थापित थे। असुरवनी पाल का पुस्तकालय सबसे प्रसिद्ध था जिसमें २ लाख से अधिक पुस्तकें थीं। यह एशिया महाद्वीप का प्रथम पुस्तकालय था और इसकी हजारों तख्तियाँ आज लंदन के संग्रहालय में रखी हुई हैं। कला और विज्ञान के क्षेत्र में वह बेबीलोनियों का ऋणी था। किन्तु

संसार के सभी पदार्थों को श्रेणीबद्ध कर असीरिया ने भौतिक विज्ञान को प्रोत्साहित किया और वनस्पति शास्त्र के विकास में भी सहयोग प्रदान किया।

समाज ४ भागों में विभक्त था—सामंत, कारीगर, सर्वसाधारण और दास। सामंत विशेषाधिकार युक्त थे। कारीगर भिन्न भिन्न संघों में सुसंगठित होते थे। सर्वसाधारण का जीवन सुखमय नहीं था। दासों की तो कोई हस्ती ही नहीं थी। असीरिया वासियों का मुख्य देवता असुर था। वे भूत, पिशाच तथा जादू-टोना में विश्वास करते थे। अतः अपनी रक्षा के लिये यन्त्र, तावीज आदि का प्रयोग करते थे।

असीरिया का पतन—असीरिया का साम्राज्य बहुत टिकाऊ नहीं साबित हुआ। वह सैन्य-बल पर आधारित था और सैन्य शक्ति कमजोर होने पर उसका पतन निश्चित था। साम्राज्यजनित भोग-विलासमय जीवन ने सैनिकों और सम्राटों को निःशक्त बना डाला। युद्धों की अधिकता के कारण भी सैन्य शक्ति क्षीण पड़ गई। वाणिज्य व्यवस्था की भी क्षति हुई जिससे साम्राज्य की आर्थिक स्थिति डॉवाडोल हो गई। साम्राज्य भी इतना विस्तृत था कि उसकी समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी और शासक के कमजोर होने पर घरेलू झगड़े तथा विद्रोह उठ खड़े होते थे। असुरबनीपाल के उत्तराधिकारी कमजोर थे। साम्राज्य को जनता की सहमति और सहयोग प्राप्त नहीं था और शोषण तथा हिंसा की नीति से वह असन्तुष्ट थी। ऐसी परिस्थिति बाह्य आक्रमण के लिए अनुकूल थी। अतः मिडिया और केल्डिया के निवासियों ने सम्मिलित हो कर (६१२ ई० पूर्व में) असीरिया पर चढ़ाई कर दी और उसकी राजधानी निनवे को धूल में मिला दिया जिसके खँडहर अब तक वर्तमान हैं।

(घ) केल्डिया का राज्य (६०५—५३८ ई० पूर्व)

अब बेबीलोन का दूसरा राज्य स्थापित हुआ। यह केल्डिया का राज्य भी कहा जाता है। इसकी राजधानी बेबीलोन में ही थी। इस राज्य का सब से प्रमुख राजा नेबूकेडनेजार (६०५—५६२ ई० पूर्व) था। यह साम्राज्य थोड़े ही समय तक तो कायम रहा किन्तु प्रथम साम्राज्य से अधिक गौरवपूर्ण था। नेबूकेडनेजार एक बड़ा ही निपुण विजेता और शासक था तथा कलाकौशल का भी प्रेमी था। उसने केवल ४३ वर्ष तक शासन किया। उसके समय में राज्य की शक्ति तथा समृद्धि में बहुत ही वृद्धि हुई। उसने मिश्र के फेरोह नीको को पराजित किया और सीरिया के सम्राट ने उसे कर देना स्वीकार किया। मिश्र के फेरोह ने सीरिया और फिनीशिया में विद्रोह कराने की चेष्टा की जिसका परिणाम बड़ा ही भयकर हुआ। दोनों की राजधानियाँ जेरूजेलम और टायर पर आक्रमण कर उन्हें मटियामेट कर दिया गया। उसने जेरूजेलम से बहुत यहूदियों को कैद कर बेबीलोन लाया जिसकी चर्चा बाइबिल में की गई है। उसके समय में राज्य विस्तार के साथ कला-कौशल, शिक्षा-साहित्य, वाणिज्य-व्यवसाय, धर्म

और विज्ञान की पर्याप्त उन्नति हुई। उसने अपनी राजधानी बेबीलोन (बाबुल) को दर्शनीय और आकर्षक स्थान बना दिया। यहाँ भव्य मन्दिर और मकान निर्मित हुए। चारों ओर से उसकी रक्षा के लिये एक सुदृढ़ दीवार बनायी गई। उसका विवाह ईरान की राजकुमारी से हुआ था जिसे वह बहुत प्यार करता था। रानी पहाड़ी देश की थी जहाँ मनोरंजन के अनेक साधन थे। लेकिन बेबीलोन में तो इसका अभाव था।
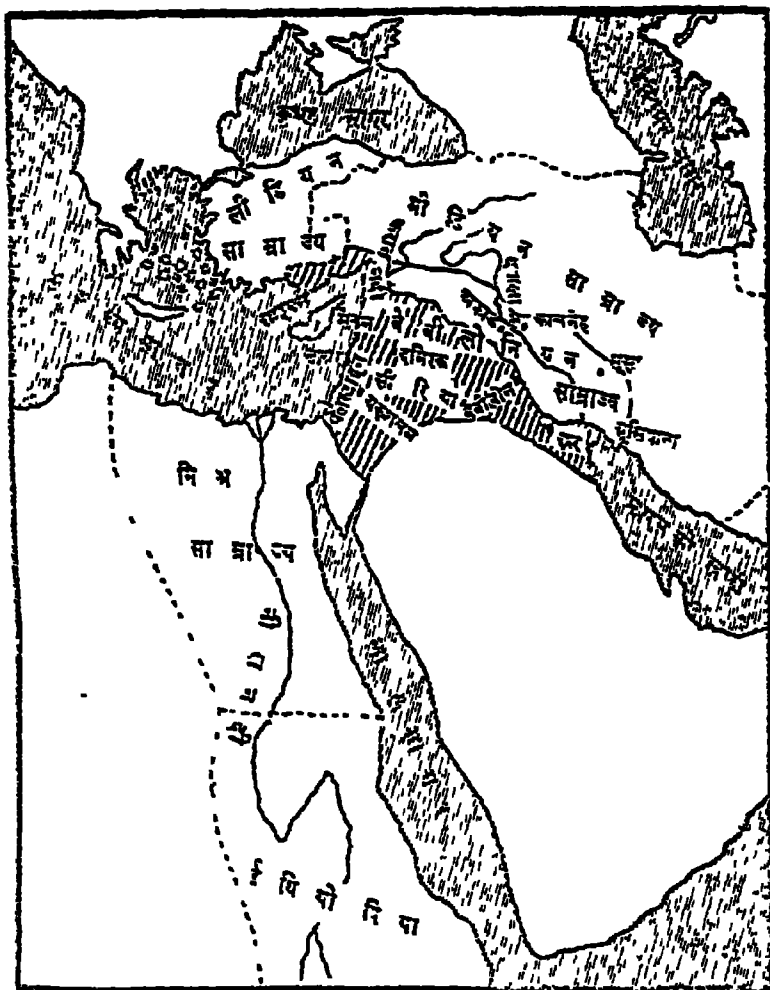
चित्र १६—बेबीलोनिया का साम्राज्य

अतः उसके मनोरंजन के लिये उसने विशाल ऊँचे भव्य टीलों पर बाग बगीचे लगवा दिये। इनमें कई सतह थे और प्रत्येक सतह पर विभिन्न प्रकार के फूल-पौधे लगे थे। ये आकाश-वाटिका या दोला उपवन (हैंगिंग गार्डेन्स) के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि दूर से देखने पर ये आकाश में झूलते हुए मालूम पड़ते थे। संसार के सात आश्चर्यों में इन का भी एक स्थान है।

केल्डियन सभ्यता—केल्डियन जाति ने बेबीलोन की प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित किया। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और विज्ञान के क्षेत्र में ही उनकी सबसे

बड़ी देन है। खगोल शास्त्र में इन्होंने आश्चर्यजनक उन्नति की। ये सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनिश्चर को ७ देवताओं के रूप में मानते थे और हर एक की पूजा के लिये दिन निर्धारित था। इस तरह हर एक के नाम पर सात दिनों का नामकरण हुआ। इन्होंने तारा मंडल को १२ भागों में बाँटा जिनके आधार पर १२ राशि चक्रों का नामकरण हुआ।

केल्डिया का पतन—नेबू केडनेजार की मृत्यु के बाद साम्राज्य का गौरव जाता रहा। उसके उत्तराधिकारी कमजोर थे। सामन्त इससे अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करने लगे। अन्तिम सम्राट अपनी विद्वता के कारण शासक की अपेक्षा अध्यापक होने लायक था।

सभ्यता एवं संस्कृति का विकास

भूमिका

यह पहले ही बताया जा चुका है कि दजला-फरात घाटी की सभ्यता सुमेरियन बेबीलोनियन और असीरियन लोगों के सम्मिलित सहयोग का उत्पादन है। मौलिकता, यथार्थवादिता और निर्दयता क्रमशः इनकी विशेषतायें थीं। सुमेरियन यहाँ के प्राचीन निवासी थे और इसमें उन्हीं की विशेष देन है। सुमेरिया ने सभ्यता की हरेक दिशा में पग रखा था किन्तु उसकी सबसे बड़ी देन लेखन-कला के क्षेत्र में थी। बेबीलोनियां की सबसे बड़ी देन विज्ञान तथा विधान के क्षेत्र में और असीरिया की सैन्य संगठन, साम्राज्य स्थापना तथा युद्ध कला क्षेत्र में रही है।

उद्योग-धन्धे

सुमेरियन प्रधानतः कृषक थे और उन्होंने कृषि की उन्नति खूब की। उन्होंने कई नहरों और बाँधों का निर्माण किया। खेतों की सतह से नहरों की सतह प्रायः नीची होती थी। खेतों में पानी पहुँचाने के लिये रेहट का व्यवहार होता था। टिग्रीस और युफ्रेट्स नदियों के बीच बहुत नहरें बनायी गयी थीं। भूमि दो प्रकार की होती थीं। भूमि का कुछ भाग मन्दिर के पुजारियों के अधीन और कुछ राजा के अधिकार में रहता था। राजा अपनी भूमि को अधीनस्थ सामन्तों को दे देता था। कृषक राजा, सामन्त या पुजारी से भूमि लेकर जोतता था और उन्हें मालगुजारी देता था।

लेखन-कला तथा शिक्षा

लेखन कला से सुमेरियन लोग भली-भाँति परिचित थे और उन्हीं के प्रयास से पश्चिमी एशिया में इसका प्रचार हुआ। उनकी लेखन शैली को टेढ़ी-मेढ़ी शैली (क्यूनीफार्म) कहते हैं। इसमें खड़ी और पड़ी लकीरों से त्रिभुजाकार का संकेत-चिन्ह बनाया जाता था। इसमें अक्षर नहीं होते थे, केवल शब्द-चिन्ह जिनकी संख्या लगभग

१४० थी। मेसोपोटेमिया में लिखने के लिए पेपीरस जैसा न तो कागज था और न पत्थर ही पूरा मिलता था। असीरिया में पत्थर कुछ मिलता भी था तो अन्य स्थानों में नहीं। अतः अधिकतर नर्म मिट्टी की पट्टियों पर ही यहाँ के लोग लिखा करते थे और अग्नि या धूप में सुखा कर कड़ा कर देते थे। इस तरह उस समय की लिखी हुई बहुत सी मिट्टी की पुस्तकें खण्डहरों में मिली हैं। असीरिया में पत्थरों पर लिखा जाता था। उस समय कई नगर-राज्यों में पुस्तकालय थे। निनवे का पुस्तकालय विशाल और प्रमुख था जिसमें २२०,००० पुस्तकें एकत्रित थीं। इसमें भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें प्राप्य थीं। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण पुस्तकें नहीं थीं। उनका एक ही महाकाव्य था जिसका नाम गिलगमेश था। इसमें गिलगमेश नामक राजा की जीवनी तथा जल प्रलय का विशद वर्णन है।.

उनके इतिहास भारतीय पुराणों के जैसा कालक्रमहीन होता था। अधिकतर लेख काम काज सम्बन्धी होते थे। हम्मूराबी का विधान-संग्रह एक महत्वर्ण पुस्तक थी। ६ फीट ऊँचे पत्थर पर यह संग्रह खुदवाया गया था।

बेबीलोन में प्रथम विद्यालय पाया गया है। स्लेट जैसी बनी हुई मिट्टी की तख्तियों पर विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था। लेखन-कला की शिक्षा ही प्रधान समझी जाती थी। इससे पण्डितों का समाज में बड़ा मान होता था। विद्यालय की दीवार पर लिखा हुआ था कि "लेखन कला में जो पारगत हैं वे सूर्य की भाँति चमकेंगे।" विद्यालय का क्षेत्र ५५ वर्ग फीट में है।

कला-कौशल

कला-कौशल के क्षेत्र में मिश्र निवासी मेसोपोटेमिया के निवासियों से श्रेष्ठ थे। यह भी अनुमान किया गया है कि मेसोपोटेमिया के निवासी अनुकरण करने में भी विशेष निपुण नहीं थे। मिश्र के सम्राटों की भाँति बेबीलोन और असीरिया के सम्राट् भी अपने धन-धान्य और ठाट-बाट का प्रदर्शन करना चाहते थे। अतः कई भव्य और विशाल भवनों और मन्दिरों का निर्माण किया गया। मन्दिरों के बनाने में बड़ा परिश्रम किया जाता था और ये कई तल्ले के बनाये जाते थे। लोगों का विश्वास था कि मन्दिर के शिखर पर ही देवता रहते थे। भवन भी ३ या ४ मंजिल तक के होते थे।

सारगन द्वितीय के द्वारा निर्मित एक भवन की चर्चा की जा चुकी है। किन्तु यहाँ के भवन आकर्षक और सुदृढ़ नहीं होते थे। इमारतों में कच्ची और पक्की दोनों ही प्रकार की ईंटों का व्यवहार होता था। लकड़ी का भी प्रयोग होता था। असीरिया में पत्थरों से भी निर्माण-कार्य किया जाता था क्योंकि वहाँ पत्थर पर्याप्त मात्रा में मिलता था। अतः असीरिया निवासी बेबीलोनियनों की अपेक्षा पत्थर के कामों और उन पर खुदाई करने में विशेष निपुण थे। राज प्रासादों की दीवालों में युद्धों और जंगली

जीव-जन्तुओं के चित्र पर्वत शिलाओं पर अंकित हैं। पराजित जातियों के द्वारा टैक्स देते समय का भी चित्र मिलता है। इन चित्रों की गिनती अच्छी श्रेणी में होती है। राजमहलों के प्रवेश-द्वारों पर साँड़ों के चित्र होते थे जिनमें पक्षियों के समान पंख और मनुष्यों के समान सिर होते थे। दीवारों तथा दरवाजों पर इन चित्रों के अंकन में असीरिया निवासी बेबीलोनिया से बढे-चढ़े थें।

धर्म तथा विज्ञान

धर्म की दृष्टि से सुमेरिया, बेबीलोन और असीरिया के लोगों में साधारण या नाम मात्र का अन्तर था। प्राचीन निवासियों की भाँति मेसोपोटेमियन भी बहुदेव उपासक थे। उनके कई देवी देवता थे। इनमें प्रमुख थे एनलिल, मारडुक, असुर और इश्तर। एनलिल को सुमेरिया निवासी, मारडुक को बेबीलोनियन और असुर को असीरिया वाले खास तौर से पूजते थे। तीनों देवताओं की खास विशेषतायें थीं। इश्तर प्रेम की देवी थी जिसे रोमन लोग वेनस के रूप में मानते थे। देवताओं के सम्मान में मन्दिर और देवालय बनाये जाते थे। समाज में पुरोहितों का बहुत आदर सत्कार होता था। यहाँ के लोगों के देवता भी क्रोध और प्रतिकार के प्रतीक थे जिन्हे खाद्यानों और रक्तों से सन्तुष्ट करने की आवश्यकता थी। अतः उनके लिये पशुओं का वध होता था। असुर भयंकर युद्ध देव था जो सूर्य के समान प्रतापी था। यहाँ धर्म और विज्ञान में गहरा सम्बन्ध था। मन्दिर निरीक्षण गृह (वेधशाला) भी था जिसके शिखर पर से ताराओं, ग्रहों आदि की गति देखी जाती थी। पुरोहित आजकल के जैसा पिछड़े हुए नहीं होते थे। वे केवल धार्मिक गुरु ही नहीं थे, वे सत्य के शोधक और आविष्कार-कर्त्ता भी थे। वे संस्कृति की थाती के रक्षक थे और सभ्यता के पोषक। वे साम्राज्य-संस्थापक और राजनीतिक नेता भी होते थे। मन्दिर के निकट की भूमि के वे ही मालिक होते थे और नगर-राज्यों का शासन प्रबन्ध भी करते थे। एरेक नामक एक विस्तृत साम्राज्य का प्रबन्ध-कर्त्ता एक पुरोहित था जिसका वर्णन निप्पड़ के एक शिला लेख में मिलता है। वध होने वाले पशुओं के हृदय पर के चिन्हों और ताराओं की गति देख कर वे भविष्य वाणी भी करते थे। आगे चलकर केल्डियों ने गणित और ज्योतिष शास्त्र को और अधिक विकसित किया। विज्ञान के विकास में सुमेरियन और बेबीलोनियन लोगों का ही विशेष हाथ है। सुमेरियन प्रधानतः शोधक थे और बेबीलोनियन व्यावहारिक। मन्दिर में एक विशेष प्रकार का भाग होता था जो गुम्बज या जिग्गुरात कहलाता था। यह स्तम्भ के आकार का होता था और इसमें भी कई मंजिल होते थे। नीचे से ऊपर की ओर यह क्रमशः पतला होता जाता था। ऊपर जाने के लिये बाहरी भाग में सीढ़ियाँ बनी रहती थीं। उन पर चढ़ कर ज्योतिषाचार्य आकाश मण्डल को देखते और अध्ययन करते थे। बोर सिप्पा का जिग्गुरात एक विचित्र प्रयोग

शाला था। इसकी ७ सीढ़ियां, ७ ग्रहों और ७ दिनों के प्रतीक थीं। बेबीलोनिया ने पहिये और घिरनी, नाप और तौल का प्रयोग किया था। उसी की व्यवस्था के आधार पर मास को ४ सप्ताह में, घंटे को ६० मिनट और मिनट को ६० सेकण्ड में बाँधा गया है। ग्रहों के लगने का समय भी लोगों को मालूम होने लगा था।

इस तरह मेसोपोटेमिया के देवालय केवल धार्मिक-स्थान ही नहीं थे बल्कि उसके हाते में पूरी दुनिया रहती थी जहाँ सब कुछ प्राप्त थे। वहाँ धर्मस्थान, विद्यालय, प्रयोग-शाला, हाट आदि सब कुछ थे। मिश्र वासियों की तरह यहाँ के लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त में नहीं विश्वास करते थे।

शासन और समाज

यह पहले ही देखा जा चुका है कि सुमेरिया नगर-राज्यों में बँटा हुआ था। प्रत्येक नगर-राज्य स्वतन्त्र था और उसका कानून, देवता, शासक सब पृथक्-पृथक् था। सभी नगर-राज्य आपस मे लड़ते थे किन्तु साम्राज्य-स्थापना के साथ एकता स्थापित हुई। शासन का प्रधान सम्राट् था लेकिन वह कठोर और अन्यायी नहीं था। कानून और नियमों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सुमेरिया में ये कानून ईंटों और पत्थरों पर अंकित किये जाते थे। पत्थर की बनी मुहर होती थी जिसकी छाप कानूनी कागजों पर दी जाती थी।

बेबीलोनिया ने सुमेरियन परम्परा को कायम रखा और उसमें उन्नति भी की गई। हम्मूराबी सबसे अधिक अपनी संहिता के लिये ही इतिहास में प्रसिद्ध है। वह प्रथम व्यवस्थापक था जिसे बेबीलोन का जस्टीनियन कहा जा सकता है। उसने अब तक के बिखड़े हुये कानूनों को एकत्रित कर लिपिबद्ध कर दिया। इसकी दो विशेषताएँ हैं—यह बहुत ही सक्षेप में है और साथ ही इतना व्यापक है कि जीवन के लगभग सभी विषयों की इसमें चर्चा है। ८ फीट ऊँचे पत्थर पर सेमिटिक भाषा में संग्रहीत कानून खोदे गये हैं।

उस समय का हाल जानने के लिये यह संहिता एक बहुमूल्य विश्वसनीय स्रोत है जिसकी तुलना भारतीय मनुस्मृति से की जा सकती है। इसमें प्राचीनता और आधु-निकता दोनों ही का समन्वय था। गरीबों, विधवाओं और कमजोरों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कर की वसूली कड़ाई से होती थी। घूस के विरुद्ध कड़े कानून थे। राजा के यहाँ अपील हो सकती थी। लेकिन कुछ ऐसे नियम थे जो आज बड़े ही भद्दे मालूम होते हैं। खून के बदले खून वाला सिद्धान्त लागू था। यदि मकान के गिरने से लड़का मर जाता तो मकान-मालिक मकान-निर्माता के लड़के को प्राणदण्ड दिलवाने का अधिकारी होता था। इस कानून संग्रह से शासन बहुत व्यवस्थित हो गया। वाणिज्य-

व्यापार में दिनोंदिन उन्नति होने लगी। बेबीलोन के आयात-निर्यात में वृद्धि हो गई। सुमेरिया तथा बेबीलोनिया में व्यापार की दशा उन्नत थी किन्तु असीरिया में कृषि की प्रधानता थी।

असीरियों ने भी अपूर्व ढंग से अपना शासन संगठित किया था। लेकिन उनमें बर्बरता भी भरी हुई थी और सभ्यता की अनेक बुरी चीजें उन्हीं से प्राप्त हुईं। वे युद्ध और हिंसा-प्रिय व्यक्ति थे और सैन्य-संगठन, केन्द्रीय-शासन और प्रजा-शोषण उनकी विशेषतायें थीं। निष्ठुरता उनकी बड़ी कमजोरी थी। उनका दण्ड विधान अमानुषिक था। प्राण-दण्ड, जीवितावस्था में खाल खींच लेना, कोड़े लगाना, अंग भंग करना, आदि इसके प्रधान अंग थे।

पहले ही बताया जा चुका है कि समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था—उच्च, मध्यम और निम्न। निम्न श्रेणी में गुलाम थे जो अन्य दो श्रेणियों के लोगों के सेवक थे। उनकी अपनी कोई हस्ती नहीं थी। वे स्वामी की सम्पत्ति माने जाते थे और उनका क्रय-विक्रय होता था लेकिन उन्हें सम्पत्ति इकट्ठा करने तथा अपनी स्वतन्त्रता खरीद लेने का अधिकार था। वे स्वतन्त्र स्त्री से शादी सम्बन्ध कर सकते थे और इनसे उत्पन्न सन्तानें स्वतंत्र समझी जाती थीं।

स्त्रियाँ

यूनान की अपेक्षा मेसोपोटेमिया में स्त्रियों की दशा अच्छी थी। उनके कई अधिकारों का राजनियमावली में उल्लेख किया गया था। उन्हें तलाक करने और सम्पत्ति में भाग लेने का अधिकार था। किन्तु मिश्री स्त्रियों की तुलना में उनकी दशा समुन्नत तथा सन्तोषजनक नहीं थी। सुमेरिया तथा बेबीलोनिया की अपेक्षा असीरिया की स्त्रियों की स्थिति अधिक बुरी थी। स्त्रियों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं थी। समाज में वेश्या तथा रखेलियाँ रखने की प्रथा प्रचलित थी, पुरुष कई स्त्रियाँ रख सकता था किन्तु स्त्रियों को दूसरा पति रखने का अधिकार नहीं था। असीरिया में लड़कियों की खरीद-बिक्री भी होती थी।

मेसोपोटेमिया की देन

मिश्र की सभ्यता के समान मेसोपोटेमिया की सभ्यता स्थायी न रही। मेसोपोटेमिया की सभ्यता के अस्थायी होने के ३ कारण थे।

(क) भौतिकता की प्रधानता—इस सभ्यता में भौतिकता की प्रधानता थी, विषया शक्ति का प्राबल्य था। "खाओ, पीओ और आनन्द करो" यही सिद्धान्त था। अतः लोगों में नैतिकता का विकास नहीं हुआ।

(ख) स्त्रियों का अपमान—यहाँ के समाज में स्त्रियों का समुचित स्थान नहीं था।

वे भोग-विलास की ही पात्र थीं। भ्रष्टाचार क्रमशः बढ़ता गया। देवालयों में वैध वेश्या-वृत्ति जैसा पेशा कायम हो गया था।

(ग) युद्ध की मनोवृत्ति—असीरियन तो युद्ध और हिंसा के कट्टर समर्थक थे। युद्ध वातावरण में भ्रष्टाचार का ही प्रचार होता था। घेरे के समय बेबीलोनिनों ने रसद की कमी के कारण अपनी स्त्रियों तक को मार डाला था। हीरोडोटस का ऐसा मत है।

फिर भी ऊसर में बीज के समान मेसोपोटेमिया की सभ्यता बिलकुल निष्फल नहीं रही। "५ वीं सदी ई० पूर्व तक मिश्रियों तथा बेबीलोनिनों के जो संचित अनुभव थे वे निकट पूर्व के लोगों के सामूहिक वैभव के रूप में परिवर्तित हो गये।"[1] वर्तमान युग में भी विधान, जन्त्री, समय का विभाजन, नाप-तौल, पहिये, घिरनी और गेहूँ की उपज आदि बातें उसी सभ्यता की याद दिलाती हैं।

---

[1] वेबस्टर

अध्याय ६

सिन्धु घाटी की सभ्यता—भारतवर्ष

हड़प्पा तथा मोहेनजोदाड़ो

भूमिका

लगभग ३ शताब्दियों के पहले तक कई इतिहासवेत्ताओं का मत रहा था कि भारतवर्ष में आर्यों के आगमन के बाद ही इस देश की सभ्यता का इतिहास शुरू होता है। आर्यों का इस देश में आगमन लगभग २००० वर्ष ई० पू० में हुआ था। किन्तु विद्वानों को अब यह मत बदलना पड़ा है। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग और कुछ प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों के सतत् शोध और साधना के फलस्वरूप भारत की और
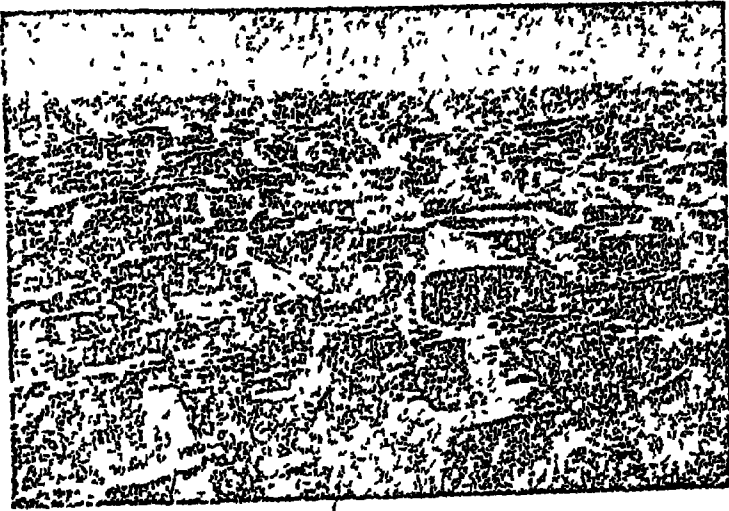
चित्र १७—मोहनजोदड़ो के भग्नावशेष

भी अधिक प्राचीन सभ्यता का पता लगा है। इस सभ्यता के मुख्य केन्द्र थे—हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो। हड़प्पा ग्राम पश्चिमी पंजाब प्रांत के मौन्टगोमरी जिले में रावी नदी के तट पर स्थित है। यह लाहौर से लगभग १२० मील और मोहेनजोदड़ो से ४०० मील की दूरी पर है। मोहेनजोदड़ो का अर्थ है—मृतकों का नगर। यह सिन्ध प्रांत के लरकाना जिले में स्थित है। इस तरह वर्तमान समय में प्राचीन सभ्यता और गौरव के ये दोनों स्थान पश्चिमी पाकिस्तान के अन्तर्गत चले गये हैं। हड़प्पा में १९२१ ई० में श्री दयाराम सानी और दूसरे साल मोहेनजोदड़ो में श्री आर० डी० बनर्जी ने शोध और अनुसन्धान का कार्य प्रारम्भ किया था। यह कार्य १० वर्षों तक चलता रहा जबकि १९३१ ई० में बुरी आर्थिक स्थिति के कारण कार्य स्थगित कर देना पड़ा। लेकिन इतने

ही समय के शोध से बहुत चीजें जमीन सेखोदकर निकाली गई हैं। इस कार्य में पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी सर जॉन मार्शल ने भी बड़े ही उत्साह के साथ हाथ बँटाया। खुदाई में मकान के ५, ६ सतह मिले हैं। अतः इस सभ्यता का विकास कई सदियों से गुजरा होगा। इस प्राचीन सभ्यता का काल लगभग ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० बताया जाता है। लेकिन इस अवधि में सभ्यता अपनी शैशवावस्था से निकल कर युवावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। इस तरह सिन्धु घाटी की यह सभ्यता नील और दजला-फरात की घाटियों के समकालीन थी। किन्तु प्राचीनता के ख्याल से कुछ लेखकों ने सिन्धु घाटी को ही मानव सभ्यता का प्रथम केन्द्र माना है। नवीनतम अनुसन्धानों के आधार पर इसका प्रारम्भ काल लगभग ६००० ई० पू० बताया जाता है। लेकिन भारत की यह सभ्यता सिन्धु की घाटी में ही नहीं सीमित थी, कुछ अन्य स्थानों में भी इस सभ्यता के अवशिष्ट चिन्ह मिले हैं। चन्हुदाड़ो, अम्री, रूपर आदि जगहों में भी खुदाई का कार्य हुआ है। अतः सभ्यता के व्यापक क्षेत्र को देखकर कुछ विद्वान् इसे सिन्धु की घाटी की सभ्यता न कह कर प्राचीन भारत की सभ्यता या भारत की प्राचीन सभ्यता कहना अधिक अच्छा समझते हैं।

भौगोलिक प्रभाव

सिन्धु की घाटी में सभ्यता के विकास के लिये भौगोलिक स्थिति अनुकूल थी। यह चारों ओर से प्राकृतिक सीमाओं से घिरी हुई थी। यह पहाड़, मरुभूमि तथा समुद्र के बीच में स्थित थी। अतः बाहरी आक्रमण का कोई भय नहीं था जिससे सभ्यता के निर्बाध विकास में रुकावट की आशंका नहीं हो सकती थी। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि वर्तमान काल की भाँति प्राचीन काल में सिन्धु नदी के भू भाग की जलवायु नहीं थी। उस समय इसकी जलवायु सम शीतोष्ण थी जिसके निवासी कड़ी मेहनत कर सकते थे। भूमि भी उर्वरा थी जिससे अन्न की उपज अच्छी होती थी।

अन्य सभ्यताओं से सम्पर्क

यद्यपि सिन्धु नदी के चारों ओर प्राकृतिक सीमाएँ थीं फिर भी वे अनुल्लघनीय नहीं थीं। तत्कालीन संसार के अन्य भागों से भी सम्पर्क बना था। मिश्र, मेसोपोटेमिया और क्रीट की सभ्यताओं और भारत की सभ्यता में बहुत कुछ समता पायी जाती है। सुमेरिया की सभ्यता के साथ तो इतना साम्य पाया जाता है कि यह ठीक से नहीं कहा जा सकता है कि सुमेरिया ने भारत को या भारत ने सुमेरिया को इस दिशा में प्रभावित किया है। कुछ लोग सिन्धु निवासी को सुमेरियनों के ही सगे-संबंधी बतलाते हैं तो कुछ लोगों का अनुमान है कि सुमेरियन सभ्यता भी सिन्धु सभ्यता की ही शाखा थी। जो भी हो, इतना निश्चित है कि मेसोपोटेमिया, मिश्र और क्रीट के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था।

प्रकृति

अब तक जितना अनुसन्धान कार्य हो गया है उससे पता चलता है कि इस प्राचीन भारतीय सभ्यता का विकास शान्तिपूर्ण ढंग से हुआ है। प्राचीन समय की दूसरी सभ्यताओं की अपेक्षा इसका नैतिक स्तर ऊँचा था। भग्नावशेषों में साम्राज्य, युद्ध और सैन्य-संगठन सम्बन्धी कोई वस्तु नहीं मिलती है। ढाल, कवच तथा तलवार का सर्वथा अभाव है। यहाँ तक कि राजाओं या सम्राटों के नाम का पता नहीं है। खण्डहरों में भव्य राज-भवनों या मन्दिरों के अवशेष अब तक नहीं प्राप्त हो सके हैं। केवल धनुष-बाण, गदा, कुल्हाडी और भाले जैसे कुछ शस्त्र मिले हैं जिनका व्यवहार अपनी सुविधा और रक्षा के हेतु किया जाता था। इस तरह मेसोपोटेमिया और मिश्र के निवासियों से यहाँ के निवासी भिन्न थे। वे वाणिज्य-व्यवसाय कला-कौशल की ही उन्नति कर अपने देश को समृद्धिशाली और सुखी बनाना चाहते थे और इसी में अपना गौरव समझते थे। इस प्रकार सिन्धुघाटी की सभ्यता एवं संस्कृति शान्तिपूर्ण ढंग की थी। साथ ही यह नागरिक और लौकिक ढग की भी थी। यहाँ के निवासी ग्राम्य जीवन नहीं, नागरिक जीवन व्यतीत करते थे और वे प्रत्येक चीज को उपयोगिता की दृष्टि से देखते थे। अतः उनके समाज में मूर्त्तियों, सार्वजनिक मन्दिरों या वेदियों का अभाव पाया जाता है और वे कोई विशेष प्रकार के साहित्य या दर्शन नहीं उत्पन्न कर सके। उनके समाज में समानता सिद्धान्त प्रचलित था और उनकी राजनीतिक व्यवस्था प्रजातन्त्र के आधार पर अवलम्बित थी।

नगर-व्यवस्था

अभी बताया गया कि इस सभ्यता मे राजा या सम्राट के लिये स्थान नहीं था। प्राचीन निवासियों की भाँति भारतवासी भी नगर-राज्यों मे संगठित थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो दोनों स्वतंत्र नगर-राज्य थे। नगरों को देखने से मालूम होता है कि वे आधुनिक ढंग पर बने थे। निश्चित योजना के अनुसार उनका निर्माण होता था। सड़कें सीधी और चौड़ी होती थीं। मुख्य सड़कें ११ गज और दूसरी सड़कें ६ गज तक चौड़ी होती थीं। सीधी पंक्तियों में मकानों का निर्माण होता था। दो पंक्तियों के बीच चौड़ी गली और दो मकानों के बीच सकरी गली छोड़ने की प्रथा थी। गलियाँ ६ फीट तक चौड़ी होती थीं।

मकानों के निर्माण में सफाई और सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। मकान साधारणतः ऊँचे धरातल या निर्मित चबूतरे के ऊपर बनते थे। ऐसे मकान बाढ़ के संकट से सुरक्षित होते थे। उनमें कई कमरे और खिड़कियाँ होती थीं, केवल बाहरी दिवाल में सड़क की ओर खिड़कियाँ नहीं लगायी जाती थीं। मकान प्रायः दो मञ्जिले होते थे। नीचे के भाग में रसोई होती और नौकर-चाकर रहते और ऊपर के भाग में परिवार के लोग रहते। मकान के अन्दर एक आँगन होता था जिसमें कुएँ का प्रबन्ध

रहता था। कुएँ के सिवा स्नानागार भी रहता था। पानी के निकल जाने के लिये नालियाँ बनायी जाती थीं। यह पानी सड़क पर जाकर जमा नहीं होता बल्कि भूमि के नीचे बनी नालियों के द्वारा किसी निश्चित गढ़े में जाकर गिरता। सड़क के नीचे एक बड़ी नाली होती थी जिसमें आस-पास से छोटी-छोटी नालियाँ आकर मिल जाती थीं। कूड़ा-कर्कट भी एक स्थान पर जमा किया जाता था और समय-समय पर इन स्थानों और नालियों को साफ किया जाता था। सम्भवतः आधुनिक नगर-सभा जैसी किन्तु इससे निपुण कोई संस्था थी जो ऐसा उत्तम प्रबन्ध करती थी। व्यक्तिगत स्नानागार के सिवा सार्वजनिक स्नानागार भी होते थे। मोहेनजोदड़ों में एक विस्तृत सार्वजनिक स्नानागार मिला है जो ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट ऊँचा है। इसके निकट ही एक बड़ा कुँआ था जिससे स्वच्छ पानी आने का प्रबन्ध था। गन्दे पानी के निकास के लिए एक सूराख भी बना था।

एक बड़ा तालाब भी पाया गया है। हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो दोनों नगरों में कुछ भव्य और विशाल भवन भी बने थे। मोहेनजोदड़ो का एक भवन २४२ फुट लम्बा और ११ फुट चौड़ा था और इसकी दीवार की मुटाई ५ फुट थी। यह सार्वजनिक सभा उत्सव आदि के काम में लाया जाता होगा। भवनों, स्नानागारों, तालाबों और नालियों के निर्माण में पकी हुई मजबूत ईंटों का व्यवहार किया जाता था। ईंटें धूप में सुखाई जातीं या आग में पकाई जाती थीं।

नालियों की व्यवस्था, स्नानागारों का व्यवहार और पक्की ईंटों का उपयोग समकालीन सभ्यताओं में नहीं पाये जाते। एक बात में और भिन्नता दीख पड़ती है। भारतीयों की निर्माण कला में उपयोगिता ही विशेष दीख पड़ती है, तड़क-भड़क तथा कृत्रिमता नहीं। उनकी शैली में एकरूपता थी और उनके खम्भ समचतुर्भुज आकार के होते थे। भवनों की दीवारों पर किसी प्रकार के चित्रादि नहीं होते थे, केवल दरवाजे और खिड़कियों पर कुछ मामूली तरह के चित्र होते थे। मिश्र और मेसोपोटेमिया में इस सादापन और उपयोगितावाद का अभाव था। अतः सिन्धुघाटी की सभ्यता जानने के लिये भवनों को नहीं बल्कि मृतकों के अस्थिपंजर और धातु के बर्तनों, शस्त्रों, आभूषणों, खिलौने, मुहरों और यन्त्रों को देखना पड़ता है।

कला-कौशल

सिन्धु निवासी कला प्रेमी थे। बर्तनों, आभूषणों और खिलौनों पर भारतीय सुन्दर चित्र खींचते थे और कई रंगों का उपयोग करते थे। चित्रकला और नृत्यकला में वे निपुण थे। उनके चित्र सुन्दर और भावपूर्ण होते थे। कुछ चित्र ऐसे कलापूर्ण थे कि उन्हें देखकर "ईसा के पूर्व ४ सदी का ग्रीक भी गर्व अनुभव करता।[1]" एक नर्तकी की मूर्ति

[1] सर जॉन मार्शल

मिली है। यह काँसे की मूर्ति है जिसमें नर्तकी दायें पैर पर खड़ी हो बाँयें पैर को सामने की ओर झुकाये है। यह इतनी सजीवतापूर्ण एवं हृदयग्राही है कि कोई भी देखकर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। विविध धातुओं से विविध प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे। सोना का प्रयोग होता था। भिन्न-भिन्न आकार के मिट्टी के बर्तन और अन्न रखने के लिये बड़े-बड़े घड़े थे। कभी-कभी बर्तनों पर आदमी या जानवर के चित्र बनाये जाते थे। मुहरों पर बन्दर, साँड़, हाथी, हरिण और जहाज के चित्र मिलते हैं। सूती और ऊनी कपड़े बुने और रंगे जाते थे। भिन्न-भिन्न आकार के छुरे बनते थे। ताँबे, पत्थर और लकड़ी के अन्य हथियार बनाये जाते। किन्तु अभी लोगों को लोहे का परिचय नहीं था। समाज में सोनार, बढ़ई, राज और जुलाहे प्रसिद्ध थे।

आर्थिक जीवन

अभी जैसे कहा गया, विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे होते थे। कृषि उन्नत दशा में थी किन्तु सिन्धु घाटी में नहरों का अभाव था। इससे अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में अधिक वर्षा होती होगी। गाय, भैंस, भेड़, सुअर और मुर्गी पाले जाते थे। भालू तथा बन्दर की हड्डियाँ भी मिली हैं। घोड़े का व्यवहार नहीं होता था। वे जल और थल के रास्ते विदेशों से व्यापार करते थे और नाप-तौल के लिये तराजू तथा बटखरे का प्रयोग करते थे। मालों का आयात-निर्यात होता था। कई वस्तुएँ बाहर से मँगाई जाती थी जैसे काश्मीर से बारहसिंगा, मैसूर से पत्थर, दक्षिण भारत से सुवर्ण आदि। मेसोपोटेमिया में गुरिया, मुद्रा, मिट्टी के पात्र और मोहरें मिले हैं। यहाँ से सुमेर, बेबीलोन तथा मिश्र में मिट्टी के बर्तन भेजे जाते थे। व्यापारी अपनी मुहरें रखते थे। हुण्डी तथा साख की प्रथाएँ प्रचलित थीं। लोगों का आर्थिक जीवन सन्तोषजनक था। सर्वसाधारण भी आराम तथा चैन के साथ अपना जीवन बिताते थे। वे दुनियाँ के अन्य भू भागों के निवासियों की अपेक्षा अधिक सुखी-सम्पन्न थे।

मुहरों की खुदाई और व्यापार की उन्नति से यह स्पष्ट है कि वे लिखना-पढ़ना भी जानते थे। उनकी लिपि चित्र जैसी ही है और यह दायें से बायें की ओर लिखी जाती थी। किन्तु विद्वान लोग उसे अभी तक ठीक-ठीक पढ़ नहीं पाये हैं।

रहन-सहन

यहाँ के निवासी मांस तथा अन्न दोनों ही भोजन करते थे और शरीर से मजबूत होते थे। समाज में धनी, गरीब दोनों प्रकार के लोग थे। सभी आभूषणों का व्यवहार करते थे—धनी लोग बहुमूल्य धातुओं और गरीब लोग साधारण धातुओं के बने आभूषण पहनते थे। मिट्टी, हड्डी, ताँबे, चाँदी और सोने के गहने बनते थे। पुरुष और स्त्री दोनों ही आभूषणों के शौकीन थे किन्तु पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक गहनों के

लिये उत्सुक थीं। डाँर, पहुँचा, भुजा, गला, नाक और कान के आभूषण अधिक प्रचलित थे। चूड़ियों तथा अँगूठियों का विशेष प्रयोग होता था। तरह-तरह के खिलौने होते थे जो ताँबे और अधिकतर मिट्टी से बनाये जाते थे। अधिकांश खिलौने जानवरों के स्वरूप के होते थे। नाच, शतरंज और जुए के खेल में लोगों को विशेष अभिरुचि थी। स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी आमोद-प्रमोद में शामिल होते थे। इनके सिवा मुर्गों के युद्ध और शिकार मनबहलाव के साधन थे। लोग सूती कपड़े का विशेष व्यवहार करते थे। पुरुषों में चादर ओढ़ने की प्रथा थी। वे दाढ़ी रखते थे लेकिन ऊपरी भाग के केश को काटते थे। स्त्रियाँ अपने बालों को सँवारती थीं। वे मृतकों को जलाते और गाड़ते थे। जलाने के बाद उनकी हड्डियों तथा राख को किसी पात्र में रखकर गाड़ दिया करते थे। कभी-कभी मृतकों को पशु-पक्षियों के सामने छोड़ दिया जाता था। मुर्दों के साथ जीवन के सभी आवश्यक वस्तुओं को भी गाड़ दिया जाता था। मेसोपोटेमिया तथा मिश्र में भी यह प्रणाली थी। सिन्धु घाटी में गाड़ने की प्रथा ही विशेष प्रचलित थी।

धर्म

मिट्टी, पत्थर या धातु-पात्र पर बने चित्रों से इनके धर्म के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इसमें कृत्रिमता का अभाव था। मुहरों के अंकित चित्रों से मालूम होता है कि ये प्रकृति को मातृ देवी के रूप में पूजते थे। बाद में 'शक्ति की पूजा होने लगी। आधुनिक काल में शक्ति को ही दुर्गा, चंडी या काली के नाम से पुकारा जाता है। हड़प्पा में एक मुहर मिली है जिस पर योग की स्थिति में एक देवता का चित्र है। उसके ३ सिर और सींग हैं और उसके चारों ओर १ हाथी, १ गैंडा, २ हरिण, १ बाघ और १ भैंस नाम के जानवर हैं। जॉन मार्शल ने उसे शिव का प्रतीक माना है किन्तु उसमें शिव का वाहन बैल नहीं मिलता है। सिन्धुवासी नाग, वृक्ष, नदी आदि की भी उपासना करते थे। मुहरों पर लिंग और स्वस्तिका के चिह्न भी पाये जाते हैं। इस प्रकार हिन्दू धर्म की कई बातें इस धर्म में पाई जाती हैं।

सैन्धव सभ्यता के निर्माणकर्ता

सिन्धु निवासी कौन थे और उनकी सभ्यता का कब और कैसे विनाश हुआ? ये विद्वानों के बीच विवाद के विषय हैं। कुछ लोग उन्हें द्रविड समझते हैं तो कुछ लोग आर्य। कुछ लोग उन्हें सुमेरियनों की ही एक शाखा मानते हैं क्योंकि दोनों की सभ्यताओं में बहुत समता पाई जाती है। शोधों से मालूम होता है कि वे आर्य कदापि नहीं थे बल्कि उनके शत्रु थे। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार सिन्धु निवासी द्रविड थे।

सभ्यता का विनाश

२५ वीं सदी ई० पूर्व के लगभग इस उच्च नागरिक सभ्यता का अंत हो गया। कुछ विद्वानों के विचारानुसार सिन्धु नदी की बाढ़ या भूकम्प के कारण नगर धाराशायी हो गये। कुछ लोगों का मत है कि आर्यों ने द्रविड़ों पर आक्रमण कर उनके नगरों को मटियामेट कर दिया। यह भी सम्भव है कि भौगोलिक स्थिति में क्रमशः परिवर्तन होने के साथ-साथ जलवायु प्रतिकूल हो गई हो और इससे सभ्यता का ह्रास हुआ हो। इन सभी बातों में तथ्य है। अतः किसी की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

अध्याय ७

गंगा घाटी की सभ्यता—भारतवर्ष (१)

आर्यों का प्रसार

लगभग २००० ई० पूर्व और १००० ई० पूर्व के मध्य आर्यों का भारत में आगमन हुआ। परन्तु, मद्र तथा योन शाखाओं के आर्य पहले भारत में ही बसे, तत्पश्चात् अन्य स्थानों में बँटे। शुरू में आर्यों और मूल निवासियों में मुठभेड़ हुई जिसमें आर्य सफल रहे। मूल निवासियों की सेना में विशेष पदचर थे और वे काँसे के अस्त्र का व्यवहार करते थे। आर्यों की सेना में घुड़सवार थे और वे लोहे के शस्त्र चलाते थे। इसी से एक की हार और दूसरे की जीत हुई। सम्पूर्ण उत्तर भारत में आर्यों की धाक जम गई और यह आर्यावर्त के नाम से प्रसिद्ध हो गया और यह युग वैदिक युग कहलाने लगा। पूर्व और दक्षिण की ओर आर्यों का प्रसार क्रमशः जारी रहा। ५०० ई० पूर्व तक सम्पूर्ण देश पर आर्यों का अधिकार हो गया और यह भारतवर्ष कहलाने लगा। १०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक के काल को महाकाव्य युग कहते हैं क्योंकि रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य की रचना इसी काल में हुई। रामायण में लंका की विजय और महाभारत में कौरव-पाण्डव युद्ध का वर्णन है। आर्यों ने कई छोटे-छोटे राज्यों को स्थापित किया था जो अपने-अपने राज्य-विस्तार के लिये परस्पर लड़ा करते थे। अन्त में ४ राजवंशों का राज्य प्रमुख रहा—मगध में शिशुनाग वंश, कौशाम्बी में पौरव वंश, कौशल में इक्ष्वाकु वंश और अवन्ती में प्रद्योत वंश। तत्-पश्चात् मगध सर्वप्रधान हो गया।

६००-३२१ ई० पूर्व तक मगध मे नन्द वंश का शासन था। अन्तिम राजा महापद्मनन्द था जिसके समय में सिकन्दर महान् ने पंजाब पर आक्रमण किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य महापद्मनन्द का वध कर ३२१ ई० पूर्व में मगध की गद्दी पर बैठा और उसी ने प्रथम संगठित भारतीय साम्राज्य की नींव खड़ी की—नौकरशाही साम्राज्य-वाद का बीज वपन किया।

वैदिक युग की सभ्यता

भूमिका

आर्यों के भारत में आगमन के समय यहाँ के आदि निवासी द्रविड़ थे। आर्यों ने

उन्हें दस्यु, मांस-भक्षक और देव-हीन असभ्य कहा है; किन्तु ऐसी बात नहीं थी। द्रविड़ कोरे जंगली नहीं थे। वे घर-बार बनाकर रहते थे और नदी, पत्थर, नाग आदि चीजों की पूजा भी करते थे। अतः आर्यों और द्रविड़ों (अनार्यों) की सभ्यताओं में संघर्ष हुआ और इस संघर्ष के परिणामस्वरूप एक उच्च श्रेणी की सभ्यता का विकास हुआ जिसे भारतीय या हिन्दू सभ्यता कहते हैं। चूँकि आर्य अनार्यों से अधिक बढ़े-चढ़े थे अतः उन्हीं का प्रभाव विशेष रहा।

शासन व्यवस्था

प्राचीन भारत में जनतंत्र और राजतंत्र दोनों ही प्रकार के राज्य थे। ऋग्वेद में ऐसे श्लोक हैं जो जनतांत्रिक भावना के द्योतक हैं। जनतंत्र लोक मत के आधार पर संगठित थे और इससे जनता को राजनैतिक शिक्षा प्राप्त होती थी। प्रत्येक ग्राम में एक-एक पंचायत होती थी जो ग्राम का सारा प्रबन्ध करती थी। शिक्षा, सुरक्षा, सड़क, तालाब, मन्दिर, चुनाव आदि बातों के लिये यही उत्तरदायी थी। छोटे-मोटे झगड़ों का निर्णय भी पंचायत कर लेती थी।

राजा भी निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं था। राजा पर जनता का नियंत्रण रहता था। जनता ही राजा को चुनती थी और वह उसे पदच्युत भी कर सकती थी। राजा को सहायता देने के लिए परामर्शदाता होते थे जिन्हें मिलाकर मन्त्री परिषद् कहा जाता है। जनता की एक महासभा होती थी। राजा और मन्त्री परिषद् इस महासभा के अधीन होते थे। इसकी स्वीकृति के बिना वे कोई कार्य नहीं कर सकते थे। प्राचीन परम्परा को भी मानना पड़ता था। राजा का प्रधान काम युद्ध का सचालन और न्याय करना था। अतः शक्तिशाली व्यक्ति ही को राजा बनाया जाता था। दण्ड विधान कठोर नहीं था। प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था और संसार की अन्य प्राचीन जातियों के अनुसार हत्यारे से जुर्माना के रूप में धन लेकर छोड़ दिया जाता था। उत्तर वैदिक काल में राजाओं की शक्ति बहुत बढ़ गयी और उन पर नियंत्रण कम हो गया। अपने पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण कर राज्य विस्तार की लिप्सा बढ़ने लगी और विजयी होने पर राजा राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करते थे।

सामाजिक जीवन

प्रारम्भ में आर्य जाति साधारण कृषकों की जाति थी। वे प्रधानतः ग्रामीण थे। उनमें पहले दो वर्ण हुए—आर्य और अनार्य। आर्य अनार्यों से घृणा करते थे किन्तु क्रमशः दोनों का मिश्रण होने लगा। समय गति के साथ श्रम विभाजन के आधार पर आर्यों में वर्ग उत्पन्न होने लगा था। इस तरह ४ वर्ग कायम हो गये—ब्राह्मण जिनका काम था अध्ययन, यज्ञ आदि करना-कराना, क्षत्रिय जो युद्ध करते थे, वैश्य जो व्यापार और खेती-बारी करते थे और शूद्र जो अन्य तीन वर्गों की सेवा करते थे। शूद्र में

अधिकतर अनार्य और पराजित लोग थे। ब्राह्मणों का समाज में मानमर्यादा था किन्तु अभी वर्णों में जटिलता और भेदभाव का अभाव था और परस्पर परिवर्तन हो सकता था। क्रमशः जटिलता पैदा होती गई और कर्म के बदले जन्म के आधार पर इसका विभाजन समझा जाने लगा। मनुष्य का औसत जीवन १०० वर्ष समझा जाता था। अतः व्यक्तिगत जीवन ४ भागों में बाँट दिया गया था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास। समाज में स्त्रियों का बहुत सम्मान था। पुरुष और स्त्री दोनों के अधिकार बराबर थे। पर्दा या सती प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियाँ तर्क करने में पुरुषों से टक्कर लेती थीं। वे धार्मिक कृत्यों में पुरुषों के साथ भाग लेती थीं। वे अपना पति स्वयं चुनती थीं। विवाह का आदर्श बहुत उच्च था क्योंकि वह एक धार्मिक बंधन समझा जाता था। विवाह आठ प्रकार का माना जाता था—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें प्रथम चार विशेष प्रचलित थे। किन्तु पहली विवाह प्रथा सर्वोत्तम श्रेणी में गिनी जाती थी। साधारणतः एक विवाह का नियम था। किन्तु समय गति के साथ स्त्रियों का स्थान नीचा होता गया और बहुविवाह की प्रथा चल पड़ी। पहले विधवा को पुनर्विवाह करने में कोई बाधा नहीं थी किन्तु कालान्तर में पुनर्विवाह पर रोक लगाकर सती प्रथा चला दी गई। असवर्ण विवाह में कोई रोक-टोक नहीं था। आर्यों का खान-पान, पहनावा सादा था। पुरुष धोती, चादर तथा पगड़ी का व्यवहार करते थे। स्त्रियाँ साड़ी और चोली पहनती थीं। वे मांसाहारी और शाकाहारी दोनों ही थे। वे दूध-दही, घी, फल-फूल, माँस-मछली आदि खाते थे। सोमरस और सुरा (शराब) उनके मुख्य पान थे। लेकिन जैन, बौद्ध तथा वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव से शाकाहार का महत्व बढ़ने लगा था। ऊनी, सूती, रेशमी कपड़े का व्यवहार होता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। कंकण, कण्ठहार, केयूर, अंगूठी, नूपुर आदि प्रधान आभूषण थे। केश सँवारने की प्रथा थी। तेल, अंगराग, पाउडर आदि विविध प्रसाधनों का प्रयोग किया जाता था। संगीत, नृत्य, जुआ, शतरंज घुड़दौड़, रथदौड़ आदि उनके मनोरंजन के साधन थे। वे अपने मृतकों को जलाते थे किन्तु द्रविड़ों में गाड़ने की भी प्रथा थी। वे तीन प्रकार के जन्मों को मानते थे। उनके विचार से प्रथम जन्म माता-पिता से, द्वितीय जन्म धार्मिक कार्यों के सम्पादन से और तृतीय स्वर्गीय जन्म शव को अग्नि में जलाने से होता है। प्रारम्भिक अवस्था में आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त स्थापित नहीं हुआ था।

आर्थिक जीवन

आर्यों की जीविका के मुख्य साधन खेती और पशु पालन थे। जौ और गेहूँ अधिकतर पैदा होते थे। गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी और कुत्ते पाले जाते थे। वे घोड़े

भी रखते थे और युद्ध में इनसे काम लेते थे। विविध दस्तकारियाँ भी प्रचलित थीं। बढ़ई, लोहार, सोनार और हज्जाम का स्थान मुख्य था। प्रत्येक समुदाय प्रमुख व्यवसायी संघ में सगठित था। व्यापार की—आन्तरिक और वैदशिक-क्रमशः उन्नति हो रही थी। और वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। भूमध्य सागर के तटीय प्रदेशों, एशिया के दक्खिन-पूर्वी भागों और चीन से व्यापारिक सम्पर्क था। भोग-विलास की चीजें रोमन साम्राज्य में जाती थीं और वहाँ से सोना लाया जाता था। बहुत से रोम के सिक्के दक्खिनी भारत में पाये जाते हैं। जहाज निर्माण का कार्य खूब होता था। जहाज विस्तृत और मजबूत होते थे।

धर्म और साहित्य

भारतीय आर्य जीववादी थे जो विश्व के सभी पदार्थों में जीवनी शक्ति का अनुमान करते थे। वे समझते थे कि प्रकृति के विभिन्न तत्वों—हवा, धूप, वर्षा आदि के अलग-अलग देवता होते हैं। अतः वे उन देवी-देवताओं की प्रार्थना तथा यज्ञों द्वारा पूजा करते थे। उनकी उपासना में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी और पुरोहितों का बोलबाला था। उनके धर्म ग्रंथ में ३३ देवताओं की चर्चा है—११ स्वर्ग में ११ पृथ्वी पर और ११ हवा में। इनमें प्रमुख थे सूर्य, अग्नि, उषा, इन्द्र, रुद्र, मरुत आदि। अतः वे बहु-देव वादी थे। इन्द्र को देवराज कहा जाता था। लेकिन उन्हें धीरे-धीरे एक सर्वव्यापक ईश्वर का भी ज्ञान प्राप्त हुआ और ऐकेश्वरवाद तथा अद्वैतवाद का सिद्धान्त स्थापित हुआ। उन्होंने दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भी खूब उन्नति की और आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म, मोक्ष आदि कल्पनाओं का विकास हुआ। इस तरह उन्होंने धर्म तथा दर्शन में ऐसा गहरा सम्बन्ध स्थापित किया जो विश्व के किसी अन्य भाग में अलभ्य है। ईश्वर के अवतारों का भी विचार उत्पन्न हो गया और कुछ लोग कर्मकाण्ड की जटिलता से बचने के लिए अवतारों की भक्ति का महत्त्व बतलाने लगे। राम और कृष्ण प्रमुख अवतार माने जाते थे।

भारतीयों के समान अन्य किसी जाति ने भी भाषा और साहित्य की इतनी उन्नति नहीं की। प्रारम्भ में अनेक भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित थीं। किन्तु कालक्रम के साथ वैदिक युग में एक भाषा का विकास हुआ जिसे संस्कृत या देव भाषा कहते हैं। ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था।

प्राचीन भारत में धर्म तथा साहित्य में घना सम्पर्क था। प्राचीन भारतीय साहित्य समुद्र के समान विशाल है जो विचारों के रत्नों से समृद्ध है। वैदिक साहित्य के ४ प्रधान अंग हैं:—

(१) मंत्र—ये वैदिक साहित्य के सबसे पुराने अंग हैं। इन्हें ४ संहिताओं में में विभाजित किया गया है। (क) ऋग्वेद—इसमें देवताओं के लिये स्तुति एवं मंत्र

है। (ख) यजुर्वेद—इसमें यज्ञ के लिए मंत्र हैं। (ग) सामवेद—इसमें गाने-बजाने का विषय है। (घ) अथर्ववेद—यह बहुत बाद का लिखा हुआ है और इसमें चिकित्सा तथा जादू-टोना सम्बन्धी बातें पाई जाती हैं। अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा नामक ऋषियों ने क्रमशः इन वेदों की रचना की थी।

(२) ब्राह्मण—प्रत्येक संहिता का पृथक्-पृथक् ब्राह्मण है जिसमें इसके मंत्रों की व्याख्या की गई है।

(३) आरण्यक—ये ब्राह्मणों के ही अंग स्वरूप हैं और इन्हें ऋषि लोग निर्जन जंगलों में पढ़ा करते थे।

(४) उपनिषद्—ये आर्यों के दार्शनिक ग्रंथ हैं जिनकी भारत और विदेशों के विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। केन, ईश, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य, तैतेरय, वृहदारण्य, और छान्दोग्य नामक १० उपनिषद् प्रसिद्ध हैं। इनमें आत्मा एवं परमात्मा सम्बन्धी विषयों का उल्लेख है। इनमें वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञों के बदले ब्रह्मज्ञान पर विशेष जोर दिया गया। ये ग्रंथ उच्च कोटि के बौद्धिक विकास के उत्पादन थे और पाठकों के बौद्धिक व्यायाम के उत्तम साधन हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त छः दर्शन या शास्त्र हैं—सांख्य, न्याय, योग, वेदान्त, मीमांसा और वैशेषिक। इनमें सृष्टि की उत्पत्ति तथा नाश आदि का रोचक वर्णन है। इन साहित्यों को श्रुति भी कहा जाता है क्योंकि कुछ विद्वानों के मतानुसार देवों या ऋषियों से सुनकर इनकी रचना हुई। इनके सिवा ६ वेदाङ्ग हैं जैसे शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प।

इन साहित्यिक ग्रन्थों के सिवा सूत्र, महाकाव्य और धर्मशास्त्र की भी रचनाएँ हुईं। वाल्मीकि के रामायण और वेदव्यास के महाभारत प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। रामायण महाभारत से पुराना है और हिन्दू इसे पवित्र धर्मग्रंथ मानते हैं। इसमें राम रावण के युद्ध का वर्णन है। वास्तव में आर्य-अनार्यों के युद्ध का वर्णन किया गया होगा। महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के युद्ध का उल्लेख है और कृष्ण इसके प्रमुख नायक हैं। यह संसार का सबसे बड़ा महाकाव्य है जिसमें १ लाख श्लोक हैं। भगवद्गीता इसी का एक अंग है। यह भी पवित्र धर्मग्रन्थ है जिसमें सभी दर्शनों का सार पाया जाता है। इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों योगों का सामञ्जस्य है और निष्काम कर्म पर विशेष जोर दिया गया है। यह एक ऐसा सार्वदेशीय ग्रन्थ है जिसे प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक समय पढ़कर लाभ उठा सकता है। मनु हिन्दुओं के प्रसिद्ध विधायक थे और उनकी मनुस्मृति प्रमुख धर्मशास्त्र मानी जाती है। मनु के सिवा याज्ञवल्क्य और वृहस्पति ने भी धर्मशास्त्र लिखा था। इन स्मृतियों में आचार, नियम तथा प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

अध्याय ८

गंगा घाटी की सभ्यता—भारतवर्ष (२)

भूमिका

जब मानव वर्ग ने भोजन, वस्त्र, निवास आदि सम्बन्धी कठिन समस्याओं को हल कर लिया तब उसे अन्य दिशाओं में भी चिन्तन करने के लिये पर्याप्त अवकाश मिलने लगा। यूनान से लेकर चीन तक प्रत्येक सभ्य देश में कुछ ऐसे मननशील विचारकों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भौतिक और पारलौकिक सभी समस्याओं पर गहरा चिन्तन किया और मानव सम्प्रदाय को प्रकाश देकर स्थायी रूप से प्रभावित किया। इस दृष्टि से ई० पूर्व छठी सदी विश्व के इतिहास में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण युग है। यह मानव समुदाय की प्रगति में एक मुख्य मीलस्तम्भ है। इस युग में अद्‌भुत मानसिक क्रान्ति हुई। समाज में उथल-पुथल मच गई। इसी समय यहूदियों के पैगम्बर जीवन के नवीन सन्देश का प्रचार कर रहे थे। यूनान में भी प्रमुख तत्ववेत्ताओं का प्रादुर्भाव हुआ था जो समाज के पुराने धरातल पर कुठाराघात कर रहे थे। भारतवर्ष में महावीर और बुद्ध, ईरान में जरथुष्ट्र (जोरोस्टर) और चीन में कनफ्यूशस तथा लाओजे जैसे क्रान्तिकारी विचारक इसी युग में पैदा हुए थे। इस अध्याय में महावीर और बुद्ध के विषय में वर्णन किया जायगा। अन्य विचारकों के सम्बन्ध में यथास्थान चर्चा की जायगी।

वैदिक युग में ब्राह्मणों की धाक थी और क्रमशः उनका प्रभाव बढ़ता गया। धर्म में जटिलता पैदा होने लगी। पूजा-पाठ की विधियों में अनावश्यक विस्तार हो गया। जादू टोना, कर्मकाण्ड और यज्ञ, हवनादि से लोग ऊबने लगे थे। स्वार्थ और हिंसा का जोर बढ़ता जा रहा था और व्यक्तिगत चरित्र की उपेक्षा की जाती थी। ढोंग, पाखण्ड का बाहुल्य था। इस तरह ब्राह्मण जनता को अपने कब्जे में कर रहे थे और सत्ताधारी क्षत्रियों की धाक फीकी पड़ने लगी। ऐसी ही स्थिति में जैन और बौद्ध धर्म का विकास हुआ।

(क) महावीर और जैन धर्म

महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। जैन साहित्य के अनुसार महावीर के पहले २३ तीर्थंकर (धर्म-गुरु) हो चुके थे। उनमें पार्श्वनाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके ढाई सौ वर्ष बाद महावीर पैदा हुए। इनका जन्म वैशाली (मुजफ्फरपुर-जिला) के समीप कुण्ड ग्राम में और देहान्त ७२ वर्ष की उम्र में पटना जिले में पावापुरी ग्राम में हुआ था। १२ वर्ष के भ्रमण और तप के बाद ज्ञान मिलने पर ये वर्द्धमान से महावीर कहलाने लगे। जैन और बौद्ध धर्मों में बहुत सी मिलती-जुलती बातें मिलेंगी।

जैनियों के सिद्धान्त का सार है अहिंसा। वे तपस्या में विश्वास करते हैं और पुनर्जन्म को मानते हैं। आवागमन के बंधनों से मुक्त होने के लिये कर्मों से मुक्त होना आवश्यक है। इस मोक्ष प्राप्ति के लिये वे तीन बातों पर विशेष जोर देते हैं—सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् व्यवहार। वे वेदों की प्रामाणिकता, अपौरुषेयता और ईश्वर में विश्वास नहीं करते हैं।

(ख) बुद्ध और बौद्धधर्म

बुद्ध की जीवनी

बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक बुद्ध देव थे। इनका प्रारम्भिक नाम गौतम या सिद्धार्थ था। नेपाल की तराई में शाक्य राज्य के राजा शुद्धोदन थे। उसी शुद्धोदन का पुत्र सिद्धार्थ था। इनका जन्म कपिल वस्तु के समीप लुम्बिनी नाम के स्थान पर हुआ था। यह बचपन से ही शान्त और गम्भीर रहते थे और राज-पाठ, धन-दौलत में तथा स्त्री-पुत्र-परिवार में इन्हें कोई दिलचस्पी नहीं मिलती थी। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उन्होंने क्रमशः ४ दृश्यों को देखा जिनसे उनकी जीवनधारा बड़ी ही प्रभावित हुई। ये ४ दृश्य थे—वृद्ध व्यक्ति, रोगी, मृतक, और सन्यासी सम्बन्धी। उन्होंने इन चारों को एक-एक कर के देखा और प्रत्येक से उसके दिल-दिमाग पर प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने संसार को अनित्य और दुखमय समझा और चट एक रात सभी भौतिक सामग्रियों को ठुकरा कर सत्य की खोज में निकल पड़े। उन्हें कई दार्शनिक और धर्म-गुरु मिले किन्तु किसी ने उन्हें सन्तुष्ट नहीं किया। अन्त में वे गया जिले में एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ तप करने लगे और वहीं एक दिन उन्हें ज्ञान या बोध का प्रकाश मिला। तभी से ये गौतम बुद्ध हुए और वह वृक्ष भी बोधि वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

चित्र १८—महात्मा गौतम बुद्ध

बुद्ध अपनी ज्ञान ज्योति को संसार में फैलाना चाहते थे जिससे मानव मात्र का कल्याण हो। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। बहुत ही कम व्यक्तियों को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है। सर्व प्रथम वे बनारस के निकट सारनाथ गये। वहां बुद्ध के

पूर्व परिचित ५ साथी रहते थे जिन्होंने उन्हें पथ भ्रष्ट समझकर त्याग दिया था। पहले वे ही बुद्ध के शिष्य भी हुए। इसके बाद राजा-रंक, पुरुष-स्त्री, युवक-वृद्ध सभी उनके अनुयायी होने लगे। बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, प्रसेनजीत जैसे राजा और अन्य कितने सेठ-साहूकार बुद्ध के प्रभाव में आ गये। स्वयं उनके पिता और उनकी पत्नी भी बुद्ध के अनुगामी हो चले। उपदेशों के प्रचारार्थ संघ भी स्थापित किये गये। ८० वर्ष की उम्र में कुशीनगर में बुद्ध का देहान्त हुआ। उनके देहावसान को महापरि-निर्वाण और गृह त्याग को महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

बौद्ध धर्म सीधा-सादा धर्म था। बुद्ध ने सारे मानव दुखों का मूल इच्छा को बतलाया। मनुष्य को इन्द्रिय सुख, भौतिक उन्नति और यश प्राप्ति की प्रायः इच्छा होती है। इन इच्छाओं को दबाने से ही मोक्ष या निर्वाण प्राप्त होता है। इसके लिए उन्होंने ८ मार्ग बतलाया है: सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् चिन्तन। दो अतों—भोग-विलास और कठिन तपस्या—को त्याग कर मध्यम मार्ग पर चलने की शिक्षा दी गई।

इस तरह बौद्ध धर्म में व्यक्तिगत चरित्र पर ही विशेष जोर दिया गया। इसमें कर्म-काण्ड-जन्य जटिलता का अभाव था। पुरोहित वर्ग और मन्दिर नहीं थे। यह पहले कहा गया है कि जैन और बुद्ध धर्म में बहुत सी बातें मिलती-जुलती हैं। यह ठीक है। दोनों ही ब्राह्मण धर्म की जटिलतापूर्ण परम्परा और वेदों की प्रामाणिकता के विरोधी थे। दोनों के संघ थे और वे कर्म को आवागमन का कारण मानते थे और निर्वाण को जीवन का लक्ष्य समझते थे। दोनों ही में ईश्वर की स्थिति में विश्वास नहीं किया जाता था। किन्तु दोनों में मौलिक भेद भी था। महावीर अनिश्वरवादी और बुद्ध अनात्मवादी थे। यानी बुद्ध ईश्वर की स्थिति में बिलकुल अविश्वास नहीं करते थे और जैनियों के जैसा विश्व के कण-कण में आत्मा (जीव) नहीं देखते थे। वे निर्वाण में व्यक्तित्व का पूर्ण नाश और जैनी उसमें पूर्ण आनन्द देखते थे।

बौद्ध धर्म की सफलता-विफलता

बुद्ध के जीवन काल और मरणोपरान्त बौद्ध धर्म का भारतवर्ष में ही नहीं, एशिया महादेश में भी खूब ही प्रचार हुआ किन्तु आगे चल कर यह धर्म अपनी ही जन्म-भूमि से विदा हो गया। लेकिन बाहर आज भी इस धर्म के अनुयायी वर्तमान हैं। यह एक बड़ी विचित्र घटना है। इसकी सफलता-विफलता के कारण क्या थे? इसकी सफलता के कारण थे—वैदिक धर्म की बुराइयाँ, बुद्ध का उच्च आदर्श-चरित्र, धर्म की सरलता, जातीय नियंत्रण का अभाव, संघ के संगठन का जनतंत्रात्मक आधार, वैदिक धर्म से कुछ

साम्य, बोल-चाल की भाषा में इसका प्रचार और अशोक, तथा कनिष्क जैसे सम्राटों के द्वारा इसका ग्रहण तथा प्रसार।

बौद्ध धर्म को भारत तथा विदेशों में प्रचार करने का श्रेय सर्वप्रथम अशोक को प्राप्त हुआ। उसने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान कर इसे विश्व धर्म के पद पर आरूढ़ कर दिया। कालान्तर में संसार के प्रमुख धर्मों में इसकी गणना होने लगी और एशिया का यह एक प्रमुख धर्म बना रहा। बहुत से यूनानियों ने भी इस धर्म को स्वीकार कर लिया था जिनमें यूनानी राजा मिनेन्द्र का नाम प्रसिद्ध है। लेकिन इस सिलसिले में कनिष्क का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने भी बौद्ध धर्म अपनाया था और एशिया के मध्य तथा उत्तरी भाग में इसका प्रचार किया। किन्तु उसी के समय में बौद्ध धर्म के पतन का भी चिन्ह दीख पड़ा। इसके दो सम्प्रदाय हो गये—महायान तथा हीनयान महायान सम्प्रदाय वाले बुद्ध की मूर्त्ति बनाकर पूजा करने लगे और ब्राह्मणों के सम्पर्क में आने लगे। किन्तु हीनयान सम्प्रदाय के लोग मूर्तिपूजा का विरोध करते थे। बौद्ध धर्मावलम्बियों में क्रमशः भ्रष्टाचार का समावेश और विहारों में दुराचार का प्रचार होने लगा था। ब्राह्मण लोग पुनः सिर उठाने लगे और शंकराचार्य जैसे उन्हें सुयोग्य नेता मिल गये जिसने बौद्ध धर्म की धज्जी उड़ादी। कई राजा भी ब्राह्मण धर्म का समर्थन करने लगे। पुष्यमित्र ने अश्वमेघ यज्ञ कर ब्राह्मणों को उत्साहित किया। गुप्त सम्राटों ने ब्राह्मण धर्म का पक्ष लिया। समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ करना शुरू किया। इसी समय उत्तर-पश्चिम से हूणों का भी आक्रमण होने लगा था और अनेकों विहार और स्तूप मटियामेट कर दिये गये। हर्ष वर्द्धन ने बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की, उसने बहुत से स्तूपों का निर्माण कराया और बौद्ध भिक्षुओं की सभाएं कीं। कुछ सफलता मिली किन्तु उसके बाद यह धर्म अपनी जन्मभूमि से विदा हो ही कर रहा। उसकी मृत्यु के बाद राजपूत काल आया जिसमें ब्राह्मणों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

आदर्श सम्राट् अशोक (२७३-२३७ ई० पू०)

महान् परिवर्तन—

बौद्ध धर्म का सब से महान् समर्थक और प्रचारक अशोक हुआ। यह चन्द्रगुप्त मौर्य का पोता और बिम्बसार का पुत्र था। यह मौर्य साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ शासक हुआ और विश्व के इतिहास में इसका नाम चिरस्मरणीय है। जिस तरह चार छोटे दृश्यों ने गौतम बुद्ध के जीवन में उथल-पुथल मचा दी थी वैसे ही एक साधारण युद्ध ने अशोक के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। इस तरह गुरु और शिष्य दोनों ही के जीवन परिवर्तित हुए थे। अशोक ने अपने राज्य काल के नवें वर्ष में कलिंग विजय की। कलिंग भारतवर्ष के दक्षिणी समुद्र तट पर महानदी तथा कृष्णा नदी के बीच एक

छोटा सा प्रदेश था। लड़ाई में विजय तो हुई किन्तु भीषण नर-संहार भी हुआ। युद्ध-जनित भयंकर दृश्य ने अशोक के हृदय को द्रवित कर दिया और युद्ध से घृणा हो गयी। तदुपरान्त उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। किसी-किसी को उसके पक्के बौद्ध होने में सन्देह भी होता है। किन्तु यह सदेह निराधार है। अशोक के ही लेखों और कार्यों से स्पष्ट हो जाता है कि वह सच्चा बौद्ध था। भाब्रू के शिलालेख में उसने अपने को बुद्ध धर्म और संघ का अनुयायी कहा है। इसके सिवा उसने संघ में मतभेद उत्पन्न करने वालों के लिये सजा देने के लिये घोषणा की, बौद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा की, यज्ञ बन्द करवा दिया, कई स्तूप तथा स्तम्भ बनवाये और बौद्ध भिक्षुकों की सभा बुलवाई। वह धर्म प्रचार के लिये सदा प्रयत्नशील रहा। शिलाओं और स्तूपों पर धर्म के सिद्धान्तों को खुदवा कर प्रमुख स्थानों में गड़वा दिया गया। उसने इस कार्य के लिये अपने राज्य में एक विभाग खोला और धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। देश में सैकड़ों बिहार या मठ बनवाये गये। विहारों की भरमार के ही कारण एक प्रांत का नाम बिहार पड़ा है। इतना ही नहीं उसने देश-देशान्तरों में भी धर्म प्रचार के लिए भिक्षुकों को भेजा। उसने अपने पुत्र महेन्द्र और सघमित्रा को प्रचार के हेतु लंका में भेजा था। इस तरह उसके बौद्ध होने में सदेह के लिये स्थान नहीं रह जाता।

सारनाथ का अशोकस्तम्भ चित्र १६

अशोक का आदर्श
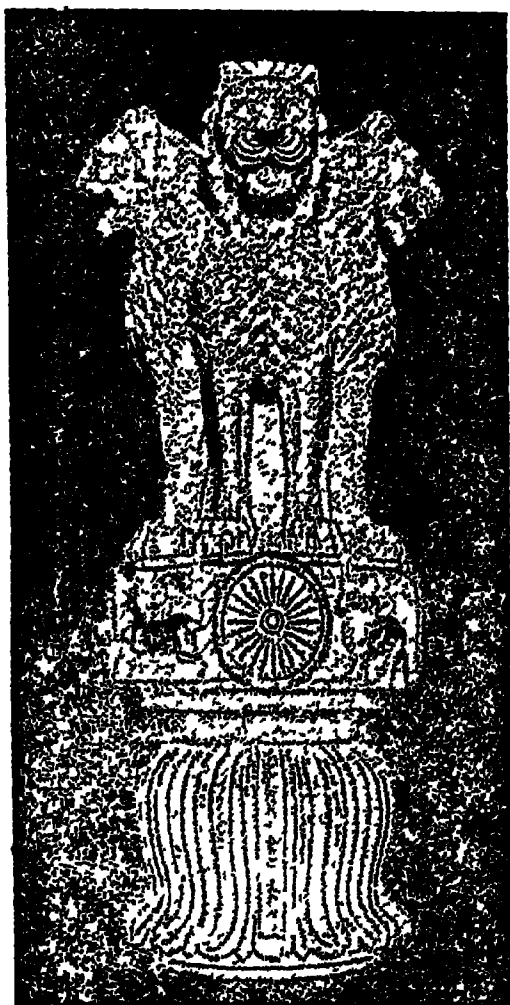
लेकिन अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी कट्टरता और संकीर्णता से बहुत ऊपर था। बौद्ध धर्म तो एक जीवन मार्ग था—आचरण था। अशोक ने भी इसके महत्व को अक्षरशः समझा और कार्य रूप में लाया। वह योग्य गुरु का योग्य शिष्य था। वह मन्त्रों के जाप या संस्कारों के नाम को धर्म नहीं समझता था और दूसरे धर्म को हानि पहुँचाकर

अपने धर्म का उत्कर्ष नहीं चाहता था। उसका धर्म मानव या विश्व धर्म था जिसकी विशेषतायें नैतिकता और सहिष्णुता थीं। "उसका धर्म जीवन तथा विचारों के आधारभूत सिद्धान्तों का समन्वय था जो सर्वमान्य है और जिसको समस्त मानवता पर लागू किया जा सकता है।"[1] एक राज विज्ञप्ति में लिखा हुआ है कि "दूसरे मत का आदर करके आदमी अपने मत को ऊँचा उठाता है और साथ ही अन्य लोगों के धर्म की सेवा भी कर लेता है।" अतः उसने ब्राह्मणों, जैनियों, बौद्धों—सब को समान दृष्टि से देखा। वह तो सबों के व्यक्तिगत चरित्र का नैतिक स्तर ऊँचा करना चाहता था।

अशोक कोरा उपदेशक ही नहीं था, वह प्रयोगकर्त्ता भी था। उसने बौद्ध धर्म को क्रियात्मक रूप में परिणत कर चरितार्थ कर दिया कि वह जनता का स्वामी नहीं, सेवक था। सरकारी सम्वाददाताओं को यह आज्ञा थी कि "हर समय और हर स्थान पर वे जनता के काम की सूचना मुझे सदा देते रहें।" वह अपने प्रजाजनों को अपनी संतानें समझता था। उनके भौतिक सुख के लिये उसने अनेकों कार्य किये—सड़क बनवाया, वृक्ष लगवाया, जलाशय खुदवाया। मनुष्यों के सिवा पशु-पक्षियों तक के लिये अस्पताल खोले गये। उसने अपने राज्य भर में जानवरों का बलिदान या युद्ध रोक दिया। राज्य काल के अन्तिम समय में वह राज-पाट अपने उत्तराधिकारी को सौंप कर स्वयं बौद्ध भिक्षु हो गया था।

इस प्रकार महान् अशोक ३६ वर्षों तक शासन कर २३७ ई० पू० में इस संसार से चल बसा।

इतिहास में अशोक का स्थान

मानव समाज के इतिहास में अशोक का स्थान सर्वोच्च है। दुनिया की कहानी में उसका शासन काल एक अपूर्व तथा उज्ज्वल अध्याय है। वह संसार का सर्वश्रेष्ठ शासक है। वह विजेता और शासक तो था ही, शांति और धर्म का प्रचारक भी था। राजनीतिक दृष्टि से उसके साम्राज्य की सीमा दक्खिन में मैसूर, पश्चिम में समुद्र, उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान और उत्तर में हिमालय तथा पूरब में आसाम तक थी। किन्तु धार्मिक दृष्टि से इस सीमा का कोई महत्व नहीं रह जाता और यह एक लघुतम चीज दीख पड़ती है। शक्ति और बल के रहते विजय के बाद स्वेच्छा से वह शांति-मार्ग का पथिक बना था। मानव समाज में यह प्रथम उदाहरण था। उसके सामने असीरिया, बेबीलोन और मकदुनियाँ के साम्राज्य का आदर्श था; सलोमन, दारा और सिकन्दर की शस्त्र विजय का चित्र था। किन्तु उसने भौतिक साम्राज्य को ठुकरा कर धार्मिक साम्राज्य स्थापित

[1] राधा कुमुद मुखर्जी,—मेन ऐण्ड थौट इन ऐंशिएन्ट इण्डिया, पृष्ठ १२१.

किया; भूमि-विजय को छोड़ कर हृदय-विजय प्राप्त की। उसने क्षात्र शक्ति को ताख पर रख कर ब्रह्म शक्ति धारण की और शस्त्र को फेंक कर शास्त्र ग्रहण किया। उसने शक्ति की निरर्थकता पहचान कर भक्ति की शरण ली और दमन नीति को तिलाञ्जलि देकर शमन नीति अपनायी।

इतिहास में अशोक प्रथम सम्राट् था जिसका शासन बलजन्य भय के आधार के स्थान पर सहनशीलता, सहमति और सदिच्छा पर अवलम्बित था। वह सारे विश्व में मानवता का प्रचार करना चाहता था। इसकी पूर्ति के लिये उसने बौद्ध धर्म को एक साधन के रूप में अपनाया था। वह प्राणी मात्र का सेवक था और उसके राज्य मे पशु-पक्षियों तक के लिये चिकित्सालय थे। वह दार्शनिक सम्राट था जो विश्व के सम्राटों में सर्वश्रेष्ठ था। "किसी भी ईसाई सम्राट ने ईसा मसीह द्वारा पहाड़ पर दिये गये उपदेश को एक विराट साम्राज्य का आधार नहीं बनाया।"[1] उसके समान किसी ने जनता के सामने यह भी घोषणा करने का कभी साहस नहीं किया कि "यदि सम्राट को कोई हानि भी पहुँचावे तो भी वह जहाँ तक सम्भव होगा धैर्य के साथ सहन करेगा।"

अशोक धार्मिक सहिष्णुता का भी एक महान् पोषक था। प्राचीन युग में धार्मिक सहिष्णुता का अभाव तो था ही, मध्य युग में तो इसकी बड़ी ही कमी थी। धर्म के नाम पर पृथ्वी पर हिंसा का नग्न-नृत्य हुआ—असंख्य नर-नारियों के खून बहाये गये। किन्तु अशोक असहिष्णुता के अन्ध-युग में विशाल प्रकाश-स्तम्भ था। उसने बौद्ध धर्म अपनाया सही, किन्तु साध्य नहीं, साधन के रूप में। उसका साध्य था—प्राणी मात्र की सेवा। दूसरी बात यह है कि यदि वह चाहता तो बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ शक्ति तथा सत्ता का उपयोग कर सकता था। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इतना ही नहीं, उसने अन्य धर्मों को भी फूलने-फलने दिया और समय-समय पर प्रोत्साहित भी किया।

अशोक में एक और बहुत बड़ा गुण था। बहुत से सत्ताधारियों का यदि सार्वजनिक जीवन अच्छा होता है तो उनका व्यक्तिगत जीवन निम्नश्रेणी का बन जाता है। वे स्वेच्छाचारितापूर्ण, भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करने लगते हैं। किन्तु अशोक के सार्वजनिक जीवन और वैयक्तिक जीवन के बीच कोई गहरी खाई नहीं थी। दोनों ही प्रकार के जीवन समान रूप से उच्च कोटि के थे। अकूत धन-विभव और प्रचुर भोग-विलासों के बीच वह त्यागमय जीवन व्यतीत करता था। 'सादा जीवन, उच्च विचार' वाले सिद्धांत का वह सच्चा पोषक था।

इन सभी विशेषताओं के कारण अशोक एक ऐसा युग-पुरुष था जिसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। "इतिहास में वर्णित अगणित राजाओं तथा महाराजाओं

---

[1] एच० जी० रावलिंसन

के मध्य अशोक का नाम एक चमकते नक्षत्र की भाँति है।"[1] लेकिन उसका नाम तो पुस्तकों के पृष्ठों में ही नहीं; असंख्य नर-नारियों के हृदय-पट पर अंकित है। शिलाओं, इमारतों या अन्य स्मारकों का कभी न कभी विनाश हो सकता है किंतु मानव-हृदय-पट का स्मारक स्थायी है जिसका कभी नाश नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति की महानता का सर्वोत्तम मापदण्ड यही है। इस दृष्टि से वह सिकन्दर, सीजर तथा शार्लमेन की अपेक्षा बहुत बड़ा और महान् है। मानव समाज के इतिहास में वह वस्तुतः अद्वितीय पुरुष है जिससे वर्तमान लड़खड़ाती दुनिया बहुत कुछ सीख कर सुमार्ग पर आ सकती है और पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य या राम-राज्य स्थापित किया जा सकता है।

अशोक के बाद का राजनीतिक भारत

अशोक के मरने के कुछ ही वर्षों बाद मौर्य साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। प्रान्त अपनी-अपनी स्वतंत्रता घोषित करने लगे, उत्तर-पश्चिम से विदेशी आक्रमण होने लगे। बैक्ट्रीयन, यवन, शक, कुशान आदि जातियाँ आक्रमण करने लगी थीं। कुशानों ने अपने राज्य तक कायम कर लिये जिनमें कनिष्क नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ। उसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर में थी। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी, कला एव विद्या का प्रेमी था। उसी के समय मे सुविख्यात वैद्य चरक और संस्कृतज्ञ अश्वघोष रहते थे। कुशान वंश के पतन के बाद देशीय राज्यों का उत्थान होने लगा। राजस्थान तथा पंजाब के यौधेयों और विन्ध्य प्रदेश के वाकाटकों तथा भारशिवों ने कुशान साम्राज्य का अन्त करने में भाग लिया। दक्षिण में सातवाहनों ने एक विशाल राज्य कायम किया। इनका प्रसिद्ध राजा गौतमी पुत्र सतकर्णी था जिसने शकों को पराजित किया था। तीसरी सदी मे इस वंश का भी गौरव जाता रहा और एक सदी तक कोई भी प्रभावशाली राज्य नहीं दीख पड़ा। चौथी सदी मे गुप्तों का शक्तिशाली राज्य कायम हुआ। इस वश का प्रसिद्ध राजा समुद्र गुप्त था जिसे भारतवर्ष का नेपोलियन कहा जाता है। वह एक सफल विजेता और शासक था, साथ ही कला और विद्या का भी प्रेमी था। उसने उत्तरी और दक्षिणी भारत के अधिकांश भाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय नामक नररत्न ने उसके कार्य को और भी आगे बढ़ा कर साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया और कला तथा विद्या को प्रोत्साहित किया। प्रसिद्ध नवरत्नों से उसी का दरबार सुशोभित था। उसने शकों को पराजित कर भारतीय स्वतंत्रता तथा परम्परा की रक्षा की। उसके राज्यकाल के बाद हूणों का आक्रमण होता रहा और गुप्त वंश के राज्य का अंत हो गया।

तत्पश्चात् पुनः अनेकों छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। इनमें थानेश्वर का

---

[1] एच० जी० वेल्स

वर्द्धन वंश विशेष प्रसिद्ध है। इसी वंश में हर्षवर्द्धन उत्तरी भारत का प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने भारतीय साम्राज्य का गौरव पुनः स्थापित किया। इसने ६०६ ई० से ६४७ ई० तक शासन किया। वह विजेता और शासक, कवि और कलाप्रेमी, विद्वान और लेखक सब कुछ था। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये उसने प्रयास किया जिसकी चर्चा की जा चुकी है। दक्षिण में चालुक्यवंशी पुलकेशिन द्वितीय ने अपने महान् राज्य को स्थापित किया। हर्ष और पुलकेशिन के बाद भारत पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। ७वीं सदी के मध्य से मुस्लिम शासन की स्थापना होने के समय तक कई प्रमुख हिन्दू राजा हुए। उनमें नरसिंह वर्मन, यशोवर्मन, शशांक, ललितादित्य, मिहिर भोज, धर्मपाल तथा राज-राज के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति

भूमिका

मौर्य राज्य की स्थापना के समय तक भारत की सभ्यता एवं संस्कृति पर दृष्टिपात किया जा चुका है। उसके बाद भी यह क्रमशः निरंतरगति से विकसित होती रही। विदेशियों के आक्रमण होते रहे किन्तु विकास का क्रम जारी रहा। गुप्त वंश के शासन काल में भारतीय सभ्यता एव संस्कृति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्त काल का वही स्थान है जो पेरेक्लियन युग का युनानी इतिहास में और आगस्टन युग का रोमन इतिहास में है। सभ्यता और संस्कृति के हर क्षेत्र में अद्भुत उन्नति हुई। भारतीयों ने अपनी दीर्घ संचित शक्ति का उपयोग कर अपनी बहुमुखी क्रियात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। इसीलिये गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा गया है। इस अपूर्व उन्नति के तीन प्रधान कारण थे—धार्मिक सहिष्णुता, दूसरी सभ्यताओं से विशेष और निकट सम्पर्क और राजाओं की विद्वता तथा उनके व्यापक दृष्टिकोण। अब इस सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

शिक्षा एवं साहित्य

प्राचीन भारत में शिक्षा के अनेक केन्द्र थे। तक्षशिला, नालन्दा, काशी, राजगिरि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें भी नालन्दा का विश्वविद्यालय सर्वश्रेष्ठ था। इसकी टक्कर का कोई भी विश्वविद्यालय तत्कालीन संसार में नहीं था। यहाँ हजारों विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध था और उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे उनकी नैतिक, मानसिक एवं शारीरिक—तीनों शक्तियों का समान रूप से विकास होता था। वस्तुतः शिक्षा का आदर्श उपयोगितावाद नहीं बल्कि चरित्र निर्माण था।

भारतीय साहित्य प्राचीनता, विविधता एवं व्यापकता के लिये प्रसिद्ध है। आर्यों के प्राचीन साहित्य का अवलोकन किया जा चुका है। गुप्त काल में संस्कृत एवं काव्य

साहित्य ने अपूर्व उन्नति की। इसी युग में साहित्य-गगन में कालीदास, विशाखदत्त, भवभूति, भास और शुद्रक जैसे विद्वान् जगमगा रहे थे। भास संस्कृत नाटक के श्रेष्ठ रचयिता थे और उन्होंने अनेक नाटक लिखा जिनमें घटोत्कच, स्वप्नवासवदत्ता आदि प्रसिद्ध हैं। कालीदास भी एक ऐसे नाटककार एवं कवि थे जो अपना- सानी नहीं रखते थे। देश के ही नहीं, विश्व के साहित्यों में उनका भी एक प्रमुख स्थान है। नाटककार की दृष्टि से वे भारत के शेक्सपियर कहे जा सकते हैं। इन्होंने दो महाकाव्य कुमारसम्भव तथा रघुवंश, तीन नाटक शकुन्तला, विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्र और दो गीत काव्य मेघदूत तथा ऋतुसंहार लिखा है। शकुन्तला विश्व साहित्य में एक मुख्य नाटक है जिसका अनुवाद कई भाषाओं में हो चुका है। भवभूति ने उत्तर रामचरित और शूद्रक ने मृच्छकटिक लिखा। काव्य और नाटक के सिवाय गद्यशैली में भी कुछ उत्कृष्ट रचनायें की गईं। विष्णु शर्मा ने पंचतन्त्र की रचना की और कादम्बरी भी इसी काल में लिखी गई। धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में भी साहित्य का विकास हुआ। गुप्तकाल के पहले ही पुराणों की रचना की गई जिनमें हिन्दुओं की परम्पराओं का वर्णन किया गया। गुप्तकाल में उनका नवीन संस्करण हुआ। १८ पुराण मुख्य माने जाते हैं। जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों ने भी उत्तम कोटि के दार्शनिक लेख उपस्थित किये थे। कुछ अन्य विषयों पर भी गुप्तकाल के पहले ही प्रमुख रचनाएँ हो चुकी थीं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र (राजनीति) और कल्हण की राजतरंगिणी (इतिहास) विख्यात ग्रन्थ हैं।

कला एवं विज्ञान

भारतीयों ने विभिन्न कलाओं में पूरी उन्नति की। स्वाभाविकता, सुन्दरता और नैतिकता—इन कलाओं की विशेषताएँ थीं। वेदों में प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा ही रोचक वर्णन हुआ है। भारतीयों की ज्यों-ज्यों भौतिक उन्नति होती गई त्यों-त्यों वे कला के सभी क्षेत्रों में प्रगति करते गये। अनेक राज-प्रासादों, भवनों, स्तंभों, यज्ञशालाओं, रंग-मंचों का निर्माण हुआ। किन्तु प्रारम्भ में लकड़ी का विशेष व्यवहार किया जाता था। अतः मौर्यकाल के पहले के मकानों के अवशेष नहीं रह गये। छठी सदी ई० पू० के बाद ईंटों और पत्थरों का व्यवहार होने लगा। उसके बाद की बनी इमारतें स्थायी रह सकीं और उनके ही अवशेष भी प्राप्त हो सके हैं। पाँच प्रकार की इमारतें होती थीं—स्तंभ, स्तूप, यज्ञ मण्डप, विहार और मन्दिर। अशोक के समय के सिंह-शीर्ष स्तंभ और धर्म-राजिका स्तूप सारनाथ में विद्यमान हैं। दक्षिण का गुहा विहार प्रसिद्ध है। भक्ति मार्ग के विकास के साथ मन्दिर निर्माण में वृद्धि हुई। सोमनाथ का मन्दिर (गुजरात) सुविख्यात था। चट्टानों को काटकर गुफाओं का निर्माण होता था। इलोरा और अजन्ता (हैदराबाद) गुफाओं के लिये ही प्रसिद्ध हैं। पर्वतों को काटकर उन पर

मन्दिर बनाये जाते थे। आबू और काश्मीर के पर्वतीय मन्दिर प्रसिद्ध हैं। सारनाथ और बोध गया के मन्दिर भी विख्यात हैं। इन इमारतों के अतिरिक्त अनेकों भवन तथा राज-प्रासाद बने।

अजन्ता की एक गुफा चित्र २०
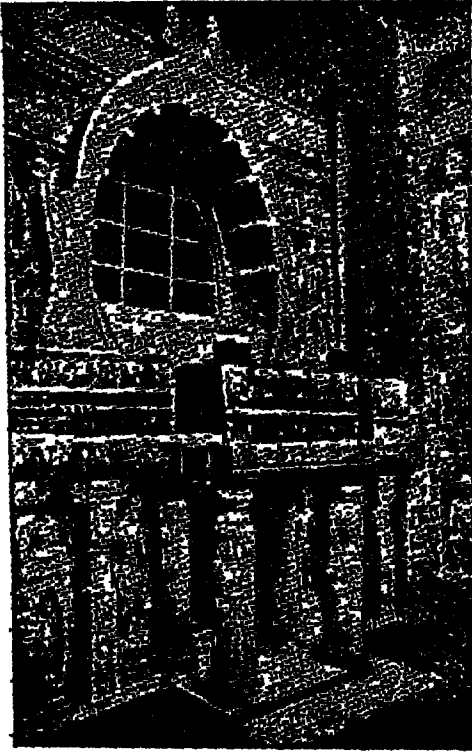
मूर्ति और चित्र कलाओं का भी समुचित विकास हुआ। गुप्त काल और उसके पहले की भी अनेकों मूर्तियाँ सारनाथ तथा अन्य संग्रहालयों में पायी जाती हैं। बैठे और खड़े बुद्ध की दो मूर्तियाँ तथा बुद्ध की ताँबे की एक मूर्ति जो ८० फीट ऊँची थी मूर्ति कला के सर्वोत्तम नमूने हैं। चित्र कला का भी विकास हुआ। इलोरा और अजन्ता की गुफाओं में अनेकों दीवार चित्र पाये जाते हैं। ये चित्र कला के सर्वश्रेष्ठ नमूने हैं। चित्रों में मनुष्यों तथा पशुओं का जीवन विभिन्न रूपों में और प्राकृतिक दृश्य प्रदर्शित किये गये हैं। संगीतकला की भी यथेष्ठ उन्नति हुई। सामवेद प्राचीनतम संगीत शास्त्र था। बाद में गीत सम्बन्धी अन्य पुस्तकें भी लिखी गयीं और स्वर रागादि नियमों का विकास हुआ। इसके विकास में राजाओं तथा अमीरों से विशेष प्रोत्साहन मिला था। संगीत और नाटक में घना सम्बन्ध था। राज दरबार में उत्सव के अवसर पर अभिनय का आयोजन किया जाता था। विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। गणितशास्त्रों में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। शून्य और दशमलव सिद्धान्त का अविष्कार हुआ। भारत से ही अरबों के द्वारा संसार में इनका प्रचार हुआ।

ज्योतिष शास्त्र का विकास हुआ। यह फलित तथा गणित दो प्रकार का होता था। आर्य भट्ट प्रसिद्ध ज्योतिषी थे जिन्होंने सर्वप्रथम यह बतलाया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और ग्रहण के सम्बन्ध में भी कई बातें बतलाईं। सूर्य सिद्धान्त इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अन्य प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर थे जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र के ५ सिद्धान्तों पर प्रकाश दिया। अतः उनके ग्रन्थ का नाम पचसिद्धान्त है।

प्राचीन भारत ने चिकित्सा शास्त्र में भी अद्भुत उन्नति की। प्रारम्भ में जादू-टोने

से काम लिया जाता था। अथर्व वेद में रोगों तथा जड़ी बूटियों और औषधियों का उल्लेख है। क्रमशः आयुर्वेद शास्त्र का विकास हुआ। धन्वन्तरि, सुश्रुत, चरक आदि शल्य तथा चिकित्सा के विशेषज्ञ थे। इन आचार्यों ने शरीर निर्माण, विभिन्न रोगों तथा उनके निदान और चिकित्सा का विशद वर्णन किया है।

धर्म एवं समाज

गुप्त शासन काल हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। अशोक और कनिष्क के प्रयास से बौद्धधर्म उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया और वह एशिया का प्रमुख धर्म हो गया। यह देखकर वैदिक धर्म वाले अपने धर्म में सुधार एवं परिवर्तन करने लगे। अंतः गुप्तकाल तक यह धर्म पुनः प्रभावशाली हो गया और उसमें एक नई स्फूर्ति आ गई, जीवनी-शक्ति का संचार हो गया। गुप्त वंश के प्रायः सभी राजे वैदिक या ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। ब्राह्मणों का खूब आदर-सत्कार होता था। वे राज्य में मंत्री होने लगे और उनके प्रभाव से अश्वमेधयज्ञ का प्रचार बढा। जाति-बंधन जो पहले ढीला-ढाला हो गया था पुनः दृढ हो गया और मनुस्मृति में आवश्यक संशोधन कर जातीय आचरण पर जोर दिया गया।

किन्तु भारतीय धर्मों मे भक्ति मार्ग भी प्रधान होने लगा था। यूनानियो के प्रभाव से मूर्ति पूजा का विशेष प्रचार हुआ। महायान, तीर्थंकर, वैष्णव, शैव, सौर आदि अनेक भक्ति मार्गी सम्प्रदाया का प्रादुर्भाव हुआ। मन्दिरों, देवियों, देवताओं तथा धर्म प्रवर्तकों की मूर्तियों को स्थापित कर उनकी पूजा की जाने लगी। वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म या भक्ति मार्ग अधिक लोकप्रिय था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन त्रिदेवों में लोगों की विशेष श्रद्धा थी। भगवद्गीता के उपदेशों से यज्ञों में लोगों की श्रद्धा कम हो गयी थी।

इस तरह वैदिक एवं पौराणिक धर्म का उत्थान तो हुआ किंतु अन्य धर्मों की भी स्थिति थी। बौद्ध और जैन धर्म भी वर्तमान थे। फाहियान के कथनानुसार पाटलिपुत्र में दो बड़े विहार थे। गुप्त काल के पश्चात् शंकराचार्य जैसे धर्मगुरुओं का आगमन हुआ जिन्होंने वैदिक धर्म को परिष्कृत कर नव जाग्रत किया और बौद्ध धर्म पर प्रहार किया। बाद ६वीं सदी से हिंदू धर्म में तंत्र सिद्धान्त का प्रवेश होने लगा और कई गुप्त सम्प्रदाय स्थापित हो गये।

प्रारम्भ में समाज का जो संगठन कायम हुआ वह जारी रहा। परिवार समाज की इकाई स्वरूप था और सम्मिलित पारिवारिक प्रथा चलती रही। वर्ण व्यवस्था में धीरे-धीरे जटिलता उत्पन्न हो गई। अब जन्म, खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध पर यह आधारित हो गई। इस तरह जाति प्रथा का विकास होने लगा और सजातीय विवाह तथा भोज की प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारम्भिक प्रौढ़-विवाह के स्थान पर बाल-विवाह

का प्रचार होने लगा था। गृहस्थ परिवारों में एक ही विवाह की प्रणाली थी किन्तु कुलीनों और अमीरों में बहु-विवाह की प्रथा थी। उनके पास रखेलियाँ भी होती थीं। उच्च वर्ण के लोगों में विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध लगने लगा था। स्त्रियों की दशा में अवनति ही हुई थी। उनकी प्राचीन स्वतंत्रता जाती रही थी और वे धीरे-धीरे पर्दा का शिकार होने लगी थीं। किन्तु स्त्री का धन पर पूरा अधिकार होता था और घर के अन्दर उनका प्रभाव रहता था। भोजन, वस्त्र, आभूषण तथा मनोविनोद के साधनों में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि वे सभी पूर्ववत् कायम रहे।

शासन एवं आर्थिक व्यवस्था

मौर्य साम्राज्य की नींव पड़ने के समय तक की जो शासन व्यवस्था थी वह बाद में कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ सुदृढ़ होती गई। मौर्य साम्राज्य के शासन संगठन का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। मौर्य राज्य लोक हितकारी राज्य था जिसका प्रधान उद्देश्य प्रजा की भलाई करना था। शासित वर्ग के सन्तोष में शासक का सन्तोष था। सातवीं सदी तक मौर्यों की परम्परा कायम रही। पाँचवीं सदी में गुप्त साम्राज्य की शासन व्यवस्था उत्तम थी। सभी लोग शान्तिपूर्वक अपने-अपने कारोबार में व्यस्त थे; राज्य की ओर से अनावश्यक कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। विदेशी भी भारत में आकर भ्रमण या अध्ययन का कार्य करते थे और राज्य की ओर से अतिथि-सत्कार किया जाता था। हर्ष के समय में भी यही स्थिति रही। टैक्स साधारण था और बलात् बेगारी नहीं ली जाती थी। राज्य की भूमि जोतने वाला उपज का $\frac{1}{6}$ भाग सरकार को देता था। राजकीय भूमि के ४ भाग थे। प्रथम भाग की आय का उपयोग राज्य प्रबन्ध में, द्वितीय भाग की आय का उपयोग मंत्रियों एवं अफसरों के वेतन देने में; तृतीय भाग की आय का उपयोग प्रतिभाशालियों को वृत्ति देने में और चौथे की आय का उपयोग धार्मिक सम्प्रदायों को दान देने में किया जाता था। चीनी यात्री फाहियान गुप्त काल में और हुएन सांग हर्ष के समय में भारत आये थे।

समाज में लोगों की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक थी। भारत समृद्धिशाली देश था। गुप्त काल में शान्ति एवं व्यवस्था थी। अतः कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय की उन्नति हुई। विदेशों से भी व्यापार होता था। रोमन साम्राज्य में भोग-विलास की वस्तुएँ जाती थीं और राजघराने की स्त्रियाँ भारत की रेशमी तथा मसलिन की प्रशंसा और व्यवहार करती थीं। वहाँ से सोने-चाँदी लाये जाते थे। मदुरा में रोम के सिक्के पाये गये हैं। व्यापारियों की सुविधा के लिये मार्ग सुरक्षित बनाये रखे जाते थे। सड़कों, नदियों और समुद्रों के द्वारा व्यापार किया जाता था। पश्चिम में रोमन साम्राज्य से और पूरब में जावा, सुमात्रा तथा चीन से व्यापारिक सम्बन्ध था। पूरब में ताम्रलिप्ति प्रसिद्ध बन्दरगाह

था। पहले की तरह अभी भी व्यापारियों और व्यवसायियों के स्वतंत्र संघ होते थे जो सहयोग समिति, बीमा कम्पनी और टेकनिकल स्कूल के कार्य करते थे।

भारत की विशेषताएँ और देन

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति नित्य और अमिट है। आज से लगभग पाँच-छः हजार वर्ष पहले इसकी नींव पड़ी और यह नींव हिलने-डुलने की बात तो दूर रही सदा दृढ़ होती गई, जिस पर भारतीय सभ्यता की विशाल इमारत खड़ी हुई। भारतीयों के गर्व का यह विषय है कि उन्होंने दूसरों को ही बहुत कुछ दिया है किन्तु उन्होंने उनसे बहुत कम प्राप्त किया है। ३००० वर्ष ई० पू० में सिन्धु सभ्यता विकसित हुई थी जो भारत की ही नहीं सारे विश्व की प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। प्रो० चाइल्ड का कहना है कि "उस समय भी उस पर हिन्दुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिन्दुस्तानी संस्कृति का आधार है।" "हिन्दू विचार के सबसे नये और सबसे पुराने रूपों में एक अटूट क्रम मिलता है।"[1]

अतः यह एक बड़े आश्चर्य का विषय है कि किसी सभ्यता का ऐसा लगातार सिलसिला रहा हो। इसका कारण क्या है? कारण है भारतीयों के विशेष प्रकार के चरित्र। शान्ति-प्रियता, सहिष्णुता और व्यापकता उनके विशेष गुण रहे हैं। वे अपने इतिहास के किसी काल में भी मन्दान्ध तथा हठधर्मी नहीं रहे हैं। उनकी नीति आदान-प्रदान, समन्वय तथा समझौते की नीति रही है। भारतीय सभ्यता तथा भारत के जीवन और राजनीति में अनेक जातियों का समावेश है। हिन्दू धर्म एक ऐसे विशाल समुद्र के समान है जिसमें अनेक विचार-धाराएँ शामिल हुई हैं। इसकी छत्रछाया में आस्तिक तथा नास्तिक, मूर्तिपूजक तथा मूर्ति विरोधी, द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी सभी एक साथ रह सकते हैं। हिन्दू समाज में प्रचलित महेश पूजा और नागपञ्चमी द्रविड़ प्रथायें हैं। विश्व के किसी भी धर्म में ऐसी महान् उदारता का समावेश नहीं पाया जाता है।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति त्याग और तपस्या, प्रेम और बन्धुत्व की भावनाओं से ओतप्रोत है। भौतिकता एवं अहमत्व की उपेक्षा की गई और नैतिकता तथा समत्व को प्रधानता दी गयी है। मेरा-तेरा की संकीर्णता के स्थान पर "वसुधैव कुटुम्बकम्" मानव कल्याण का आदर्श रहा है। बुद्ध और अशोक के उदाहरण भारतवर्ष के ही इतिहास में प्राप्त है, किसी अन्य देश के नहीं। बुद्ध ने सांसारिक सुखों की गोद में पले जाने पर भी मानव हित के लिये उनको तिलाञ्जलि दे डाली। अशोक ने हिंसा और साम्राज्य के युग में, सैनिक शक्ति रहते हुये, विजय की घड़ी में अहिंसा ग्रहण की और प्रेम तथा सदिच्छा से शासन किया। आज से हजारों वर्ष पहले आर्य ऋषि-मुनियों ने लोक हित, विश्व-

---

[1] प्राच्यविद् मैक्समूलर

बन्धुत्व तथा सेवा भाव का आदर्श उपस्थित किया था। उनके धार्मिक ग्रन्थ साम्प्रदायिकता एवं संकीर्णता से परे हैं और उनके उपदेशों से किसी को किसी समय वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। मैक्समूलर ने दर्शनों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और कहा है कि "मुझे जीवन में उनसे शान्ति मिली है और मृत्यु के बाद भी सहायता मिलेगी।"

भारतीय सभ्यता में मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। भारतीय शिक्षा पद्धति उपयोगितावाद पर नहीं आधारित थी। व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति इसका उद्देश्य था। अतः चरित्र-निर्माण पर अधिक जोर दिया जाता था। प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच ऋषि आश्रम ही शिक्षालय थे। हाँ, विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर एकाग्रचित्त हो विद्याध्ययन करते थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि अनेक जातियों के पतन का मूल कारण नैतिक भ्रष्टाचार ही रहा है।

भारतीय संस्कृति शरीर की विनाशता और आत्मा की अमरता पर जोर देकर पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्थापित करती है और निर्भयता की शिक्षा देती है। गीता बतलाती है कि शरीर परिवर्तनशील है किन्तु आत्मा अपरिवर्तित है, अजर और अमर है और आत्मिक सुख-शान्ति के लिये निष्काम कर्म महामंत्र है। भारतीयों ने अध्यात्मवाद को सर्वोच्च स्थान दिया है और अनेक राजनीतिक उथल-पुथल के बीच भी वे अपने इस लक्ष्य को कभी नहीं भूले हैं।

भारतीय संस्कृति वन-प्रधान है। ऋग्वेद जो सनातन शक्ति का स्रोत है, वन देवियों की आराधना करता है। अनेक तपोवनों में ही आर्य ऋषि-मुनि रहते थे और अपने संस्कार तथा विचारों को विकसित करते थे। संस्कृति की सर्वोत्तम और सुन्दरतम चीजों का उद्भव नदियों के तट के जंगलों में ही हुआ है। भारतीय स्मरण भण्डार नन्दन वन के सुन्दरता से भरा हुआ है। स्त्रियों में श्रेष्ठ सीताजी के जीवन का सम्बन्ध वन से रहा है। यमुना तट पर वृन्दावन से भगवान् कृष्ण का सम्बन्ध रहा है। अतः भारतीय सभ्यता में वनों का बड़ा महत्त्व है। मनुस्मृति में वृक्ष विच्छेदक को पापी और दण्ड का भागी कहा गया है। मत्स्यपुराण में भी ऐसा विधान पाया जाता है। अग्नि पुराण में वृक्षों की पूजा की चर्चा की गई है।

एक लेखक[1] ने हिन्दू धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "हिन्दू धर्म आशावादी है,-निराशावादी नहीं; ज्ञानवादी है, अन्ध-भक्तिवादी नहीं; विकासवादी है, साम्प्रदायवादी नहीं; कर्मवादी है, भाग्यवादी नहीं; बुद्धिवादी है, अन्धविश्वासवादी नहीं; त्यागवादी है, भोगवादी नहीं, ईश्वरवादी है, पैगम्बरवादी नहीं; अहिंसावादी है, हिंसावादी

---

[1] हिन्दू धर्म की विशेषताएँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

नहीं; अध्यात्मवादी है, प्रकृतिवादी नहीं, श्रद्धावादी है, दासतावादी नहीं; प्रजातंत्रवादी है, एकाधिपत्यवादी नहीं; समाजवादी है, बोलशेविक नहीं।"

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्राचीन युग में किसी अन्य देश की अपेक्षा भारत ने मानव समाज को अधिक समृद्ध एवं सम्पन्न किया है। इसने दूसरी सभ्यताओं को तो बहुत कुछ दिया है किन्तु स्वयं दूसरों से बहुत कम लिया है। भारत का संस्कृत साहित्य विश्व संस्कृति का अमूल्य भण्डार है। इसके धार्मिक ग्रन्थ अध्यात्मवाद के सन्देश से गूँज रहे हैं जिनके अध्ययन से आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है और नैतिक स्तर ऊँचा होता है। ललित कला, वास्तु कला, दर्शन, विज्ञान सभी क्षेत्रों में भारतीयों की मौलिक देन है और उन्होंने विश्व का नेतृत्व किया है। गणित, खगोल, ज्योतिष तथा चिकित्सा शास्त्रों में उनके अन्वेषणों ने क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी भारतवर्ष प्राचीन काल में अग्रणी रहा है। कुछ विद्वानों ने यूनान को राज-शास्त्र का जन्मदाता माना है, परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। राजनीतिक विचारों का जन्म सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही हुआ है। यूरोप में ५वीं सदी ई० पू० तक राजनीतिक ज्ञान का अभाव था। वहाँ सबसे पहले यूनान में ४वी सदी ई० पू० में प्लेटो और अरस्तू के साथ राजनीतिक विचार उत्पन्न हुए; किन्तु भारतीय राजशास्त्रज्ञ कौटिल्य अरस्तू का समकालीन था। चौथी सदी ई० पू० के बहुत पहले से भारतवर्ष में राजनीतिक चेतना थी और भारतीय ग्रन्थों को ही राजशास्त्र का मूल स्रोत मानना ठीक है। महाभारत और रामायण में राजशास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर समुचित प्रकाश डाला गया है। महर्षि व्यास ने बहुत वर्ष पहले महाभारत की रचना की थी। महाभारत में अनेक राज्यों का वर्णन हुआ है और युधिष्ठिर को चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया गया है।

अध्याय ६

यांगट्सी-ह्वाँगहो घाटी की सभ्यता—चीन

चीनियों का उत्थान

चीन एशिया महादेश का एक विस्तृत भूखण्ड है जो इसके दक्खिन-पूर्व में प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तट पर स्थित है। इसके पूरब और दक्खिन-पूरब में समुद्र है, बाकी तीन ओर से पहाड़ तथा स्थल से यह घिरा हुआ है। इस भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ विश्व के अन्य स्थलों की अपेक्षा जातीय मिश्रण बहुत कम या नाम मात्र का हो सका। यहाँ के निवासी मंगोल जाति के थे। उन्होंने निर्बाध गति से अपनी सभ्यता का विकास किया। चीन की जलवायु समशीतोष्ण थी और वहाँ यांगट्सी तथा ह्वाँगहो नाम की दो बड़ी नदियाँ बहती हैं। अतः मिश्र-मेसोपोटेमिया तथा भारत-वर्ष के समान चीन में भी उच्चकोटि की सभ्यता का विकास हुआ। चीन और भारत में प्राचीनकाल से ही गहरा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध भी चीन के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुआ।

राजनीतिक इतिहास

पृष्ठभूमि

किसी देश के अतीत के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये ऐतिहासिक वृतान्त एक प्रमुख साधन है। अन्य सभी देशों की अपेक्षा लिखित ऐतिहासिक वृत्तान्त चीन में ही अधिक पाया जाता है। अतः ऐतिहासिक वृत्तान्त के ही आधार पर चीन का हाल विशेष सुविधापूर्वक जाना जा सकता है। सर्वप्रथम चीनी इतिहासकार सुमशीन को माना जाता है जिसका काल प्रथम सदी ई० पू० है। वह पीत सम्राट् ह्वागटी (२६९७-२५९८ ई० पूर्व) के समय से हाल लिखता है। अनुश्रुतियों के अनुसार तो चीनी सभ्यता हजारों वर्षों की पुरानी है। किन्तु भारतीय अनुश्रुतियों के जैसा चीनी अनुश्रुति में भी बहुत ऐसी बातें हैं जो वास्तविकता से दूर मालूम होती हैं।

पीले सम्राट् के पूर्व चीन कबीलों का वास-स्थान था जो आपस में लड़ा-झगड़ा करते थे। कोई व्यवस्था नहीं थी। ह्वाँगटी ने अपनी सैन्य शक्ति के द्वारा सभी प्रदेशों को जीतकर एकता स्थापित की और चीनी साम्राज्य की नींव खड़ी की। उसने समाज का संगठन किया और शासन व्यवस्था चलायी। वही चीनी समाज का संस्थापक कहा जा सकता है। फिर भी २२०० ई० पूर्व तक का पूरा हाल नहीं मिलता है। २२०५ ई० पू० में या ओ नाम का सम्राट् हुआ जिसने शिया वंश की नींव डाली। शिया का अर्थ

होता है सभ्यता। इसी समय से गद्दी के लिये पैत्रिक अधिकार की प्रथा कायम हुई। इस वंश का राज्य ४३६ वर्षों (२२०५-१७६६ ई० पूर्व) तक रहा और १८ पीढ़ियों में १७ सम्राट् हुए। इसका अंतिम राजा "क्या" अत्याचारी था जिसे एक सरदार गद्दी से हटाकर स्वयं सम्राट् बन गया। इसके बाद शैंग (चीन) वंश स्थापित हुआ जिसका राज्य ६४४ वर्षों (१७६६-११२२ ई० पूर्व) तक रहा। इसमें १६ पीढ़ियों में २८ सम्राट् हुए। शैंग राजाओं के समय में देश की विशेष उन्नति हुई। इस काल की कला और दस्तकारी की कुछ चीजें प्राप्त हुई हैं। सम्राट् ने अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ली और सभ्यता के विकास में हाथ बँटाये। चीनी लोग लेखन कला को जानते थे। उनकी लिपि में भी संकेत या चित्र ही होते थे, अक्षर नहीं। ये चित्र बांस, लकड़ियों या हड्डियों पर अंकित किये जाते थे। हूणों के आक्रमण के भय से सारे देश में एकता की भावना जाग्रत थी। शैंग वंश का अंतिम सम्राट् अयोग्य एवं अत्याचारी था। उसे गद्दी से उतार कर ववांग ने ११२२ ई० में चाऊ वंश के राज्य की स्थापना की। चीन के इतिहास में यह द्वितीय क्रान्ति थी और इसमें ववांग को जनता की भी सहायता मिलीथी। चीनी जनता यह समझती थी कि अन्यायी राजा को पदच्युत करने का उसे अधिकार है।

चाऊ वंश का शासन

चाऊ वंश का राज्य काल चीन के इतिहास में एक नया ही युग उपस्थित करता है। यह चीनी इतिहास का स्वर्ण युग कहलाता है। इस वंश के ३७ सम्राटों ने ३३ पीढ़ियों में ८६७ वर्षों (११२२-२५५ ई० पू०) तक राज्य किया। सभी राजवंशों से इस वंश का शासन अधिक काल तक रहा और शायद विश्व में ही किसी राजवंश का शासन इतना दीर्घकालीन नहीं रहा है। चाऊ वंश के राज्य की सीमा बहुत विस्तृत नहीं थी। मचूरिया, मंगोलिया तथा तिब्बत इस राज्य में सम्मिलित नहीं थे। राज्य की सीमा पर कुछ अचीनस्थ शासक थे। राज्य की राजधानी ह्वांगहो नदी के किनारे सिंगनफू नगर में स्थित थी। इस काल में सभ्यता और संस्कृति के हर क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। चाऊली नामक पुस्तक में इस काल के नियम और शासन प्रथा का विवरण लिखा गया है। इसके पढ़ने से राजाओं की शक्ति एवं प्रतिभा का पता लगता है जिसे कोई चीनी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। स्वतंत्र ढंग से विचारने और अध्ययन करने का यह युग था। राज्य भर में बहुत से विद्यालय खोले गये थे और कुछ विद्वान इतिहास तथा काव्य ग्रन्थ लिखने लगे थे। ५वीं सदी में बैंकिंग प्रणाली का भी विकास हो गया था और सिक्के का भी प्रयोग होने लगा था। इसी काल में कनफ्यूशस और लाओजे जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक हुए थे।

इस युग की और दो बातें उल्लेखनीय हैं—सामंतशाही प्रणाली की प्रगति और

नवीन भूमि प्रबंध। सामंत प्रथा का आरम्भ तो पीले सम्राट् के ही समय से हुआ था किन्तु इसकी गति बड़ी ही मंद थी। इस काल में इसका पूर्ण विकास हो गया और अंत तक लगभग ५ हजार छोटी-छोटी रियासतें थीं जिन पर कुछ थोड़े से शक्तिशाली शासकों का अधिकार था। परंतु चीन की सामंत प्रथा पाश्चात्य सामंत प्रथा से भिन्न थी क्योंकि यह प्रजातंत्र के ही आधार पर अवलम्बित थी। भूमि-प्रबंध का भी एक नया तरीका चलाया गया जो वर्तमान साम्यवादी प्रथा से बहुत कुछ मिलता है। सम्पूर्ण भूमि पर राष्ट्र का अधिकार समझा जाता था और जनसंख्या के आधार पर सम भाग में बाँट दिया जाता था।

चाऊ वंश के राज्य के अंतिम समय में अराजकता की वृद्धि होने लगी थी। इस समय ७ प्रमुख रियासतें थीं जिनमें चीन की रियासत सर्वशक्तिशाली थी। इसका गवर्नर चेन था। इसने चाऊ वंश का अंत कर डाला और चिन वंश की नींव डाली जिसके नाम पर इस देश का नाम हुआ।

लाओजे और कनफ्यूशस

चाऊ वंश के पतन-काल में देश की स्थिति बड़ी विषम हो गई थी। साम्राज्य कई टुकड़ों में विभक्त हो गया था। अराजकता और अनीति फैल रही थी ऐसे ही समय में लाओजे, कनफ्यूशस, मेन्सियस तथा मोजे जैसे उच्चकोटि के विचारकों तथा दार्शनिकों ने चीन में जन्म लिया था। लाओजे और कनफ्यूशस चीन के सुप्रसिद्ध सुधारक एवं दार्शनिक हैं और बुद्ध के समकालीन। इन महात्माओं ने अपने आचरणों और विचारों से मानव समाज को बहुत ही प्रभावित किया है। इन सबों के विचारों में बहुत कुछ साम्य भी पाया जाता है। सभी शान्तिप्रिय व्यक्ति थे और आचरण की पवित्रता पर जोर देते थे। कालान्तर में तीनों महात्माओं को लोग देव रूप में पूजने लगे और उनकी मूर्तियाँ निर्मित तथा स्थापित होने लगीं।

लाओजे

लाओजे एक पुस्तकालय का अध्यक्ष था। बुद्ध की भाँति वह भी सांसारिक भोग-विलासों की उपेक्षा करने और सादा तथा पवित्र जीवन के व्यतीत करने पर जोर देता था। उसके उपदेश कनफ्यूशस के उपदेशों की अपेक्षा विशेष रहस्यपूर्ण होते थे और वे यौगिक क्रियाओं से विशेष सम्बन्धित थे। उसने धार्मिक क्षेत्र में आस्तिकता तथा दार्शनिक क्षेत्र में समत्व बुद्धि जैसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उसका चलाया हुआ धर्मताओ कहलाता है जिसका अर्थ मार्ग होता है। यह बुद्ध के अष्ट मार्ग से मिलता-जुलता है। इस सम्बन्ध का उसने एक ग्रन्थ भी रचा था। वह अधिकतर कथाओं तथा पहेलियों के रूप में लिखता था। दक्खिनी चीन में उसका प्रभाव विशेष था।

कनफ्यूशस—५५१-४७९ ई० पू०

कनफ्यूशस का जन्म लू (आधुनिक शानटंग) प्रांत में हुआ था। इसका पिता एक सैनिक था किन्तु कनफ्यूशस ने एक अध्यापक का जीवन आरम्भ किया। उसके उपदेश रहस्यपूर्ण और जटिल नहीं थे बल्कि बुद्ध के उपदेशों की भाँति स्पष्ट और सर्वमान्य थे। बुद्ध की भाँति कनफ्यूशस भी शान्तिप्रिय था और अध्यात्मवाद की गहराई में नहीं उतरा। वह कोई धर्म संस्थापक या प्रचारक नहीं था बल्कि नीति उपदेशक था। वह एक ही देवता और एक ही सम्राट् को मानता था। वह यूनानी विचारकों तथा पैगम्बरों के समान सद्व्यवहार और सदाचरण, सभ्यता और शिष्टता पर ही खूब जोर देता था। वह प्राचीनता और पारिवारिक प्रेम की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट करता था। शासन के मामले में उसका ख्याल था कि बुद्धिमानों और शिक्षितों को ही प्रथम स्थान मिलना चाहिये। वह धर्म और राजनीति को परस्पर विरोधी नहीं मानता था। शासक बनकर अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिये उसकी अभिलाषा भी थी। ५१ वर्ष की उम्र में उसे एक प्रान्त का शासक भी बना दिया गया। उसका शासन प्रबन्ध इतना सफल और उत्तम था कि उसके राज्य में अपराध लुप्तप्राय होने लगे। इसका परिणाम हुआ कि अन्य शासक उससे ईर्ष्या-द्वेष करने लगे और लू प्रान्त के शासक ने उसे पदच्युत कर दिया। जिसके हाथ में अधिकार रहता है वह अयोग्य होने पर भी अधिकार छोड़ना नहीं चाहता। यह बड़ी बुरी और भयानक बात है। फिर भी इससे कनफ्यूशस के विचारों के प्रभाव में कमी नहीं हुई और वह लोगों को सतत प्रभावित करता रहा। आज भी जबकि उसको मरे लगभग ढाई हजार वर्ष हो गये बहुत से लोग उसके ग्रन्थों का बड़ी ही अभिरुचि के साथ अवलोकन करते हैं।

कनफ्यूशस चित्र २१

चिन वंश का शासन

चेन इस वंश का प्रथम सम्राट् हुआ जो अशोक का समकालीन था। अब साम्राज्य का विस्तार होना शुरू हुआ। इसने सामन्तों को दबाकर देश में एकता स्थापित की। इसने पूर्व में जापान और दक्खिन में अनाम पर आक्रमण कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। शासन के लिये अपने साम्राज्य को ४० प्रान्तों में बाँट दिया। इसने केन्द्रीय शक्ति सुदृढ़ की और वह विश्व विजय का स्वप्न देखता था। उसे आशा थी कि उसके

वंश का शासन सैकड़ों वर्ष तक कायम रहेगा किन्तु घटना-चक्र ऐसा हुआ कि चीन के इतिहास में सबसे कम उसी के वंश का शासन रहा। इसके कुल सम्राट् ४ हुए जिन्होंने ५० वर्ष तक (२५५-२०५ ई० पूर्व) राज्य किया।

चेन के बाद तीसरा सम्राट् शीह हांगटी के नाम से गद्दी पर बैठा जिसका अर्थ प्रथम सम्राट् होता है। वह रचनात्मक तथा ध्वंसात्मक दोनों ही कामों के लिये प्रसिद्ध है। उसने शासन में पूर्ण केन्द्रीयकरण स्थापित किया। कई नहरें और सड़कें बनवाईं। हूणों के हमले से अपने देश की रक्षा के लिये उसने महान दीवार का निर्माण किया। विश्व के ७ आश्चर्यों में इसका भी एक स्थान है। यह १८०० मील लम्बी २२ फीट ऊँची और २० फीट चौड़ी है। १०० गज की दूरी पर ४० फीट ऊँची लगभग
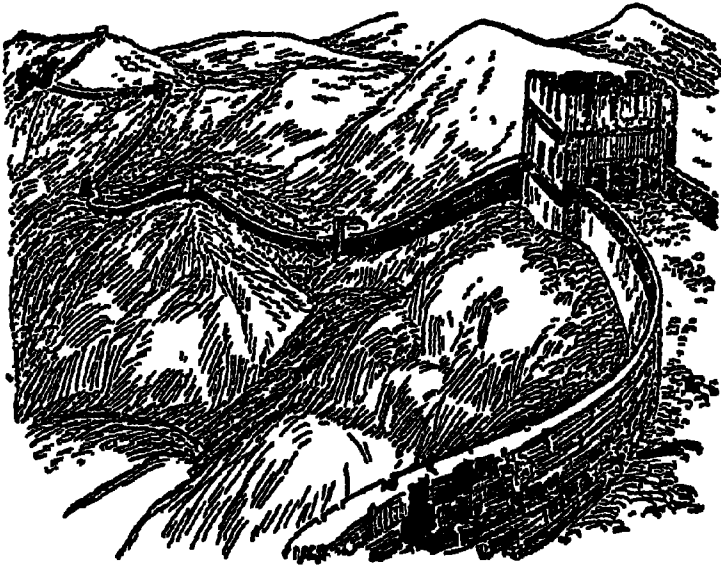
चीन की महान् दीवार चित्र २२

१०,००० मीनारें बनवाई गई हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसका कुछ भाग जहाँ-तहाँ पहले से भी बना था। जो हो, हांगटी ने १० वर्षों में ही लोगों से बलपूर्वक काम लेकर इसे पूरा किया था। इससे वह प्रिय शासक न रहा बल्कि पीड़क तथा शोषक समझा जाने लगा। किन्तु उसकी अप्रियता में वृद्धि करने वाला उसका दूसरा कार्य था। उसने प्राचीन संस्कृति के विरुद्ध एक विद्रोह खड़ा कर दिया। वह केवल युद्ध का प्रेमी था। प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन रोक दिया गया और ऐसे ग्रन्थों के प्राप्त हो जाने पर उन्हें अग्नि में झोंक दिया जाता था। कितने पुस्तकालय जला दिये गये। विद्वानों को फाँसी दी जाती या महान् दीवार में चुन दिये जाते। कितने तलवार के घाट उतार दिये जाते और कितने जन्मभूमि से निर्वासित कर दिये जाते। इस कारण से वह प्रजा की घृणा और रोष का पात्र बन गया। उसके विरुद्ध ल्युपाङ नाम के एक

सामान्य व्यक्ति के नेतृत्व में जनता ने विद्रोह कर दिया। अपने कर्म के अनुसार सबको फल भोगना ही पड़ता है। जो दूसरों पर अत्याचार करता है दूसरे भी उसके साथ वैसा ही या उससे भी अधिक अत्याचार करते हैं। यह क्रम चलता रहता है। ह्वांगटी की तो मृत्यु हो गई किन्तु उसके वंशज भी जनता की नग्न तलवारों के शिकार हुए। उसके कुल के राज्य का ही अंत हो गया। एक नये हान वंश की स्थापना की गई। यह सार्वजनिक क्रान्ति का प्रथम उदाहरण था। चिन वंश का इस प्रकार अंत तो हुआ किन्तु उसकी दो कीर्तियाँ रह गईं—देश का नाम और मजबूत केन्द्रीय शासन। अब तो यह मालूम ही हो गया कि इस वंश के शासन के पहले चीन का नाम कुछ दूसरा था। वह नाम था—चुंगह्वा या चुंक्को जिसका अर्थ होता है फूल के मध्य या मध्य देश। सर्व प्रथम एक दृढ़ और शक्तिशाली साम्राज्य की भी स्थापना हुई।

हान वंश का शासन

हान वंश का राज्य काल ४२१ वर्षों तक (२०५ ई० पू०-२१६ ई०) रहा। चीन के इतिहास में यह राज्य-काल गौरवपूर्ण है। इसे द्वितीय 'स्वर्ण युग' माना जाता है। साम्राज्य की सीमा का विस्तार हुआ। मध्य एशिया में पामीर और कोकनद को अधिकृत किया गया। भारत, पश्चिमी तुर्किस्तान, तिब्बत आदि देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस वंश में वुती (१४०-८७ ई० पू०) और वान्गमैंग (८-२३ ई०) दो प्रसिद्ध शासक हुए। इनके समय में राज्य की सीमा कोरिया से लेकर कास्पियन सागर तक फैली थी। इसी समय रोमन साम्राज्य का भी विकास हो रहा था। रोम के साथ भी चीन का सम्बन्ध स्थापित था। साम्राज्य पर हूणों का बार-बार आक्रमण होता था किन्तु वे भगा दिये जाते थे। मंगोलिया और उत्तरी प्रदेश भी साम्राज्य में मिला लिये गये। मोटे तौर पर वर्तमान चीन की सीमा निर्धारित हो गई।

केवल साम्राज्य का ही विस्तार नहीं हुआ, शासन में सुदृढ़ता और उदारवादिता का संचार किया गया। उत्तरी और पश्चिमी सीमाओं पर शांति स्थापित हुई। सामन्त प्रथा के अवशेष का नाश किया गया। सरकारी पदों पर नियुक्तियों के लिये प्रतियोगी-परीक्षा प्रणाली का प्रचलन किया गया। अब चापलूसी और निकटता के बदले योग्यता के आधार पर सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। अब कुलीनों का प्रभाव जाता रहा। यह संसार के इतिहास में पहला उदाहरण था। योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति से सरकारी नीति में भी परिवर्तन हुआ। जनहित के अनेकों कार्य हुए। नमक, लोहा, सिक्का आदि कई चीजें सरकार ने अपने अधिकार में कर लिया। सिंचाई का प्रबंध और व्यापार का नियमन हुआ। पश्चिमी प्रदेशों से व्यापार होने लगा। मध्य एशिया वाले चीनी वस्तुओं के लिये साम्राज्य में प्रायः लूट-पाट किया करते थे किंतु उनके साथ व्यापारिक संबंध हो जाने से उनकी यह प्रवृत्ति जाती रही। व्यापार के द्वारा ही उनकी आवश्यकताएँ
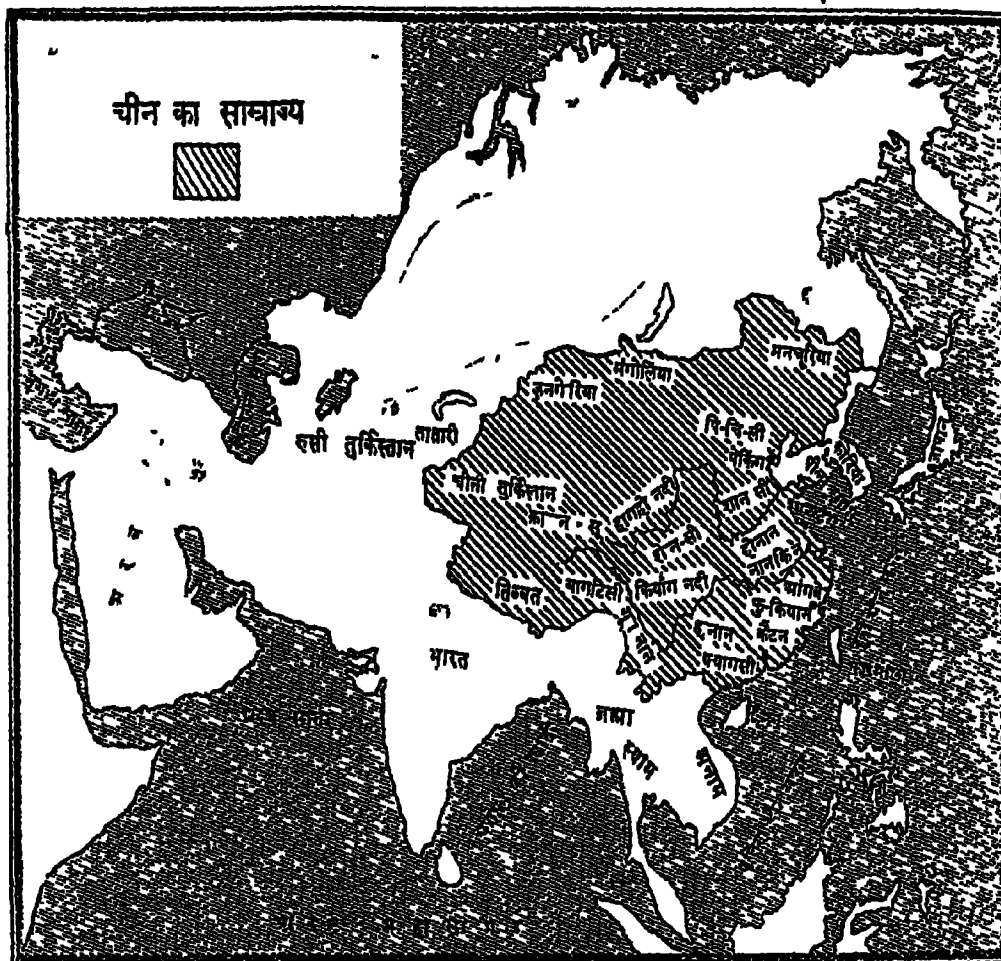
चित्र २३

पूरी होने लगीं। आय-कर भी प्रचलित किया गया और किसानों को राज्य की ओर से सूदरहित कर्ज दिया जाने लगा। इसके सिवा कनफ्यूशस के सिद्धांतों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन और अध्ययन विशेष रूप से प्रोत्साहित किया गया। हान राजकुल एक और अपूर्व घटना के लिये प्रसिद्ध है। वह घटना है मुद्रणालय का आविष्कार और कागज का प्रयोग। अतः इस काल में, साहित्य की जो पहले क्षति हुई थी, बहुत अंशों में उसकी पूर्ति हो गई।

यह साम्राज्य काल चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मिंगटी नाम के सम्राट ने किसी रात एक स्वप्न में कोई मूर्ति देखी। अतः उसने भारतवर्ष में कुछ दूतों को भेजा। ये दूत बुद्ध की मूर्तियाँ और कुछ धार्मिक ग्रन्थ भारत से लेकर चीन लौटे। मिंगटी ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। ६७ ई० में राजधानी में एक विहार बनवाया गया और बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कराया गया। अब इस धर्म का चीन देश में क्रमशः प्रसार होता रहा और वहाँ के कला-कौशल, रहन-सहन पर इसका गहरा असर दीख पड़ने लगा।

इस राजवंश के समय में भारत और चीन में पर्याप्त राजनीतिक संबंध रहा। चीनी सेनापति पनचाव के नेतृत्व में राज्य विस्तार को देख कर तत्कालीन कुशान सम्राट सशंकित हो रहा था। उसने मित्रता करने के लिये पनचाव की लड़की से विवाह करना चाहा। इस उद्देश्य से पनचाव के यहाँ एक दूत आया। किंतु पनचाव ने रंज होकर दूत को पकड़वा लिया। इस पर कुशान सम्राट ने चीनी तुर्किस्तान पर आक्रमण कर दिया किंतु उसकी हार हो गयी और चीन को कर देने के लिए स्वीकार करना पड़ा। लेकिन कुछ ही काल में स्थिति बदल गई।

चीनी सभ्यता एवं संस्कृति

मिश्र, बेबीलोन और भारत की सभ्यता की भाँति चीन की सभ्यता भी प्राचीन ही मानी जाती है। २००० ई० पू० के लगभग चीन में भी सभ्यता का विकास एक हद तक हो चुका था।

राजनीतिक संगठन

प्राचीन चीनी भिन्न-भिन्न कुलों में विभक्त थे। प्रत्येक कुल का एक प्रधान या कुल-पति होता था जिसका कुल के सभी सदस्यों द्वारा निर्वाचन होता था। कालान्तर में यह पद पैतृक बन गया और याओ नामक एक कुलपति ने सम्राट की उपाधि धारण कर ली। इस तरह चीन मे राजतंत्र प्रणाली का उदय हुआ। इसके साथ ही निरंकुशता का भी विकास होने लगा था। राज्य एक बहुत बड़ा परिवार था जिसका प्रधान सम्राट को माना जाता था। सम्राट ही सर्वेसर्वा था और वही चीनियों का भाग्य-विधायक था। राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा बड़ी सावधानी के साथ होती थी। सम्राट की इच्छा सर्वोपरि थी और वह देव तुल्य पूजा जाता था। उसकी उपासना होती थी। शैंग राजवंश के शासन काल में केन्द्रीय सत्ता सुदृढ़ थी और अधीनस्थ राज्य सम्राटों को नियमित रूप से कर तथा भेंट दिया करते थे। किंतु चाऊ राजवंश के समय में सामन्तवादी प्रथा के विकास से केन्द्रीय शक्ति में दुर्बलता उत्पन्न हो गई। लेकिन यह स्थिति दीर्घ काल तक न रही। चिनवंशीय सम्राटों ने सामंतवादी प्रथा का अंत कर सुदृढ़ केंद्रीय शासन स्थापित किया। शासन में जमींदारों का विशेष प्रभाव था क्योंकि ये धनी-मानी तथा पढे-लिखे होते थे।

विधा एवं लेखन कला

अन्य सभ्य देशों की भाँति चीन में लेखन कला का प्रारम्भ २००० वर्ष ई० पू० से हो चुका था। लेकिन यह अन्य देशों की लिपियों तथा लिखावटों से बिलकुल ही भिन्न रही है। इसमें वर्ण माला का सर्वथा अभाव रहा है। विविध वस्तुओं और विचारों के लिये अलग-अलग चिन्ह या संकेत मान लिये गये हैं। ये चीनियों की कल्पना के आधार पर निश्चित किये गये हैं और इनकी संख्या लगभग ४०००० है। अतः चीनी

लेखन कला का अभ्यास करना कोई साधारण बात नहीं है। साधारणतः प्रत्येक चीनी लगभग ४००० चिन्हों से परिचित रहता है। ये संकेत-चिन्ह अन्य भाषाओं के समान बाँये से दाँये या दाँये से बाँये की ओर नहीं बल्कि ऊपर से नीचे की ओर लम्ब
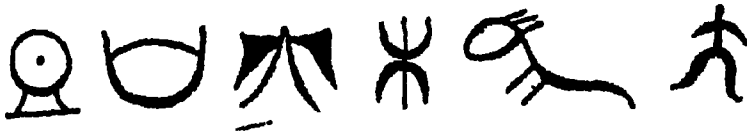
चीनी लिखावट चित्र २४

रूप में लिखे या छापे जाते हैं। लिखने के लिये पहले नुकीली कलम का और बाद में ब्रश का उपयोग किया जाता था। राज्य में लेखकों का सर्वदा से विशेष मान होता आया है। अधिक से अधिक संकेत चित्रों का जानना ही विद्वता का माप-दण्ड था। चीनी कागज बनाना भी जानते थे। पहले बाँस और लकड़ी के टुकड़ों को चिकना कर लिखने का काम किया जाता था। उसके बाद रेशम का कागज बनने लगा। दूसरी सदी के प्रारम्भ से चिथड़े, सन और कुछ विशेष प्रकार के वृक्षों की छाल मिला कर अच्छा कागज तैयार होने लगा। लेखन कला और कागज निर्माण से परिचित होने के कारण विद्या और साहित्य की उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी थी। विद्या तथा ज्ञान की प्राप्ति अब सर्वसाधारण के लिये भी सम्भव और सुलभ हो गई।

चीनियों के ५ धार्मिक ग्रन्थ हैं जो आर्यों के वेदों के समान ही बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। ग्रन्थ के लिये किंग शब्द का व्यवहार होता है। शुकिंग उनका प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें राजनीति एवं कानून सम्बन्धी चर्चा है। याईकिंग आध्यात्मिक ग्रन्थ है; शिकिंग एक काव्य है; लिकिंग में उत्सव सम्बन्धी विधियों का वर्णन है और शुनसिन कनफ्यूशस के काल का इतिहास है।

उद्योग-धंधे

कृषि और व्यापार करना चीनियों के प्रमुख व्यवसाय थे। कृषि तो उनका आदिम पेशा था। सिंचाई के लिये अनेक नहरों का निर्माण हुआ था। माल मवेशी भी पाले

जाते थे। व्यवसाय के भी कई कार्य होते थे। सोने, चाँदी, लोहे जैसे धातुओं की चीजें बनती थीं। सूती और रेशमी वस्त्र भी बुने जाते थे। चीनी रेशमी वस्त्र संसार भर में विख्यात था। चीन के राजदूत दूसरे देशों में कुछ रेशमी कपड़े भेंट स्वरूप लिये जाते थे। स्त्रियाँ कातने और बुनने के कामों से भली भाँति परिचित थीं। मिट्टी के बर्तन भी बनते थे किन्तु चीनी बर्तन १००० ई० पू० के बाद से ही बनने लगे। चीन की बनी वस्तुओं को बाहर भेजा जाता था। चीनी व्यापार कार्य में बड़े ही निपुण होते थे और समाज में उनका एक वर्ग ही स्थापित था। मंगोलिया, मध्य एशिया, फारस, भारत, रोम साम्राज्य और पूर्वी द्वीप समूह से उनका व्यापारिक सम्बंध था। अन्य देशों से सम्पर्क होने पर कुछ नये-नये परिवर्तन हुए। अंगूर की शराब का प्रयोग होने लगा। धूप-घड़ी के बदले पानी-घड़ी का प्रचलन हुआ। रात-दिन के २४ घंटों को दो समान भागों में विभक्त कर दिया गया।

कला एवं विज्ञान

चीनी ललित कला में निपुण थे। शिल्प तथा चित्रकला के कई नमूने मिले हैं। शिलाओं पर रथ शिकार, राजकीय स्वागत, घुड़सवार, जुलूस आदि जैसे दृश्यों के चित्र बनाये जाते थे जो कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नहीं तो निम्न भी नहीं हैं। एक प्रदेश में कुछ कब्रें मिली हैं जिनके अंदर दीवारों पर ऐसे चित्र पाये गये हैं। चित्रकला के विकास में लेखन कला से बहुत सहयोग मिला है क्योंकि चीनी भाषा तो चित्रों से ही परिपूर्ण होती थी। उनकी चित्रकला पर भारतीय कला का भी प्रभाव है। वे काँसे तथा हाथी दाँत के सुन्दर मूर्त्तिया भी बनाते थे। उनकी निर्माण कला की विशेषता विशालता नहीं थी। चीन में महान दीवार के सिवा विशाल गगनचुम्बी प्रासादों का अभाव था। अन्य देशों की भाँति चीन में ईंट और पत्थर का बहुत कम प्रयोग होता था। लकड़ी ही अधिक उपयोग में लायी जाती थी। चीनी भवन यद्यपि विशाल नहीं होते थे तो भी वे भव्य अवश्य होते थे।

विज्ञान की उन्नति भी चीन में हुई। छापे की कला का आविष्कार चीन में हुआ और यहाँ से यूरोप में इसका प्रचार हुआ जिससे वहाँ पुनरुत्थान (रिनासान्स) का आन्दोलन तीव्र गति से आगे बढ़ा। चीनियों ने ही कागज, कुतुबनुमा (कम्पास) और बारूद का भी आविष्कार किया और पीछे इनका प्रचार अन्य देशों में हुआ। कागज तथा छापे के आविष्कारों ने विश्व के सांस्कृतिक विकास को बहुत ही आगे बढ़ाया है।

धर्म और समाज

चीनी प्रकृति के कुछ तत्वों को मानते और पूजते तो थे किन्तु उनमें पूर्वजों की उपासना की ही प्रधानता रही है। वहाँ मिस्र और बेबीलोन की भाँति देवालयों, मंदिरों और पुरोहितों का अभाव रहा है।

लाओजे और कनफ्यूशस के धार्मिक विचारों की चर्चा की जा चुकी है। दोनों ही का विश्वास किसी एक ही सर्वशक्तिमान देवता में था। लेकिन इन नेताओं ने ईसाई या इस्लाम जैसा कोई धर्म नहीं स्थापित किया। उनके उपदेशों का सम्बन्ध दैनिक आचार-व्यवहार से था। उनके बाद चीन में बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ। बुद्ध चीन के भी धर्मगुरु बन गये। चीनी इन तीनों धर्मगुरुओं को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इनकी शिक्षाएँ तीन महान शिक्षाओं के नाम से देश भर में प्रचलित थीं। इन सभी धर्माचार्यों ने प्रेम तथा अहिंसा पर विशेष जोर दिया है।

समाज ४ वर्गों में विभक्त था, (क) बुद्धि जीवी, (ख) कृषक, (ग) कारीगर और (घ) व्यापारी। समाज में सम्राट् का स्थान और परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च रहा है। भारत के ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समान चीन में कोई वर्ग नहीं रहा है। विद्याध्ययन और ज्ञान प्राप्ति के ख्याल से तो चीन में भारतीय ब्राह्मणों के सा शिक्षित वर्ग था। किन्तु भारत में कालान्तर में ब्राह्मण होने का आधार जन्म हो गया। पर चीन में जन्म नहीं, योग्यता के ही आधार पर कोई भी शिक्षित वर्ग का सदस्य और उस सम्मान का पात्र हो सकता था। चीन मे अन्य वर्ग का कोई भी व्यक्ति शिक्षित वर्ग मे आ सकता था किन्तु भारत में अन्य तीन वर्गों का व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो सकता था। यह बात दोनों देशों में अभी तक देखने में आती है। चीन में इस शिक्षित वर्ग को मंडेरिन के नाम से पुकारते हैं। फिर चीन देश में क्षत्रियों के जैसा कोई लड़ने वाली जाती नहीं है। युद्ध हिंसादि वहाँ बहुत हेय पेशा समझा गया है और भूमिहीन कृषक और मजदूर ही वहाँ सेना मे भर्ती किये जाते थे। कारलाइल महोदय की दृष्टि से यदि शिक्षितों को सर्वोच्च पद नहीं दिया जाय तो सभी विधान और पार्लियामेंट व्यर्थ की चीजें साबित होंगी।

चीनी सभ्यता के गुण-दोष

गुण—चीनी सभ्यता में कई गुण पाये जाते हैं और भारतीय सभ्यता से कई बातें मिलती-जुलती हैं :—

१ स्थायित्व—मिश्री, बाबुली, भारतीय और चीनी ये ही ४ जातियाँ हैं जिनकी सभ्यताएँ सबसे प्राचीन रही हैं। मिश्री और बाबुली सभ्यताएँ तो कब न पृथ्वी के गर्भ में चली गईं लेकिन भारतीय और चीनी सभ्यताएँ कई विषम अवस्थाओं से गुजरते हुए आज भी वर्तमान हैं। ये ही दोनों देश अपनी भाषा और साहित्य, अपने धार्मिक विश्वास तथा कर्मकांड और अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का ३ हजार वर्षों से अधिक का अटूट विकास उपस्थित कर सकते हैं।

२. शान्ति-प्रियता—भारत और चीन—दोनों ने ही यद्यपि अपनी रक्षा के लिये युद्ध का आश्रय लिया है फिर भी शांतिप्रियता ही इन सभ्यताओं का आधार रहा है। दोनों देशों की सभ्यताएँ मानवोचित गुणों से परिपूर्ण थीं। इनमें विद्या तथा विद्वानों का समुचित

सम्मान किया जाता था। शिक्षितों का समाज में सर्वोपरि स्थान था। चीन ने बारूद का आविष्कार कर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दिया; किन्तु पाश्चात्य देशों ने उसे ध्वंसात्मक कामों में लाकर अपनी पाशविक प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है।

३. समन्वयता—दोनों सभ्यताएँ समय-समय पर विदेशियों के सम्पर्क में आई हैं किन्तु समन्वयता या सामञ्जस्य की शक्ति इतनी दृढ़ रही है कि ये दूसरी सभ्यताओं को अपनाते रहे हैं किन्तु अपनी सभ्यता की गहरी अमिट छाप कायम ही रहती आयी है। लेकिन भारतीयों की समन्वय शक्ति चीनियों से दृढ़तर रही है।

४. मौलिकता—भारत और चीन दोनों देशों की सभ्यताएँ मौलिक और रचनात्मक हैं। जैसा अभी कहा गया कि वे दूसरों से चीजों को लेते आये हैं किन्तु अपनी मौलिकता अपनी देशीय छाप बनी रही है।

५. व्यापकता—भौगोलिक दृष्टि से भारत और चीन दोनों की सभ्यताएँ विस्तृत क्षेत्रो में प्रचारित थीं। एक चीन का क्षेत्रफल यूरोप से भी कहीं अधिक है और एशिया के क्षेत्रफल का $\frac{1}{4}$ है फिर भी सम्पूर्ण चीन में एक ही भाषा और लिपि का प्रयोग होता रहा है। भारत का क्षेत्र फल भी तो एक महादेश के समान ही है और यद्यपि भाषा, लिपि तथा अन्य कई दृष्टियों से विभिन्नता है फिर भी विभिन्नता मे एकता ही इसकी विशेषता रही है। दोनों की सभ्यताएँ अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु रही हैं।

६. कुटुम्ब प्रेम—दोनों देशों में कुटुम्ब प्रेम और अतिथि सत्कार पर विशेष ध्यान दिया गया। किन्तु यह पारिवारिक प्रेम मानव समुदाय से प्रेम करने का आधार मात्र था।

इस प्रकार भारतीय और चीनी सभ्यताओं में भी बहुत साम्य दीख पड़ता है लेकिन इस बात को नहीं भूलनी चाहिये कि चीनी सभ्यता पर भारत का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। दोनों में घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध था। बौद्ध धर्म को चीन ने जब ग्रहण कर लिया तो यह सम्बन्ध और भी गहरा हो गया है। भारत तो चीन का तीर्थस्थान बन गया और बहुत से चीनी यहाँ आने-जाने लगे जिससे विचारों का आदान-प्रदान अनिवार्य हो गया। कालान्तर में भारत ने चीन के सिवा कोरिया, स्याम, मलाया, मध्य एशिया आदि देशों में भी अपनी सांस्कृतिक सत्ता स्थापित की। इस तरह समूची एशियायी सभ्यता पर ही भारतीय सभ्यता की अमिट छाप है।

दोष

भारत और चीन दोनों देशों की एक भारी त्रुटि भी रही है। वह त्रुटि है रूढ़ि-वादिता। कालान्तर मे दोनों ही देश इतने रूढ़िवादी हो गये कि वे परिस्थिति के अनुकूल कोई परिवर्तन करना नहीं चाहते थे। दोनों देश अनेक अंधविश्वासों के अड्डे बन गये। इसके फलस्वरूप वे प्रगति की दौड़ में पीछे पड़ गये। इस दृष्टि से चीन तो भारत से भी अधिक बढ़ा चढ़ा था। हाल तक चीन में विदेशियों को नहीं जाने दिया जाता था और अन्य देशों

की सभ्यताओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। चीन की रूढ़िवादिता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसकी अवैज्ञानिक, भद्दी प्राचीन लेखन प्रणाली आज भी पूर्ववत् प्रचलित है।

भारत की तुलना में चीनी सभ्यता प्रधानतः भौतिक थी। इसमें लौकिकता की प्रमुखता थी। उसका सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकताओं से विशेष था। चीनियों के धर्म गुरु आत्मा-परमात्मा, जन्म-मृत्यु के पचड़ों में नहीं पड़े।

वर्तमान परिस्थिति के अनुसार चीन कहाँ तक परिवर्तन करने के लिये तैयार है—इसी पर उसकी महानता निर्भर करती है।

चीनी सभ्यता की देन

चीनी सभ्यता की त्रुटियों पर दृष्टिपात किया जा चुका किन्तु दुनियाँ की प्रत्येक चीज में, कम या अधिक, त्रुटि होती है। अतः चीनी सभ्यता की विश्व को जो देन है उसे कदापि नहीं भुलाया जा सकता। चीनियों ने वैज्ञानिक क्षेत्र में बड़ी उन्नति की दिशा-सूचक यंत्र (कम्पास), आग्नेयास्त्र (बारूद), मुद्रण, कागज, चीनी बर्तन और रेशमी कपड़े ये सभी चीजें चीन से ही विश्व को प्राप्त हुई हैं। दिशासूचक यंत्र, बारूद, कागज तथा छापेखाने के आविष्कार से मानव समाज की प्रगति में बहुत सहायता मिली है। इन सभी चीजों ने विश्व की विचार-धारा में क्रांति उत्पन्न कर दी। अरबों के द्वारा यूरोप में इनका प्रचार हुआ। अतः १५वीं सदी में यूरोप के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में चीन के सहयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यूरोप नव-जागरण के लिये यूनान के प्रति जितना ऋणी है, चीन के प्रति वह उससे कम ऋणी नहीं हो सकता।

चीनियों ने व्यापार पद्धति को भी प्रोत्साहित किया। इन्होंने सिक्के का प्रयोग किया और बैंकिंग प्रणाली का भी प्रचार किया। विश्व की कलात्मक जातियों से चीनी भी किसी से पीछे नहीं हैं। चित्र-लेखन कला और रंगसाजी में वे दक्ष रहे हैं। चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में वे अद्वितीय थे और उनकी इन कृतियों का आधुनिक काल में भी सम्मान किया जाता है। उनकी निर्माण कला का अमर स्मारक उनकी निर्मित महान् दीवार है।

सबसे बढ़कर तो यह बात है कि भारत के जैसा चीन ने भी विश्व को शान्तिप्रियता और बन्धुता का पाठ पढ़ाया है। समाज के हित के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग करने और अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु बनने के लिये बतलाया है। इसने विद्या तथा विद्वानों का सम्मान कर नैतिकता की महत्ता स्थापित की है और विद्रोहात्मक भावनाओं को दबाने का मार्ग दिखलाया है। इस सम्बन्ध में कारलाइल महोदय का कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण

है। उन्होंने लिखा है, "चीनियों के सम्बन्ध में सबसे रोचक बात यह है कि वे अपने साहित्यिकों को अपना शासक बनाने का प्रयत्न करते हैं। सभी विधानों और क्रान्तियों का एकमात्र उद्देश्य, यदि उसका कोई उद्देश्य होता है, तो यही होता है कि बुद्धिमान व्यक्ति को अपना पथ-प्रदर्शक बनावें। सच्ची बुद्धि वाला व्यक्ति सच्चा, न्यायप्रिय, दयालु एवं वीर होता है। यदि उसको शासक बना लिया तो सब कुछ प्राप्त कर लिया; यदि इसमें असफल रहे तो चाहे तुम असंख्य शासन विधान रखो और प्रत्येक ग्राम में एक-एक पार्लियामेन्ट भी स्थापित कर लो, तो भी तुमने कुछ नहीं प्राप्त किया।"

अध्याय १०

प्राचीन एशियायी सभ्यता—फ़ारस

मेदों का उत्थान-पतन

बेबीलोन और असीरिया के पूरब में फारस का देश स्थित था। इसका नाम पर्सिया' भी था और आजकल इसी को ईरान भी कहा जाता है। परसुआ या पर्स नामक प्रान्त के आधार पर यह देश पर्सिया या फ़ारस कहलाने लगा था। इसी देश में लगभग २००० ई० पू० में आर्यों का एक दल एशिया के पूर्वी भाग से कास्पियन सागर की ओर से आकर बस गया। इसकी दो शाखायें थीं—एक शाखा के लोग पूर्व में रहने लगे जो पर्सियन कहलाते थे और दूसरी शाखा के लोग उत्तर-पश्चिम में रहने लगे जो मेद (मीड) कहलाते थे। मेद और पर्सियन दोनों ही क्रमशः शक्तिशाली होते गये। ६०६ ई० पू० में उन्होंने मिलकर असीरिया की शक्ति को चूर-चूर कर दिया। सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में मेदों की धाक जम गई। बेबीलोन का प्रसिद्ध राजा नेबुकेडनेज़ार मेदराजा हुवक्षत्र का दामाद था। किन्तु शीघ्र ही सत्ता के लिये आपस में द्रोह होने लगा। एस्त्यागिज नामक मेद राजा बहुत ही निर्दयी था, उससे प्रजा असंतुष्ट थी और वह भोग-विलास में व्यस्त रहता था। अंत में मेद पराजित हो गये और पूर्वी शाखा के राजा गुस्ताप्प एक संगठित साम्राज्य स्थापित किया।

मेदों की सभ्यता

फारस मीडिया का बहुत ही ऋणी है। मीडिया ने सभ्यता की नींव स्थापित की जिस पर फारस ने भव्य इमारत खड़ी की। मेदों ने लेखन-कला में उन्नति की। वे वर्णमाला का प्रयोग करते थे जिसमें कई अक्षर होते थे। मिट्टी की पट्टियों के स्थान पर वे चमड़े के टुकड़ों पर लिखते थे। उन्होंने कई कानून बना रखा था। वे भवनों में स्तम्भ का व्यवहार करते थे। परिवार में पिता का बहुत सम्मान होता था किन्तु उनमें बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। वे एक सर्वशक्तिमान देवता में विश्वास रखते थे जिस आधार पर अद्वैतवाद के सिद्धान्त का विकास हुआ।

फ़ारसवासियों का उत्थान

मेदों के पतन के पश्चात् फारसवासियों का उत्थान तीव्र गति से हुआ। इसके अनेक कारण थे। सर्वप्रथम मेदों ने उनके उत्थान के लिये नींव खड़ी कर दी थी। इस समय तक अन्य पड़ोसी राज्यों की शक्ति का भी ह्रास होने लगा था। फारसवासी घोड़े का उपयोग जानते थे और प्रारम्भ में उन्हें अन्य जातियों से युद्ध करना पड़ा था।

अतः वे युद्धकुशल थे। उनका नैतिक स्तर भी उच्च था। भौगोलिक स्थिति भी उनकी उन्नति में सहायक सिद्ध हुई। फारस पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ एक विस्तृत पठार था। इसकी जलवायु शुष्क थी किन्तु हरी-भरी घाटियाँ भी थीं जहाँ फलों का उत्पादन खूब होता था। खनिज पदार्थ भी पाये जाते थे। वह भारत तथा पश्चिमी एशिया के बीच में स्थित था। वह समुद्र के निकट भी था। अतः व्यापार की प्रगति में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ।

साइरस

गुस्ताप्प राजवंश में एक बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ जो इतिहास में महान् साइरस के नाम से विख्यात है। उसने ५५०-५२६ ई० पू० तक राज्य किया। यह एक बहुत ही वीर और लड़ाकू शासक था। यह मीडों के अंतिम राजा इष्टवेगु का नाती लगता था। इसने एक विशाल और दृढ़ सेना स्थापित की। मीडों में अब फूट पैदा हो गया था जिससे लाभ उठाकर साइरस ने उन पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। पूर्वी राज्य ने भी इसकी प्रभुता स्वीकार कर ली। काश्मीर, गांधार आदि प्रान्त भी उसके हाथ में चले आये। मध्य एशिया में वाह्लीक (बल्ख) और शक-स्थान (ऑक्सस और जैकसार्टिज के मध्य) को भी इसने हड़प लिया। इस तरह बड़े वेग के साथ वह पश्चिम की ओर बढ़ता गया। एशिया माइनर में लीडिया नाम का एक प्रदेश था जो धन-दौलत में एशिया के सभी देशों से बढ़-चढ़कर समझा जाता था। इसका राजा क्रोसस अपने वैभव के लिये ही इतिहास में प्रसिद्ध था। लीडिया के राजा से भी साइरस की मुठभेड़ हो गई जिसमें लीडिया के ही राजा को मुँह की खानी पड़ी। ५३६ ई० पू० में इसने वेबीलोन पर भी अपना हाथ साफ किया और केल्डिया जाति की नवीन सभ्यता का अन्त कर डाला। इस प्रकार साइरस ने रोमन साम्राज्य के पूर्व एक विशाल तथा सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित किया। यह पूरब में अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पश्चिम में एशिया माइनर तक और उत्तर में मध्य एशिया से दक्षिण में फारस की खाड़ी तक फैला था। अब सेमेटिक जाति के स्थान पर आर्यों का भाग्योदय हुआ और आर्य सत्ता के लिये रास्ता साफ हो गया।

साइरस एक सफल लड़ाकू ही नहीं था, वह प्रिय शासक भी था। वह अपनी प्रजा के साथ निरंकुशता का व्यवहार नहीं करता था। वह उदार तथा सहिष्णु था। उसने यहूदियों को फिलस्तीन में शान्तिपूर्वक जाकर बसने की आज्ञा दे दी थी। उसकी इन सभी कीर्तियों को देखते हुए उसे महान् की उपाधि से गौरवान्वित करना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। ५२६ ई० पू० में यह महान् सम्राट् इस संसार से चल बसा।

कम्बोज

साइरस के मरने के बाद उसका पुत्र कम्बोज (कैम्बीसिज) सिंहासनारूढ़ हुआ।

इसने ५२६-५२२ ई० पू० तक राज्य किया। इसने मिश्र को जीत कर साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया। किन्तु वह क्रूर तथा अयोग्य था। अल्पकाल में ही इसके राज्य का अंत हो गया और गुस्ताप्स राज्यवंश की पूर्वी शाखा का एक व्यक्ति गद्दी पर बैठा। साम्राज्य का क्षेत्र तो बहुत बढ़ गया था किन्तु अभी व्यवस्था और संगठन का अभाव था। दारा प्रथम ने इस आवश्यक कार्य को पूरा किया और साथ ही साम्राज्य का विस्तार भी किया।

दारा के राज्यकाल के पहले ही फारस में भी एक महात्मा का प्रादुर्भाव हुआ था जिसने उस देश को बहुत प्रभावित किया। उस महात्मा का नाम है जरथुस्ट्र (जोरोएस्टर)। उसके विषय में आगे विस्तारपूर्वक चर्चा की जायगी।

दारा (डेरियस)

दारा ने ५२१ से ४८५ ई० पू० तक राज्य किया। विश्व के शक्तिशाली सम्राटों में इसकी भी गणना होती है। फारस का तो यह सर्वश्रेष्ठ सम्राट् था। इसने अपने पैतृक

चित्र २६

साम्राज्य की सीमा का और भी अधिक विस्तार किया। पहले प्रान्तीय विद्रोहों को दबाया। कुछ समय तक इसने अपनी जल और थल दोनों ही शक्तियों को सुदृढ़ किया। उसने मिश्रियों के द्वारा निर्मित नील और लाल सागर के बीच की नहर का पुनर्निर्माण किया। स्काइलेक्स नाम का नौपति बड़ा ही कुशल था जिसने जहाजी बेड़े का संगठन

किया। जब दारा के पुत्र ने यूनान पर आक्रमण किया था तो उसकी सेना में १२०० जहाज थे जिनमें ६०० उसके अपने जहाज थे और ३०० जहाज फिनीशियों ने दिया था। दारा ने इन फिनीशियों से मित्रता स्थापित की थी जिसके फलस्वरूप यह सहायता प्राप्त हो सकी थी। भारतवर्ष में पश्चिमी पंजाब और सिंध उसके अधिकार में आ गये और अरब समुद्र में उसके जहाज निर्विघ्न रूप से चलने लगे थे। भारत और बेबीलोन के बीच जो समुद्री व्यापार स्थापित था वह भी इसके अधिकार में चला आया। फिर वह पश्चिम की ओर बढ़ा और हेलसपोंट को पार कर यूरोप में प्रवेश किया। इस तरह एशिया माइनर और वाल्कन प्रायद्वीप का अधिकांश भाग उसके अधिकार में चला आया। यवन लोगों ने भी उसका लोहा मान लिया और यूनान के पूर्व थ्रेस ने पराजय स्वीकार कर ली थी। केवल स्पार्टा और एथेंस के राज्य उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर रह गये थे। इस प्रकार दारा ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो पूरब से पश्चिम तक लगभग ३००० मील की दूरी में स्थित था। यह उत्तर में यूनान तक, पूर्व में सिंधु नदी तक और पश्चिम में अफ्रीका तक फैला था। तत्कालीन विश्व में इतना बड़ा साम्राज्य नहीं स्थापित हुआ था। इसकी राजधानी सूसा थी; किन्तु बेबीलोन तथा पर्सिपोलिस में भी राजमहल निर्मित थे। अपनी अद्‌भुत सफलता के कारण वह गौरव अनुभव करता था और अपने को 'प्रतापी राजा, राज राजेश्वर', 'सम्पूर्ण मानव समुदाय का राजा' आदि नाना उपाधियों से विभूषित करता था।

चित्र २६—पर्सिपोलिस में राजभवन का एक खण्डहर

परन्तु दारा एक महान् विजेता ही नहीं था, वह एक सफल शासक भी था। दारा

के पूर्वजों ने साम्राज्य को स्थापित तो किया, किन्तु उसे संगठित नहीं किया। वे पराजित देशों से कर लेकर ही संतोष कर लेते थे। लेकिन सुअवसर—पाकर वेदेश विद्रोह भी कर देते थे।

दारा ने साम्राज्य को सुसंगठित किया। साम्राज्य में विविध भाषा और धर्म के लोग थे। उन्हें आन्तरिक मामलों में स्वतंत्रता दे दी गई किन्तु उन्हें सम्राट् को कर और सैनिक देना पड़ता था। निश्चित कर और सेना देने के बाद वे निश्चिंत थे। शाही सेना में प्रत्येक प्रान्त का प्रतिनिधित्व था। प्रान्तीय प्रतिनिधित्व के ही आधार पर शाही सेना का विभिन्न श्रेणियों में विभाजन किया गया था। प्रत्येक प्रान्त से सैनिक अपने-अपने शस्त्रों और वर्दियों के साथ जाते थे। सैनिक-भर्ती के नियम बड़े ही कड़े थे। उसने बेबीलोन और मिश्र को अपने अधीन रखा और बाकी साम्राज्य को २० भागों में बाँट दिया। प्रत्येक भाग को क्षत्रपी (सैट्रपी) और इसके शासक को क्षत्रप कहा जाता था। शासन का कार्यभार क्षत्रप के ऊपर था जिसकी नियुक्ति सम्राट् करता था। वही कर वसूली के लिये उत्तरदायी था। कर प्रायः अनाज के रूप में लिया जाता था। किन्तु लीडिया बराबर सिक्के के रूप में देता था क्योंकि वहाँ ६६० ई० पू० से इसका उपयोग होने लगा था। क्षत्रप के सिवा दो और अफसर थे। जेनरल जो सेना की देख-भाल करता था और सेक्रेट्री (मीर मुन्शी) जो खुफिया विभाग का अधिकारी था। साम्राज्य में सर्वत्र जासूस फैले हुये थे—सेक्रेट्री सर्वोच्च जासूस था—वह जासूस की हैसियत से गुप्त रिपोर्ट सम्राट् के पास भेजता था सम्राट् उस रिपोर्ट के आधार पर कर्तव्यच्युत कर्मचारियों को दण्ड देता था। हाथ-पैर काट लेना, जीते जला देना, फाँसी पर लटकाना आदि जैसे कठोर दण्ड का विधान था। किन्तु न्याय समुचित ढंग से होता था। न्यायालय में विचार शीघ्रता से करने पर जोर दिया जाता था। प्रत्येक मुकदमे की अवधि निश्चित कर दी जाती थी। देर करने वाले जजों को कड़ी सजा दी जाती थी। अभियुक्तों को कानून की जटिलता समझाने के लिये दुभाषिये होते थे। घूसखोरी की प्रथा नहीं थी। इसके अपराध में प्राणदण्ड तक दिया जाता था। घूस लेने और देने वाले दोनों की सजा होती थी। पारस्परिक समझौते को प्रोत्साहित किया जाता था।

साम्राज्य के विभिन्न भाग सड़कों द्वारा एक दूसरे से मिले हुए थे। बहुत-सी अच्छी और लम्बी सड़कें बनवाई गई थीं। घोड़े और तीव्रगामी दूतों द्वारा डाक की भी व्यवस्था की गई थी। साम्राज्य के प्रमुख स्थानों में राजप्रासाद बने थे जहाँ सैनिक भी रखे जाते थे।

फ़ारसी-यूनानी सम्बन्ध

फारस और यूनान के बीच युद्ध दोनों देशों के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना

है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे चलकर यूनान के इतिहास के साथ किया जायगा। अतः यहाँ बहुत ही संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

दोनों देशों के बीच युद्ध का श्रीगणेश तो दारा प्रथम के ही समय में हो गया था। एजिया द्वीप समूह (एशियायी कोचक) के यूनानियों ने दारा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। एथेन्स वालों ने उनकी सहायता की थी। विद्रोह को तो दबा दिया गया और यूनान पर भी आक्रमण किया गया। माराथुन का भीषण युद्ध हुआ जिसमें लगभग ६½ हजार फारसवासी खेत आये। फिर भी फारस ही पराजित हुआ। दारा अब अपने देश लौटकर सेना को दृढ़तर करने लगा। किन्तु इसी बीच ४८५ ई० पूर्व में वह परलोक सिधार गया।

अब यूनानियों को हराने का भार दारा के पुत्र जरसीज पर पड़ा। जरसीज ने अपनी जल और थल दोनों सेनाओं का संगठन किया। उसकी सेना अंतर्राष्ट्रीय थी जिसमें अरब, सीरिया, बेबीलोन, तुर्किस्तान, सूडान आदि देशों के सैनिक सम्मिलित थे। अतः इसमें एकता और संगठन का अभाव था। दूसरे, इनमें स्वदेश-प्रेम की भावना का अभाव था। तीसरे, इस सेना में एजिया द्वीप के यूनानी भी थे। इन्हें बलात् सेना में भर्ती किया गया था और ये अपने यूनानी भाइयों से ही विशेष सहानुभूति रखते थे। चौथे, इन मिश्रित सैनिकों को दूरस्थ पहाड़ी भागों में युद्ध करना पड़ता था जिससे इन्हे अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ा। पाँचवें, यूनानी देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत थे। अतः युद्ध का परिणाम स्पष्ट था। थर्मापोली के युद्ध में फारस वाले पराजित हुए। यह तो स्थल युद्ध था, प्लेटो और माइकेल के जल-युद्ध में भी फारस-वासियों को हारना पड़ा। तत्पश्चात् ४६५ ई० पू० में जरसीज की जीवन-लीला ही का अन्त हो गया।

फारस का पतन तथा विदेशी शासन

अब २० वर्षों के युद्धोपरान्त (४८५ ई० पू० ४६६ ई० पू०) फारस का पतन निश्चित हो गया। साम्राज्य बहुत विशाल हो गया था किन्तु दारा और जरसीज के उत्तराधिकारी कमजोर और भोग-विलासी बन गये थे। अब उनका अधिकांश समय महलों में ही बीतने लगा। एक उत्तराधिकारी ने तो यूनान से सहायता के लिये अपना हाथ तक पसारा था। सिकन्दर ने दारा तृतीय (३३६-३३१ ई० पू०) को हराकर ३३० ई० पू० में साम्राज्य के स्वतंत्र अस्तित्व को ही मिटा दिया। सिकंदर के मरने पर उसका साम्राज्य ३ सेनापतियों के बीच वितरित हो गया। एशिया में स्थित हिन्दुकुश से एशिया माइनर तक—साम्राज्य का भाग सेल्यूकस को मिला। लगभग २०० वर्षों तक, १७० ई० पू० तक—फारस यूनानियों के हाथ में रहा। मध्य एशिया की एक जाति-पार्थियन ने उनका फारस से बहिष्कार किया। लगभग २५० वर्षों तक यही विदेशी

जाति फारस का भाग्य विधायक बनी रही। इसके बाद फारसवासियों ने इसके विरुद्ध विद्रोह कर डाला और सन् २२७ ई० में एक स्वतंत्र स्वदेशीय राज्य की स्थापना की।

सस्सानी वंश का शासन

स्वतंत्र स्वदेशीय राज्य का संस्थापक आर्देशीर प्रथम था जो सस्सानिद वंश का था। अतः अब सस्सानिद वंश का राज्य प्रारम्भ हुआ जो २२७ ई० से ६५१ ई० तक कायम रहा। इसे पश्चिम से रोमनों और पूरब से तारतारों (तुर्कों) के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। रोमन और सस्सानिद साम्राज्य में झगड़े का कारण धार्मिक था। एक का धर्म पारसी और दूसरे का ईसाई था और दोनों ही अपने-अपने धर्म का प्रचार बलपूर्वक करना चाहते थे। ७वीं सदी के प्रारम्भ में सस्सानिद वंश में खोसरोज द्वितीय नाम का एक बड़ा ही शक्तिशाली राजा हुआ। इसने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और इसके कई प्रदेशों को जीत लिया। आर्मीनिया, दमिश्क, जेरुसलम आदि प्रदेश उसके हाथ में आ गये। उसने मिश्र पर भी आधिपत्य स्थापित किया। ६१५ ई० में उसने एशियायी कोचक को अधिकृत कर कुस्तुन्तुनिया तक धावा मारा। किन्तु अब उसका शीघ्र ही पतन शुरू हुआ। रोमन सम्राट् हेरेक्लियस ने उसका नाकोंदम भर दिया और उसे पीछे हटना पड़ा। इसी समय उसके विरुद्ध फारस में विद्रोह भी हो गया और उसे गद्दी से हटा दिया गया। ६२८ ई० में वह मर गया। उसके उत्तराधिकारियों ने रोमनों से संधि कर ली और उसके जीते हुए प्रदेशों को लौटा दिया। अब फारस की शक्ति कमजोर हो गई और कुछ समय के बाद ७वीं सदी में अरबवासियों ने वहाँ अपनी विजय-पताका फहराई। तत्पश्चात् कितने ही फारसवासी भारत के पश्चिमी भाग में आकर बस गये।

सभ्यता एवं संस्कृति

भूमिका

फारसवासी आर्य जाति के ही थे और उन्होंने भी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में हाथ बटाया है। उन्होंने कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में कोई विशेष प्रगति या अभिरुचि तो नहीं दिखलाई है और कई बातें दूसरों की नकल मात्र हैं फिर भी सभ्यता के विकास में कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

राजनीतिक संगठन

हम लोग फारसवासियों के राजनीतिक संगठन की क्षमता का परिचय दारा प्रथम के ही राज्यकाल में कर चुके हैं। अब यहाँ दुहराने की विशेष आवश्यकता नहीं है। सम्राट् निरंकुशता के सिद्धांत पर शासन करता था। उसकी इच्छा ही कानून थी। उसे विरोध करने के लिये प्रजा को कोई अधिकार नहीं था। किन्तु सम्राट् अपनी प्रजा का पीड़क और शोषक नहीं था बल्कि उसके हित का ध्यान रखता था।

भौगोलिक दृष्टि से फ़ारसी साम्राज्य के तीन भाग थे। मीडिया तथा फ़ारस का पहाड़ी भाग, दजला-फरात तथा नील नदी की घाटियों का भाग और सीरिया, फिनीशिया तथा एशिया माइनर समुद्र-तट पर स्थित थे। फिर इनके कई राजनीतिक विभाग थे और प्रत्येक विभाग में एक शासक था जो सम्राट् के प्रति उत्तरदायी था। वह क्षत्रप कहलाता था। वह केवल शासक ही नहीं था बल्कि विचार पति तथा सेनापति भी था। उसका वेतन प्रांतीय आय से ही मिलता था।

सम्राट् न्यायप्रिय था। कानून परम्परा पर आधारित थे। दण्ड-विधान कठोर था। अंग-भंग, कैद, निर्वासन, अग्निदाह, विषपान, अर्थदण्ड, प्राणदण्ड आदि की प्रथायें प्रचलित थीं।

साम्राज्य का सैन्य संगठन अद्भुत था। इसकी सुरक्षा सेना ही पर अवलम्बित थी। प्रौढ़, योग्य व्यक्ति के लिये सेना में भर्ती होना अनिवार्य था। केन्द्रीय सेना में सम्राट् के अंगरक्षकों की प्रधानता थी। सेना में विदेशियों का अभाव था और मेद तथा फ़ारस-वासियों का ही बोल-बाला था। वह सैन्य संचालन, तीव्र आक्रमण और व्यूह रचना आदि कामों में बड़ी ही प्रवीण होती थी। अधीनस्थ राज्यों की सेना से भी काम लिया जाता था। उत्तम सड़क तथा डाक व्यवस्था होने से यातायात में पूरी सुविधा थी। इस प्रकार फ़ारसवासियों का राजनैतिक संगठन आश्चर्यजनक था। वस्तुतः प्राचीन संसार में साम्राज्यवादी शासनप्रणाली का यह बहुत ही सफल उदाहरण था।

वह कई अंशों में रोमन सम्राटों के लिये नमूना तुल्य था। उन्होंने फ़ारस से ही यातायात के राजनीतिक महत्व को सीखा था। प्रो० विलडूरैंट के शब्दों में फ़ारसी साम्राज्य सफल राजनीतिक संगठन था जिसकी समानता केवल ट्राजन, हाड्रियन और एंटोनाइंस ही कर सकते थे।[1]

धर्म

जरथुष्ट्र[2] के विषय में पहले ही चर्चा की गई है। वह फ़ारसवासियों का धार्मिक गुरु था। उसका समय प्रायः ५९९ से ५२५ ई० पू० तक बताया जाता है। अतः उसे भी बुद्ध और कनफ़्यूशस के साथ ६ठीं सदी ई० पू० का एक महान् पुरुष समझा जाता है। वह बल्ख का रहने वाला था। फ़ारसवासी इसी महात्मा के अनुयायी हैं और उसका चलाया धर्म पारसी धर्म के नाम से विख्यात है। भारत के पारसी लोग इसी धर्म के अनुयायी हैं। अन्य आर्यों की भाँति फ़ारसवासी भी पहले कर्मकाण्डी तथा बहुदेववादी थे और देवी-देवताओं की वेदियों पर तरह-तरह की वस्तुएँ चढ़ाते थे। लेकिन जैसे

---

[1]दी स्टोरी ऑफ सिविलीजेशन १,३६४।

[2]जरथुष्ट्र या जोरोष्टर का अर्थ—ऊँटों का धनी।

भारत में वैदिक विधि-विधानों के विरुद्ध सुधारवादी जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय का उदय हुआ उसी तरह फारस में भी सुधारवादी जरथुष्ट्र सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

जरथुष्ट्र को इस संसार में अच्छी और बुरी दोनों चीजें दीख पड़ती थीं। वह कहीं हरा-भरा खेत देखता तो कहीं उजाड़ मरुस्थल, कहीं व्यवस्था देखता तो कहीं अराजकता, कहीं स्वास्थ्य तो कहीं रोग, कहीं हँसी तो कहीं रुलाई। इस तरह उसके विचार से संसार में दो शक्तियों—अच्छाई और बुराई, सतोगुण और रजोगुण, ईश्वर और शैतान में सदा ही संघर्ष चलता रहता है। अतः मनुष्य अपनी सतोगुणी प्रकृति को ही विकसित कर तमोगुणी प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सकता है। उसने मनुष्य के व्यक्तिगत चरित्र की महत्ता पर ही विशेष जोर दिया। उसके उपदेश के सार ३ थे—शत्रु को मित्र, पापी को पुण्यात्मा और अज्ञानी को ज्ञानी बनाना। वह कहा करता था कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार किया जाय जैसे दूसरे से अपने प्रति व्यवहार की आशा की जाय। इस दृष्टि से बुद्धि और कनफ्यूशस के विचारों में समता पाई जाती है।

जरथुष्ट्र के विचारानुसार अच्छी और बुरी—दोनों शक्तियों के अलग-अलग देवता भी होते हैं। आहुरमाजदा अच्छी शक्ति यानी सत्य का और अहरीमन बुरी शक्ति यानी मिथ्या का द्योतक है। शैतान और अंधकार अहरीमन के अनुयायी हैं। इसी समय से शैतान के विचार का प्रारम्भ होता है। इस तरह उसने द्वैतवाद के सिद्धांत को स्वीकार किया। किन्तु उसने एक ही महान् सर्वशक्तिशाली देवता आहुरमाजदा की पूजा करने के लिये बतलाया। वही ज्ञान का अधिपति, विश्व का पोषक तथा संचालक माना जाता है। मित्र या प्रकाश उसके प्रसिद्ध अनुगामी हैं। इसकी पूजा के लिये ब्राह्मण जैसे किसी विशेष वर्ग की या मन्दिर जैसे भवन की कोई आवश्यकता नहीं थी। मनुष्य अपने सत्कर्मों के द्वारा उसकी पूजा कर सकता था। प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने कर्मों के अनुसार-फल भोगना पड़ता है। अंतिम निर्णय के सिद्धात का भी यहीं से प्रतिपादन होता है। इस तरह एक प्रकार से उसने अद्वैतवाद के सिद्धांत को भी अपनाया था। यह उसकी विशेषता ही कही जा सकती है। जरथुष्ट्र के धर्म ने यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम को भी प्रभावित किया। लेकिन आगे चलकर पुरोहित वर्ग की स्थापना हो गई जो मंगी कहलाते थे। इन लोगों ने कई धार्मिक विधियाँ चलाईं और सर्वसाधारण इनका खूब सम्मान करने लगे।

द्वैतवाद के सिवा सहिष्णुता भी ईरानी धर्म की विशेषता थी। असीरिया के राजा अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझते थे और वे अन्य देश के राजाओं को ही नहीं, वहाँ के नर-नारियों, देवी-देवताओं और पशु-पक्षियों तक को भी अपना शत्रु मानते थे। अतः वे देश की विजय के साथ-साथ इन सबों पर भी विजय प्राप्त करना चाहते थे। वे

मन्दिरों और मूर्तियों का तोड़-फोड़ करते थे और अपने धर्म को दूसरों पर बलात् लादते थे और नहीं स्वीकार करनेवालों का खून बहाते थे। लेकिन जरथुष्ट्र के अनुयायी—फारस के राजा इस अमानुषिकता और असहिष्णुता से मुक्त थे।

फारसवासियों के धर्मग्रन्थ का नाम अवेस्ता है। यही उनका ऋग्वेद और बाईबिल है। इसी में जरथुष्ट्र की शिक्षाएँ हैं। इसकी लिखावट जिन्द भाषा में है जो संस्कृत से मिलती-जुलती है। भाषा के अतिरिक्त देवताओं तथा धार्मिक विधि-विधानों में भी भारतीय आर्यों के साथ समता पाई जाती है।

फारसवासियों के धर्म में बिलकुल नवीनता या मौलिकता नहीं है। अपने आस-पास के देशों की सभ्यताओं से जरथुष्ट्र ने बहुत-सी उत्तम चीजों को ले लिया। असूर, बेबीलोन आदि देशों में भी देव और असूर के बीच निरंतर संघर्ष की चर्चा की जाती थी। वैदिक धर्म में भी इस तरह की बात कही जाती थी।

फारसवासी सूर्य और अग्नि को भी, ईश्वरीय शक्ति का ही प्रतीक समझकर पूजा करते थे। इनकी पूजा भारत, मिश्र और बेबीलोन में भी होती थी।

साहित्य एवं कला

साहित्य और कला, ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्रों मे फारसवासियों ने कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं की; क्योंकि वे प्रधानतः सैनिक जाति के थे। बहुत से लोग कृषक थे जिनमें शिक्षा का अभाव था। इन क्षेत्रों में उन्होंने अधिकतर दूसरों से ही ग्रहण किया है। शुरू में उनकी भाषा संस्कृत से मिलती-जुलती थी किंतु पश्चिमी एशिया की अन्य जातियों के सम्पर्क से एक दूसरी भाषा का उदय हुआ। इसमें सुमेरियन प्रणाली के ३६ संकेत सम्मिलित थे। इस भाषा का प्रयोग विशेष रूप से शिलाओं या मिट्टी-पट्टियों पर लिखने में होता था। व्यापारिक क्षेत्र में अरामिक भाषा का अधिक व्यवहार किया जाता था। अवेस्ता के सिवा उनके अन्य कोई प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रन्थ नहीं है। अवेस्ता भी प्रधानतः धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें ५ भाग हैं। फारसवासी जादू-टोना, तंत्र-मंत्र में भी बहुत विश्वास करते थे जिससे विज्ञान-शास्त्र का विकास न हो सका।

फारसवासियों की कला में भी मौलिकता का अभाव था। उन्होंने निर्माण कला के क्षेत्र में मिश्र से रंगीन दीवारों का, बेबीलोन से विशाल मीनारों का और असीरिया से पक्षयुक्त साँड़ों का उपयोग करने का कौशल प्राप्त किया था। लेकिन वे विविध शैलियों को लेकर उनका सामञ्जस्य कर लेते थे और यही उनकी विलक्षण शक्ति थी। अतः उनकी निर्माण-कला असीरिया तथा मिश्र और यूनान की निर्माण-कलाओं के मध्य का मार्ग था। इस तरह इसी क्षेत्र में उन्होंने कुछ मौलिकता भी दिखलायी। उन्होंने अनेकों भवन तथा स्तम्भ बनवाये।

समाज

समाज कई वर्गों में विभक्त था—राज-परिवार, पुरोहित व्यापारी और मजदूर। दास प्रथा भी प्रचलित थी जिसमें अधिकांश लोग विदेशी थे। वे किसी परिवार के साथ सेवक के रूप में रहते या कृषकों के खेत में श्रमिक के रूप में काम करते थे। समाज में जाति-पाँति का कोई बंधन नहीं था। परिवार व्यवस्था प्रचलित थी। सैनिकी राज्य होने के कारण जनसंख्या की वृद्धि प्रोत्साहित की जाती थी। अतः बहु विवाह प्रथा स्थापित थी। स्त्रियों की दशा साधारणतः अच्छी थी। तड़क-भड़क में लोगों की विशेष अभिरुचि थी। वे भड़कीले तथा बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण धारण करते थे। वे आपसी व्यवहार में शिष्टाचार प्रदर्शित करते थे। वे अपने मृतकों को जलाने या गाड़ने के पक्ष में नहीं थे बल्कि उन्हें पशु पक्षियों को दे देना वे अधिक अच्छा समझते थे ताकि मरने पर भी मानव शरीर का उपयोग हो जाय।

फ़ारसी सभ्यता की देन

फ़ारसी साम्राज्य के संगठन के लिये यद्यपि युद्ध करना पड़ा था फिर भी असीरिया के राजाओं की भाँति फ़ारस के राजा बर्बर और जंगली नहीं थे। वे दूसरे देश के राजाओं को भले ही अपना शत्रु समझते थे वहाँ के निवासियों और देवताओं को नहीं। युद्ध, रक्तपात और साम्राज्य विस्तार ही इनका एक मात्र उद्देश्य नहीं था। इनकी आय का प्रधान साधन और पेशा लूट-मार और शोषण नहीं था बल्कि उन्नत व्यापार था। राज-दरबार भी शिष्टाचार के लिये विख्यात था। उनके धर्म की विशेषता सहिष्णुता और उदारता थी। यहूदियों के साथ फ़ारस के सम्राटों का व्यवहार एक उच्च आदर्श उपस्थित करता है। इनका पोताध्यक्ष स्काईलेक्स एक विदेशी ही था। किसी को भी बलात् धर्म स्वीकार करने के लिये विवश नहीं किया गया। इस धर्म में अद्वैतवाद का भी पुट था। शैतान के विचार और कर्म के अंतिम निर्णय के सिद्धान्त को भी इस धर्म ने प्रतिपादित किया। वस्तुतः अखनातन के धर्म को छोड़कर जरथुष्ट्र का धर्म तत्का-लीन विश्व में सर्वश्रेष्ठ था।

संक्षेप में, साम्राज्यवादी राजनीतिक संगठन, दरबारी शिष्टाचार, सम्राटों की सार्वजनिक कर्त्तव्य-भावना और धार्मिक सहिष्णुता—यूनानियों तथा रोमनों के लिये आदर्श तुल्य थे। यही फ़ारसी सभ्यता की मानव-समाज को देन है।

अध्याय ११

भूमध्यसागरीय सभ्यता—फिलस्तीन, फिनीशिया, क्रीट

पृष्ठ-भूमि

यह पहले[1] बताया जा चुका है कि नदी-कालीन सभ्यताओं के बाद समुद्रकालीन सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। इस दृष्टि से भूमध्यसागर का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उपजाऊ भूमि तथा समशीतोष्ण जलवायु रहने के कारण इस भू-भाग में अनेक जातियों का प्रादुर्भाव हुआ और कई सभ्यताओं तथा संस्कृतियों का उदय। अतः भूमध्यसागरीय प्रदेशों के निवासियों में विश्वबंधुता तथा विश्व-साम्राज्य के विचारों का सूत्रपात होना स्वाभाविक था। कितने स्थानों में कई प्रकार की धातुएँ मिलती थीं जिनसे सभ्यता के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला। कितने भू-भागों में प्राकृतिक दृश्यों तथा सौंदर्य की प्रचुरता थी जिनसे इन भागों के निवासियों में कल्पना-शक्ति का विकास हुआ। इसके फलस्वरूप उन लोगों ने उच्चकोटि की कला तथा साहित्य को उत्पन्न किया। प्राचीन युग में यह सागर व्यापार के लिये बहुत ही उपयुक्त था। ३००० ई० पू० के लगभग एशिया माइनर और पूर्वी देशों के बीच व्यापारिक सम्बंध स्थापित था। पूर्व तथा पश्चिम के बीच व्यापार करने का भी यही मार्ग था। इसके तट पर के स्थित देश व्यापार के लिये प्रसिद्ध हो गये। जहाजों का निर्माण करना और समुद्र में चलाना इनका प्रधान पेशा हो गया। अतः नाविक जातियों का उत्थान हुआ। इस तरह मिश्र और मेसोपोटेमिया आदि जैसे सभ्य देशों से इनका सम्पर्क हो गया, बहुत-सी बातों में विचार-विनिमय होने लगा और वे एक दूसरे को स्वाभाविक ही प्रभावित करने लगे।

उपर्युक्त सभी कारणों से भूमध्यसागरीय देशों में भी उत्तम कोटि की सभ्यता का विकास होना अनिवार्य हो गया। इन देशों में फिलस्तीन, फिनीशिया और क्रीट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। फिनीशिया और क्रीट दोनों प्रगतिशील सामुद्रिक शक्तियाँ थीं। इन्होंने सभ्यता के निर्माण में तो हाथ बँटाया ही, इसके प्रसार और प्रचार में भी इन्होंने विशेष भाग लिया। इनके द्वारा कितनी असभ्य जातियों के पास सभ्यता की किरण पहुँचायी गयी। क्रीट को तो यूरोपीय सभ्यता का जन्मदाता ही कहा जा सकता है। सभ्यता की प्रथम ज्योति क्रीट में ही पहुँची और ग्रीस होते हुए यूरोप में इसका प्रकाश फैला। अतः मिश्र, बेबीलोन और असीरिया की तुलना में भूमध्यसागरीय देश तो छोटे

[1] देखिये अध्याय १

और साधारण हैं; किन्तु सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। अन्य देशों पर आक्रमण कर नर-संहार करना इनका प्रधान उद्देश्य नहीं था बल्कि वाणिज्य-व्यवसाय को उन्नत कर देश को समृद्धिशाली बनाना और सुख तथा शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही इनका प्रमुख लक्ष्य था

अब भूमध्यसागरीय देशों की सभ्यताओं का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा।

(क) हिट्टाइट सभ्यता

हिट्टाइट या हिट्टी किस जाति के थे इस सम्बंध में इतिहासवेत्ता एकमत नहीं हैं। कोई उन्हे सेमेटिक जाति का कहता है तो कोई आर्य जाति का। वे सेमेटिक लिपि का प्रयोग करते थे। लेकिन कैपेडोशिया स्थित बोगासक्वी मे १४०० ई० पू० के समय का एक शिलालेख मिला है जिसमे वरुण, मित्र, इन्द्र जैसे आर्य देवताओं के नाम हैं। अतः उनकी जातीयता के सम्बंध में कोई निश्चित मत निर्धारित करना कठिन है। साथ ही उनकी लेखन-प्रणाली अभी निकट अतीत मे ही पढी गई है और अभी उनके बहुत लेख अपठित भी हैं। लेकिन यह बात निश्चित् है कि हिट्टियों ने सभ्यता के क्षेत्र मे विशेष उन्नति की थी।

उन्होंने एशियाई कोचक (एशियामाइनर) में अपना राज्य स्थापित किया था जो २८०० से १२०० ई० पू० तक कायम था। हट्टुसस (बोगासक्वी) इसकी राजधानी थी। शुब्बीलुल्यूमा इनका एक प्रसिद्ध राजा था। १२६५ ई० पू० में मिश्रियों और हिट्टियों के बीच युद्ध हुआ था और तत्पश्चात् दोनों देशों में वैवाहिक सम्बंध स्थापित हो गया। तेलेल अमरना के पत्रों से दोनों देशों के सम्बंध के विषय में पूरी जानकारी मिलती है।

पुरातत्ववेत्ताओं के मतानुसार हिट्टियों की सभ्यता २००० ई० पू० में शुरु हो गयी थी। एशिया माइनर के उत्तर-पश्चिम मे ट्राय नाम का एक शहर था जहाँ के लोग २५०० ई० पू० में बर्तन और कपडे बनाना जानते थे। हिट्टी लोग पहले शव को गाड़ते थे किन्तु पीछे जलाने भी लगे थे। इनके भवन विशाल और मजबूत होते थे जिनमें पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े लगाये जाते थे। बिना चुना बालू के ही पत्थर के टुकड़े इस तरह मिलाकर जोड़े जाते थे कि उनके बीच छिद्र नहीं रह जाता था। १२०० ई० पू० के लगभग वे लोहे का प्रयोग करने लगे थे। वे खानों से लोहे को निकालकर उसे गलाते थे और तरह-तरह की चीजें बनाते थे। धूप में ईंटों को पकाकर किले का निर्माण करते थे। इनकी राजधानी की चारों ओर सुदृढ़ दीवार बनाई गई थी। वे लोग छोटे-छोटे स्वतन्त्र नगर राज्यों में संगठित थे। इनकी सेना सुसंगठित थी। अश्व-सेना एक प्रधान अंग था। राजा स्वेच्छाचारी नहीं था बल्कि राज-घराने के प्रमुख व्यक्तियों तथा सामन्तों की राय से शासन प्रबन्ध करता था। मिश्र और मेसोपोटेमिया की लिपियों के आधार पर इन्होंने मिश्रित लिपि का आविष्कार किया था जिसका वे व्यवहार करते थे।

हिट्टी समाज में कृषक, कारीगर और मजदूर प्रधान थे। दासों की संख्या बहुत थी। ये लोग सिर पर पगड़ी बाँधते थे। बहुत देवी देवों की पूजा होती थी जिनमे पृथ्वी माता और सूर्य का प्रमुख स्थान था। इनकी मुद्राओं पर गरुड़ का चित्र अंकित मिला है। ये पूजा-पाठ में भौतिक सुख तथा चिर जीवन की चाह रखते थे। मन्दिर बनाये जाते थे और यज्ञ तथा बलिदान की प्रथा प्रचलित थी। हिट्टी लोग अपने नगर में विदेशियों का आना पसन्द नहीं करते थे। लोहे का प्रयोग सभ्यता को उनकी सबसे बड़ी देन थी।

१२०० ई० पू० के लगभग हिट्टी साम्राज्य पर बंजारों और असीरिया वसियों के आक्रमण हुए और इसका अन्त हो गया।

(ख) आरमीनियन सभ्यता

१२०० ई० पू० तक सीरिया मे सीमेटिक जाति की एक और शाखा बस गई थी जो आरमीनियन कहलाती थी। वे प्रधानतः व्यापारी थे और उनका सम्बन्ध दूसरे-दूसरे देशों से था। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वे स्थलीय व्यापार मे ही पारंगत थे। वे नाविक नहीं थे। उन्होने कई महत्वपूर्ण नगर बसाये जिनमें दमिश्क बहुत प्रसिद्ध था। साम्राज्यवाद मे उनकी अभिरुचि नहीं थी। सभ्यता को उनकी सबसे बड़ी देन है वर्णमाला का विकास तथा प्रचार। उन्होंने फिनिशियों से वर्णमाला सीखी जो चित्र-संकेत पर आधारित थी और उसे उन्नत किया। सारे पश्चिमी एशिया में उन्हीं की वर्णमाला का प्रयोग हो रहा था। इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी। इन्हीं आरमीनियन लोगों से असीरियों ने वर्णमाला, कागज तथा कलम का उपयोग करना सीखा था। कार्यालयों में अनेक आरमीनियन किरानी का कार्य करते थे।

(ग) प्राचीन फिलस्तीन

राजनीतिक विवरण

फिलस्तीन एशिया के पश्चिमी किनारे पर अरब के उत्तर-पश्चिम, भूमध्य सागर के दक्षिण पूर्व में स्थित है। आधुनिक काल में जैसे इसकी स्थिति रही है वैसी ही पुरातन काल मे भी थी। प्राचीन युग में भी यह एक विकट समस्या थी और इसकी कहानी दुख-पूर्ण थी। इसका सम्पूर्ण इतिहास आपदाओं का एक क्रमबद्ध विवरण-मात्र है। फिर भी विचित्रता यह है कि यहूदी जाति ने आजतक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखा है।

फिलस्तीन के निवासी हिब्रू कहे जाते थे। इन्हीं को यहूदी (ज्यू) इस-राय-लाइट भी कहा जाता है। ये लोग सेमिटिक जाति के थे और पहले अरब मे रहते थे। वहाँ से चलकर ये बे-घरबार का भटकने लगे। कुछ लोग फिलस्तीन में चले गये और कुछ लोग मिश्र जाकर रहने लगे। अब्राहम इनके आदि पुरुष थे। लेकिन मिश्र में फेरोह के राज्य में इनकी बड़ी दुर्गति होती थी। ये लोग अनेकों प्रकार से सताये जाते थे। इनके बीच एक बड़ा ही विलक्षण व्यक्ति था जिसका नाम मूसा था। वह एक विख्यात स्मृतिकार

था। उसने इन यहूदियों को मिस्रियों के अत्याचार और दासता से मुक्त किया और इन्हें १५वीं सदी ई० पू० के प्रारम्भ में फिलस्तीन की ओर ले चला। यहीं से यहूदियों के इतिहास का प्रारम्भ होता है।

दुर्भाग्यवश फिलस्तीन में प्रवेश करने के पूर्व ही मूसा की जीवन-लीला ही का अन्त हो गया। तदुपरान्त जोशुआ यहूदियों का नेता हुआ और उसने कार्य को पूरा किया। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से वृद्ध व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित पुरोहित न्यायाधीश इनके शासक होने लगे। फिलस्तीन की भूमि बिलकुल खाली नहीं थी। कानानाइट वहाँ के मूल निवासी थे किन्तु यहूदियों से अधिक सभ्य थे। दोनों के बीच मुठभेड़ होने लगी किन्तु समय-गति के साथ दोनों में शादी-सम्बन्ध होने लगा और मूल निवासी यहूदियों में घुल-मिल गये।

लेकिन अभी उनकी आपत्तियों का अन्त नहीं हो गया। अभी तो इसका प्रारम्भ ही हुआ। फिलस्तीन, मिस्र और असीरिया के दो शक्तिशाली साम्राज्यों के मध्य में स्थित था। अतः इनके आक्रमण का भय सदा बना ही रहता था। फिलस्तीन के किनारे पर फिलिस्टाइन नाम के लोग थे जो क्रीट से आकर वहाँ बस गये थे। इनके साथ भी यहूदियों को बहुत युद्ध करना पड़ा। किन्तु यहूदी सफल रहे और इस स्थिति में उनके बीच सरदार के स्थान पर राजा का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार यहूदी इतिहास का प्रथम भाग समाप्त हुआ।

चित्र २८—फिनिशिया तथा सोलोमन का साम्राज्य

साम्राज्य का उत्थान-पतन

साल, डेविड और सोलोमन—उनके प्रसिद्ध राजा हुए। साल ने ४० वर्षों तक (१०९५-१०५६ ई० पू०) राज्य किया किन्तु अभी राजकीय ठाट-बाट का अभाव था और वह छावनी में ही रहता था। लेकिन उसका जमाता डेविड (१०५६-१०१५ ई० पू०) एक वीर सैनिक था। उसने जेरुजलम पर आक्रमण कर जीत लिया और अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया।
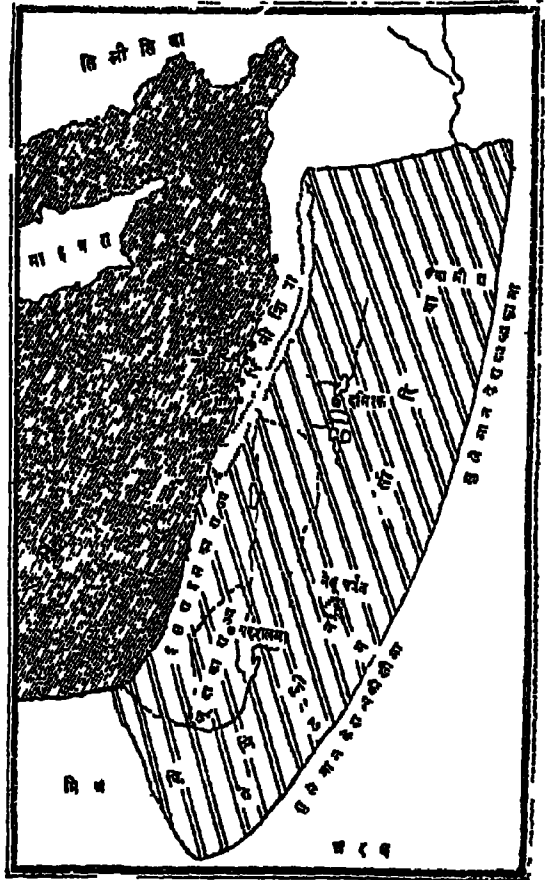
वह राजकीय ठाट-बाट से रहने लगा। वह केवल विजेता ही नहीं था, वह कवि और ईश्वर-भक्त भी था। हिब्रू साहित्य में बड़े गर्व के साथ उसकी प्रशंसा की गई है।

सोलोमन डेविड का पुत्र था। इसने ४० वर्षों तक (१०१५-६७५ ई० पू०) तक राज्य किया। उसके पास धन-दौलत की कोई कमी नहीं थी और वह तड़क-भड़क पसन्द करता था। वह बुद्धि, भोग-विलास और धन-इन तीन बातों के लिये प्रसिद्ध था। उसके पास स्त्री और वैभव का तो वस्तुतः अभाव नहीं था लेकिन उसकी बुद्धिमानी संदेहात्मक है। उसने धन का बहुत कुछ दुरुपयोग किया। उसकी पत्नियों और रखेलियों की संख्या १००० थी। अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिये उसने जेरुजलम में एक भव्य और विशाल मन्दिर का निर्माण कराया, अपनी राजधानी की किलाबन्दी की और तरह-तरह के कार्य किये। भोग-विलास की चीजें भारत जैसे सुदुर देशों से मँगाई जाती थीं। आय के कितने ही साधन थे जिनमें प्रधान था प्रजा पर टैक्स। घोड़े, रथ और सूत के व्यापार का एकाधिकार राज्य के हाथ में सीमित था। उसने जातिगत दलों के अरमानों की उपेक्षा की और प्रजा के हित के लिये कोई विशेष कार्य नहीं किया।

फ़िलस्तीन का पतन

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह लोकप्रिय और सुयोग्य शासक नहीं था। प्रजा के ऊपर अनेकों अत्याचार हो रहे थे जिनके विरुद्ध नबियों (पैगम्बरों) ने आवाज उठाई थी। इसका परिणाम भी बुरा ही निकला। सोलोमन का गौरव क्या था मानो चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरी रात। उसके उत्तराधिकारी पुत्र के समय में (६३० ई० पू०) उत्तर की रियासतों ने मिलकर इसरायल का राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी समारिया हुई। दक्षिण की रियासतों का राज्य जुडा कहलाने लगा जिसकी राजधानी जेरुजलम में कायम रही। आर्थिक दृष्टि से उत्तरी राज्य अधिक उपयोगी था। अतः दक्षिणी राज्य की अपेक्षा उत्तरी राज्य शीघ्र ही साम्राज्यवादी शक्ति की लोलुपता का शिकार हुआ। ७२२ ई० पू० में असीरिया के सम्राट ने इसरायल को हड़प लिया। ५८६ ई० पू० में बेबिलोनिया का सम्राट जुडा पर धावा बोल बहुत से यहूदियों को कैद कर बेबीलोन ले गया। किन्तु फारस के सम्राट दारा प्रथम ने बेबीलोन को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और इन यहूदियों को मुक्त कर दिया। ५३७ ई० पू० में जेरुबेबुल के नेतृत्व में ये जुडा वापस लौटे किन्तु इनमें आशा और उत्साह का अभाव दीख पड़ता था। एजरा और नेहमिआ नाम के सन्तों ने इनमें आशा और स्फूर्ति का संचार किया। इसी काल में जेरुजलम का पुनर्निर्माण हुआ और बाइबल की सृष्टि हुई। अब धार्मिक पुनरुत्थान की लहर चल पड़ी। बहुत से शिक्षकों, समालोचकों और पुरोहितों का प्रादुर्भाव हुआ जो स्क्राइब के नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु यहूदी अपनी सत्ता पुनः स्थापित नहीं कर सके। ३३३ ई० पू० में सिकन्दर ने फ़िलस्तीन को अधिकृत किया।

यूनानियों के अधिकार में यह देश २६० वर्षों तक रहा। सीरिया के यूनानी शासक ने यहूदियों की संस्कृति को बलात् मिटा देने की चेष्टा की। लेकिन वह बुरी तरह असफल रहा। इस युग में पुरोहितों का प्रभाव जाता रहा। अब एक विशेष प्रकार के गुरुओं का प्रादुर्भाव हुआ जो रब्बी (Rabbis) कहे जाते थे। ये यहूदियों की महती सभाओं में धर्म की व्याख्या करते थे। ६३ ई० पू० में यह देश रोमनों के अधिकार-क्षेत्र में चला
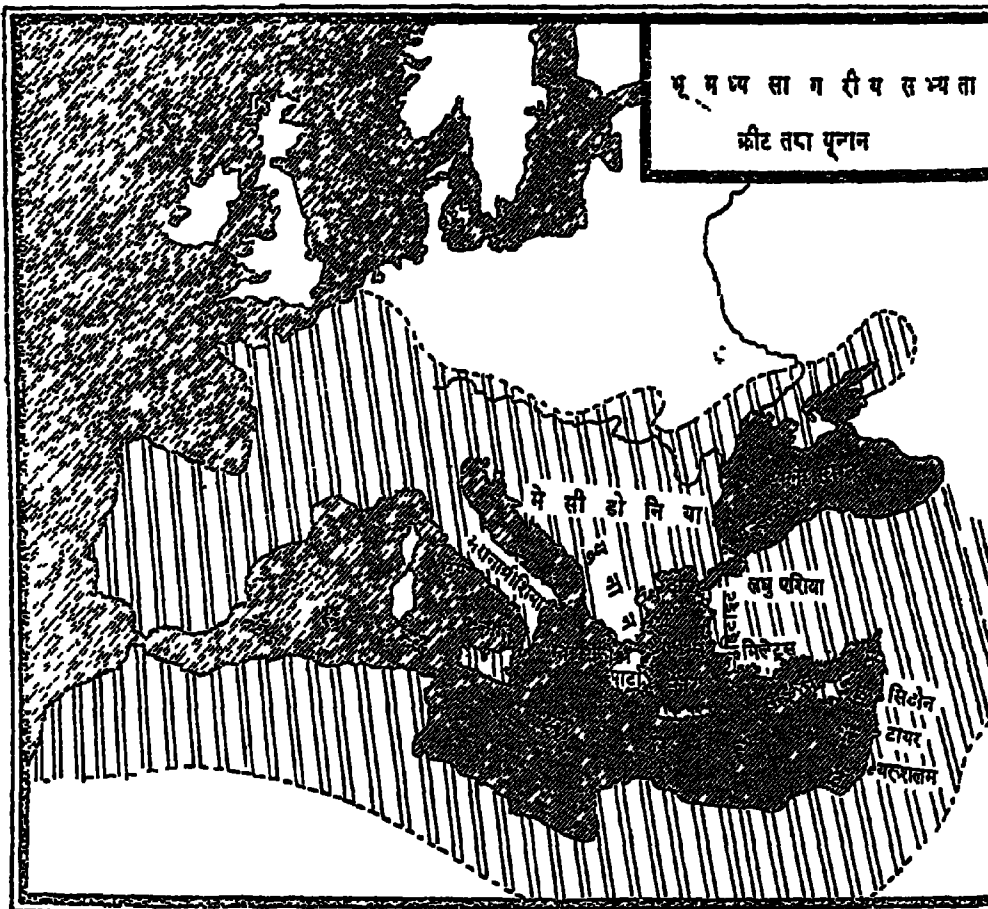
चित्र २६

आया। ७० ई० पू० में हिटस नाम के रोमन अफसर ने जेरुजलम पर आक्रमण किया और फिलस्तीन के स्वतन्त्र अस्तित्व का अन्त कर डाला। उस समय से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तक (७० ई० से १६४८ ई० तक) फिलस्तीन विदेशियों के अधिकार में रहा और यहूदी विश्व के हर कोने-कोने में मारे-मारे फिरते रहे हैं। १६४६ ई० में यहूदियों ने फ़िलस्तीन में इसरायल के नाम से अपना सत्तापूर्ण राज्य कायम किया है।

यहूदी सभ्यता

यहूदी जाति की सब से बड़ी देन धार्मिक क्षेत्र में रही है। यह जाति प्रधानतः धार्मिक जाति थी और इसका धर्म सादा तथा शान्तिपूर्ण रहन-सहन पर विशेष जोर

देता था। अतः इसने कला कौशलया ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कोई अद्भुत सफलता प्राप्त नहीं की, किसी महान युद्ध में भाग नहीं लिया और न कोई बड़ी विजय ही प्राप्त की। केवल संगीत-कला में प्रवीणता प्राप्त हुई थी किन्तु संगीत भी धार्मिक पूजा का ही अंग था।

अतः धार्मिक क्षेत्र में इसने अपूर्व प्रगति प्रदर्शित की और इसी के कारण सभ्यता के इतिहास में इसे भी उच्च स्थान प्राप्त है। वस्तुतः इसकी सभ्यता धर्म पर ही आश्रित है।

यहूदी साहित्य

ईसाइयों के धार्मिक ग्रन्थ बाइबल में दो हिस्से होते हैं—प्राचीन (ओल्ड) टेस्टमेंट और नवीन (न्यु) टेस्टामेंट। प्राचीन टेस्टमेंट यहूदियों का ही उत्पादन है जो प्राचीन इंजील के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें ३९ अध्याय हैं जो 'बुक' के नाम से पुकारे जाते हैं। ये ७०० वर्षों के अन्दर—८५० से १५० ई० पू० तक—विभिन्न समयों में लिखे गये। प्रत्येक अध्याय के आकार और उपयोगिता में भिन्नता पायी जाती है। कुछ अध्यायों की बातें वास्तविक तो कुछ की बातें काल्पनिक मालूम होती हैं। फिर भी प्राचीन टेस्टामेंट तीन बातों के लिये प्रसिद्ध है। (क) साहित्यिक दृष्टि से इसमें उच्च श्रेणी की कविता पायी जाती है। (ख) ऐतिहासिक दृष्टि से तत्कालीन स्थिति का इसमें उल्लेख मिलता है। (ग) धार्मिक दृष्टि से यह यहूदी धर्म के विकास पर प्रकाश डालता है और इसे ईसाई धर्म का शिलान्यास कहा जा सकता है। इसका ईसाइयों के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इस महाग्रन्थ का यहूदियों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा—इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। अभी कहा गया कि उनका साहित्य, इतिहास, धर्म-ग्रन्थ आदि सब कुछ था। यह उनके जातीय जीवन का प्राण स्वरूप था। ढ़ाई हजार वर्षों तक वे निरंतर विपदाओं एवं कठिनाइयों को सहते रहे हैं; इन्हें मन्दिर, राज्य या राजधानी का सर्वथा अभाव रहा है। फिर भी यहूदी जाति आज तक वर्तमान रही है। इसका एक-मात्र श्रेय उसी ग्रन्थ को प्राप्त है। अतः इस ग्रन्थ को यहूदियों ने निर्मित किया। इस महाग्रन्थ ने ही उनके जातीय जीवन का सृजन किया। इसी के बदौलत उनकी राष्ट्रीय विशेषता अक्षुण्ण बनी रह सकी।

प्राचीन टेस्टामेंट के सिवा यहूदियों का एक और धार्मिक ग्रन्थ है जिसका नाम तालमद है। इसमें सर्वोत्तम हिब्रू विद्वानों के विचार भरे हैं और यह यहूदियों को सदा प्रभावित करता रहा है। यह व्यावहारिकता और रहस्य से पूर्ण काव्य, तर्क और दर्शन शास्त्र है। अतः एक लेखक के मतानुसार यह ग्रन्थ स्वयं एक पुस्तकालय ही है।

यहूदी धर्म

लगभग ८५० ई० पू० तक यहूदी अद्वैतवाद में विश्वास नहीं करते थे। वे अपने पड़ोसियों की तरह अनेक प्रकृति देवों के उपासक थे। किन्तु वे जेहोवा को अपना ईश्वर

हिब्रू भाषा के अक्षर फिनीशी भाषा के अक्षर

चित्र ३०

मानकर पूजने लगे थे। उनके वीर राष्ट्रीय नेता मूसा ने जेहोवा को सर्व-शक्तिमान और न्याय-प्रिय बतलाया था। किन्तु अन्य देवताओं की उपासना बंद नहीं हुई। सोलोमन ने जेरुसलम में जेहोवा के सिवा अन्य देवताओं के लिये भी मंदिर बनवाया। इसरायल में अहब के राज्य काल में (८७६-८५४ ई० पू०) बालकी पूजा होती थी। बालटायर का देवता था जहाँ से उसकी रानी आयी थी। इसी समय एलिजा ने नया सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसने प्रचार किया कि जेहोवा के सिवा अन्य कोई देव नहीं है। वही एक देव है और वह बड़ा ही न्यायप्रिय है जो दुष्ट अत्याचारियों को सजा देता है। एलिजा के लगभग एक सदी बाद पैगम्बर या अवतार युग शुरू होता है। एलिजा सर्वप्रथम अवतार माना जाता है। आमोस ने एलिजा के विचारों को और स्पष्ट किया। उसके समय में भोग-विलास और निर्धनता दोनों ही अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे थे। राजदरबार में कर्मकाण्ड और बलिदान द्वारा जेहोवा की उपासना होती थी। आमोस ने घोषणा की कि ईश्वर कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और बलिदान से खुश नहीं होता है बल्कि पुजारियों के पवित्र और न्यायपूर्ण आचरण से और इसरायल को अन्यायपूर्ण कार्यों के लिये उसके दुश्मनों के द्वारा सजा मिलेगी। दूसरे शब्दों में उसके कहने का आशय था कि जेहोवा (ईश्वर) केवल इसरायल में ही नहीं रहता बल्कि सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है और वह न्याय का समर्थक तथा गरीबों का सहायक है। वह सर्वव्यापक, दयालु और न्यायप्रिय है जो व्यक्तिगत चरित्र की श्रेष्ठ-मानवोचित गुणों का विकास

देखना चाहता है। उसकी भविष्यद्वाणी भी सच्ची निकली। असीरिया ने इसरायल को मटियामेट कर डाला। बेबीलोन में यहूदियों के निर्वासन से ईश्वर की सार्वभौमता और न्यायप्रियता के सिद्धात और भी दृढ हो गये।

यहूदियों के धर्म की दूसरी विशेषता थी—एक उज्ज्वल भविष्य की सृष्टि। उन्हें विश्वास था कि कभी उनके बीच एक मसीहा का प्रादुर्भाव होगा जो उनका पथ प्रदर्शन कर सुख की ओर लगावेगा। ईसा का जब जन्म हुआ तो वे उसे ही मसीहा मानने लगे थे। कालान्तर में यहूदी अपने धर्म की पहली महत्ता को भूलने लगे जिससे उनके हृदय में संकीर्णता का संचार होने लगा। सदियों के सकष्टपूर्ण अनुभवों और उपेक्षाओं के कारण उनकी सकीर्णता में वृद्धि होती गई जिसके फलस्वरूप उनमें राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। विश्व में छिन्न-भिन्न होने पर भी वे अपनी जातीयता को कभी नहीं भूले और अपने सत्तापूर्ण राज्य की प्राप्ति के लिये सदैव ही प्रयत्नशील रहे।

यहूदी सभ्यता की देन

इस तरह यहूदियों ने भी सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद का सिद्धांत स्थापित किया। पूरब के अन्य राष्ट्रों ने प्रकृति की स्थिति को प्रधानता दे रखी थी लेकिन यहूदियों ने ईश्वर को सर्वोपरि बतलाया। ईश्वर सभी चीजों का प्रथम कारण था। अतः प्रकृति भी उसी की बनायी हुई थी। उनका यह ईश्वर सर्वव्यापक था। मनुष्य द्वारा निर्मित्त मदिरों में उसकी प्रतिमा की स्थापना ढोंग मात्र घोषित्त की गई। यहूदियों ने ही सदियों से अधविश्वासों की रूढियों में बंधी हुई मानवता को मुक्त करने का प्रथम प्रयास किया। यहूदी धर्म का प्रमुख तथा सर्वप्रधान तत्व ईसाई और इस्लाम धर्म में सम्मिलित हो आज तक वर्त्तमान है। सक्षेप में अद्वैतवाद, पवित्र आचरण, आशावादिता तथा राष्ट्रीयता के सिद्धात यहूदी सभ्यता की मानव समाज को देन है।

(घ) प्राचीन फिनीशिया

भौगोलिक स्थिति

फिनीशिया भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर एक छोटा सा देश था जिसमें कुछ थोड़े से लोग बसते थे। लेकिन साधारण आबादी का छोटा देश होते हुए भी विश्व के प्राचीन इतिहास मे यह महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बाहरी व्यापार तथा घरेलू आराम के लिये वहाँ सभी सामान वर्त्तमान थे। वहाँ के लोग सेमेटिक जाति के थे और बेबीलोनिया से आकर वहाँ बसे थे। इस शाखा को कानानाइट के नाम से पुकारा जाता था। ये छोटे-छोटे नगर में संगठिन थे और प्रत्येक नगर एक दूसरे से स्वतंत्र था। प्रत्येक नगर के पृथक्-पृथक् देवता और राजा थे। सूर्यदेव (बाल) और चन्द्र (आस्तार्त) की उपासना विशेष प्रचलित थी। फिनीशिया का इतिहास इन्हीं नगरों तथा उपनिवेशों का इतिहास है। वहाँ कभी एक बड़ा स्वतंत्र केन्द्रीय राज्य नहीं कायम हो सका।

यह छोटा देश एक ओर समुद्र से और दूसरी ओर लेबेनन पहाड़ से घिरा हुआ था। इसके किनारे बीच-बीच में कटे हुए थे। अतः वहाँ अच्छे-अच्छे बंदरगाह पाये जाते थे। पहाड़ पर देवदार की लकड़ी मिलती थी। अतः भौगोलिक स्थिति ने फिनीशियों को मल्लाहों और व्यापारियों की जाति बनने के लिये विवश किया। ये प्राचीन युग के अंग्रेज थे। नाव—जहाज का निर्माण, समुद्र में उनका संचालन, वाणिज्य का विकास और उपनिवेशों की स्थापना—ये ही इनके प्रधान पेशे हो गये। अपने इन पेशों में वे इतने सलग्न थे कि उन्हे अपने देश की स्वतत्रता के लिये भी कोई चिंता नहीं थी। अतः फिनीशिया को क्रमशः मिश्र, बेबीलोन, असीरिया, फारस, यूनान और रोम सबके अधीन रहना पड़ा था। फिर भी फिनीशी अपने उद्योग धंधों को करते हुए देश को धन-धान्य से पूर्ण कर रहे थे। लेकिन वे अन्य कला-कौशल, भवन-निर्माण, तड़क-भड़क आदि की भी उपेक्षा करते रहे।

सामुद्रिक यात्रायें

फिनीशिया निवासी जहाज बनाने और चलाने में बड़े ही कुशल थे। वे कुतुबनुमा (कम्पास) का उपयोग नहीं जानते थे। अतः वे अधिकतर दिन में ही जहाज चलाते थे। रात्रि में समुद्र के तट पर रुक जाते थे। वे अपने को किनारे से बहुत दूर नहीं ले जाते थे। यदि कभी रात को भी जहाज चलाना पड़ता तो वे ध्रुव तारा से पथ प्रदर्शन का काम लेते थे। व्यापारियों के बीच प्रतियोगिता की भावना होती थी। अतः कोई व्यापारी दूसरे को अपना रास्ता नहीं बतलाता था। सुअवसर प्राप्त होने पर वे लूट-पाट करने से भी मुँह नहीं मोड़ते थे। धीरे-धीरे वे समुद्र में लम्बी यात्राओं को भी करने लगे। ५६० ई० पू० में कार्थेज निवासी हेनों जिब्राल्टर से दक्षिण की ओर चलकर गैम्बिया होते हुए लाइबेरिया तक पहुँचे। मिश्र के फेरोह नेको के समय में उन्होंने लाल सागर से लेकर नील नदी तक अफ्रीका का भ्रमण किया। अफ्रीका का चक्कर लगाने में उन्हे ३ वर्ष का समय लगा था। सर्वप्रथम उन्होंने ही बीस्के की खाड़ी को पार किया, अटलांटिक समुद्र में प्रवेश किया और ब्रिटेन में कार्नवाल के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम किया।
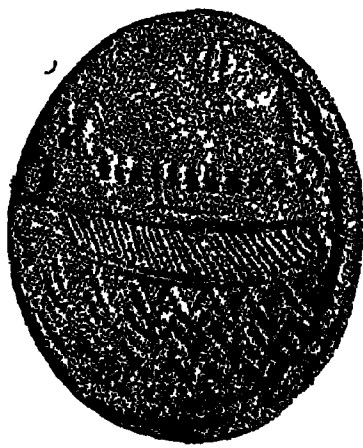
चित्र ३०—सिक्के पर निर्मित फिनीशी जहाज

व्यापारिक प्रगति

व्यापार में तीन बातों का जानना आवश्यक था—लिखना, पढ़ना और हिसाब जोड़ना। फिनीशियों ने लिखना-पढ़ना तो मिश्रियों से सीखा

और हिसाब जोड़ना असीरियों से। वस्तु विनिमय के द्वारा ही उनका व्यापार होता था। उनका व्यापार केवल समुद्र में ही सीमित नहीं था; यह स्थल से भी होता था स्थल पर ऊँटों से काम लिया जाता था। वे ऊँटों पर मालों को बन्दरगाह तक लाते थे। और वहाँ से जहाजों के द्वारा माल विभिन्न स्थानों में भेजा जाता था। इस प्रकार फारस की खाड़ी और कैस्पियन समुद्र का भी लगाव भूमध्यसागर से स्थापित हो गया था। पूर्व में भारतवर्ष से लेकर पश्चिम में स्पेन और ब्रिटेन तथा बाल्टिक सागर के निकट के देशों तक उनके व्यापार का प्रसार हुआ था। वे अरब से सुगन्धि, भारत से मसाले, हाथी दाँत और बहुमूल्य धातुएँ, फारस से दरी-गलीचे, मिश्र से सन तथा रुई, अफ्रीका से शुतुर्मुर्ग के पंख तथा स्वर्ण, स्पेन से अनाज, ब्रिटेन से टिन, यूनान के द्वीपों से संगमरमर तथा ताँबा और काकेशिया से खनिज पदार्थ तथा गुलाम लाकर अनेक स्थानों में पहुँचाते थे। इन चीजों के सिवा अपने देश में बने मालों का भी वे निर्यात करते थे जैसे आभूषण, पारदर्शी शीशा, बर्तन और बेलबूटेदार सूती तथा रेशमी वस्त्र। इस प्रकार प्रत्येक देश को कोई न कोई चीज जो उसके पास नहीं थी पहुँचायी जाती थी। भारत के कितने राज दरबारों में सीरिया का शराब पहुँचता था। वे दास व्यापार में बहुत लाभ उठाते थे। मेसोपोटेमिया के राजाओं से युद्ध के कैदियों को साधारण मूल्य में खरीद कर वे दासों के बाजार में उन्हें अधिक मूल्य में बेचते थे।

शहरों का उत्थान

उन्नत व्यापार के कारण कई शहरों का उत्थान हो गया। सिडन और टायर बहुत ही प्रसिद्ध शहर थे। २०० वर्षों तक सीडन इतनी उन्नत अवस्था में था कि यहाँ के निवासियों ने साइप्रस, रोड्स और एजिया द्वीप समूह के कई द्वीपों में उपनिवेश कायम किया। उन्होंने काले समुद्र तक पहुँच कर नये प्रदेशों की खोज की और वहाँ से गुलाम तथा सोना, चाँदी और टीन लाने लगे। मिश्र के सम्राटों ने सीडन के लोगों को अपने राज्य में विदेशी व्यापार चलाने और कोठियाँ खोलने के लिए आज्ञा दे दी थी। १३वीं सदी में यह ऐश्वर्यशाली शहर फिलिस्टाइन जाति की लोलुपता का शिकार हुआ और मटियामेट कर दिया गया। सीडन के नष्ट होने के बाद टायर का उत्थान होने लगा। सीडन के लोग पूरब की ओर व्यापार करते थे और टायर के लोग पश्चिम की ओर। यहाँ के निवासी बड़े ही शक्तिशाली थे क्योंकि वे अपने दुश्मनों को बिना पराजित हुए वर्षों बझाये रखते थे। इनका ग्रीस, सिसली, माल्टा, स्पेन और उत्तरी अफ्रीका से व्यापारिक सम्बन्ध था। जिब्राल्टर को पार कर वे अन्दलूसिया में प्रवेश किये जहाँ से ऊन, तेल, अनाज और चाँदी मिलने लगे। कुछ लोग अफ्रीका के भीतर सेनीगल नदी तक पहुँचे और लिम्पोपो नदी के निकट सोने की खानों में काम करने लगे थे। इतना ही नहीं, टायरवासियों ने ८१४ ई० पू० में कार्थेज नाम के सर्वप्रमुख उपनिवेश

की स्थापना की। ये टायर वासी कुलीन श्रेणी के ही लोग थे जो घरेलू झगड़े के कारण विदेश के लिये प्रयाण कर गये थे।

फिनीशियन उपनिवेश तीन तरह के थे। (क) असभ्य जातियों के बीच व्यापारिक कोठियाँ खोली गईं और वहाँ किले तथा मन्दिर भी बनवाये गये। (ख) मिश्र जैसे सभ्य देशों में व्यापारिक कोठियाँ खोलकर वे व्यापार करने लगे। (ग) मूल निवासियों को जीत कर उपनिवेश बसाया गया जिनका सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से था। ऐसे उपनिवेशों मे प्रमुख थे—स्पेन में केडिज, सिसली में पालरमो और उत्तरी अफ्रीका में उटिका और ट्यूनिस।

इन उपनिवेशों में कार्थेज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह अफ्रीका के उत्तरी भाग मे समुद्र के किनारे वर्तमान ट्यूनिस प्रान्त में स्थित था। इसने मातृभूमि की सामुद्रिक सभ्यता की परम्परा को बहुत वर्षों तक कायम रखा था। जैसा अभी बतलाया गया, ८१४ ई० पू० में यह स्थापित हुआ और १४६ ई० पू० में इसका विनाश हुआ। भूमध्यसागर में वाणिज्य-व्यवसाय का यही प्रमुख केन्द्र था। इसके पश्चिम भाग में जिब्राल्टर तक इसी राज्य की तूती बोल रही थी। इसके विनाश का प्रधान कारण था—रोम के साथ प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध जिसका विस्तृत वर्णन रोम के इतिहास में मिलेगा।

फिनीशी सभ्यता

फिनीशियों ने लेखन कला के सिवा सभ्यता के अन्य किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं की। उन्होंने भौतिक उन्नति खूब की और इसके साथ जो बुराइयाँ स्वाभाविक होती हैं उन सब का भी प्रचलन हुआ। भोगविलास तथा ऐश आराम उचित सीमा को भी पार कर गये थे और इनमें अति होने लगी थी। अतः कुरीतियों और भ्रष्टाचार का प्राबल्य होने लगा था। फिनीशी स्त्रियाँ चरित्रहीन होने लगी थीं और उन्हीं के प्रभाव से सलोमन मूर्तियों का अपमान करने लगा था और इसरायल का राजा अहब ने सतों के प्रति क्रूर कार्य किया था। उनकी धार्मिक प्रथाओं में भी क्रूरता और कामुकता भरी हुई थीं। वे प्रकृति के उपासक थे और अस्तार्त तथा बाल उनके क्रमशः प्रमुख देवी देवता थे। बाल का प्रतीक सूर्य को और अस्तार्त का चन्द्र को माना जाता था। देवी देवताओं की आराधना में पशुओं तथा बच्चों का बलिदान किया जाता था।

फिनीशी सभ्यता की देन

फिनीशिया-निवासियों ने कोई नई सभ्यता का विकास नहीं किया बल्कि पुरानी या प्रचलित सभ्यताओं का ही अपने मालों के समान प्रचार किया। ये भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मालों का आदान-प्रदान करते थे, वैसे ही भिन्न-भिन्न स्थानों में सभ्यताओं का भी आदान-प्रदान हुआ। इनकी सभ्यता अनेक सभ्यताओं का समन्वय

था। ये बेबीलोन-निवासियों और मिश्रवासियों से लेखन-कला लेकर उसमें आवश्यक परिवर्तन किये। इस प्रकार वर्तमान लेखन प्रणाली का, जिसमें ध्वनि के आधार पर अलग-अलग शब्द होता है, जन्म हुआ। इस नयी लेखन कला को इन्होंने यूनानियों को बतलाया और रोम होते हुये इसका प्रसार क्रमशः यूरोप में हुआ। उन्होंने ही कई देशों में कागज, कलम और स्याही का भी प्रचार किया। फिनीशियों ने दूसरा कार्य यह किया कि यात्राओं और व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने बतलाया कि मानव समाज पारस्परिक सहयोग से सुखी हो सकता है। एक देश में सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो सकता। वाणिज्य-व्यवसाय के ही जरिये हरएक देश की कमी की पूर्ति की जा सकती है। इसी सिलसिले में उन्होंने नाप-तौल के साधनों में भी उन्नति की।

इस तरह इन्होंने यह दिखा दिया कि सभ्यताओं का पारस्परिक सम्पर्क और विनिमय होने से इनका विकास होना है और मानव समाज का कल्याण होता है। एक ही स्थान में सीमित रखने से पिंजड़े के पक्षी की भाँति इसकी वृद्धि भी सीमित और संकुचित हो जाती है और कालान्तर में इनका विनाश भी अवश्यम्भावी है।

(ङ) क्रीट द्वीप का इतिहास

भूमिका

भूमध्यसागर में छोटे-बड़े बहुत से द्वीप हैं। इनमें क्रीट का द्वीप सबों से बड़ा और प्रमुख रहा है। यह मिश्र के उत्तर-पश्चिम और यूनान के दक्षिण में स्थित है। १९वीं सदी तक किसी ने सोचा तक नहीं था कि यह छोटा द्वीप भी सभ्यता का केन्द्र कभी रहा होगा। १८७० ई० में एक जर्मन व्यापारी हेनरिक श्लीमेन के नेतृत्व में खुदाई का श्रीगणेश हुआ। १९०० ई० में एक अंगरेज पुरातत्ववेत्ता के पथ-प्रदर्शन में नोसस में खुदाई का कार्य और भी अधिक लगन से हुआ। उसका नाम सर आर्थर इवान्स था। जब कुछ भग्नावशेषों को देखा गया तो पता चला कि क्रीट भी प्राचीन सभ्यता का एक प्रमुख केन्द्र था। मिश्र और मेसोपोटेमिया की सभ्यता की भाँति क्रीट की भी सभ्यता प्राचीन थी और इसके आरम्भ का समय लगभग ४००० ई० पू० (३६०० ई० पू०) बताया जाता है। क्रीट लोगों की जाति के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित मत नहीं स्थापित हो सका है।

राजनीतिक परिचय

२५०० ई० पू० से क्रीट निवासियों के विषय में निश्चित एवं क्रमबद्ध उल्लेख मिलता है। २५०० ई० पू० से १४०० ई० पू० तक का काल क्रीट के इतिहास में स्वर्ण युग था। इस युग में क्रीट की सभ्यता अपनी चरमावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। अन्य प्राचीन निवासियों की तरह क्रीट के लोग छोटे और स्वतंत्र नगर राज्यों में संगठित थे। किन्तु २५००

ई० पू० के लगभग इन राज्यों की स्वतंत्रता अपहृत कर ली गई और एक केन्द्रीय राज्य कायम किया गया। यहाँ का राजा मिनो की उपाधि से प्रसिद्ध था और इन राजाओं का दीर्घकालीन शासनकाल इतिहास में मिनोअन युग के नाम से विख्यात है। इस युग में सभ्यता और समृद्धि की खूब ही उन्नति हुई थी। नोसस राज्य की राजधानी थी। राजभवन विशाल होता था। कई देशों के साथ राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध था। एथेंस क्रीट के अधीन था और कर भेजा करता था। एक यूनानी दन्त कथा प्रचलित है कि क्रीट में मिनोटर नाम का एक राक्षस रहता था जिसके भोजन के लिये एथेंस से मनुष्यों और पशुओं का निश्चित कोटा भेजा जाता था। यह संदेह किया जाता है कि १५वीं सदी ई० पू० में क्रीट मिश्री साम्राज्य का अंग रहा हो क्योंकि थुटमस तृतीय के समय में एक कर्मचारी एजिया द्वीप समूह का गवर्नर कहा जाता था। किन्तु यह सदेह ही है। क्रीट पराधीन था—इसकी स्पष्ट चर्चा कहीं नही मिलती है। १४०० ई० पू० में नोसस शहर तहस-नहस कर दिया गया। अभी इसके विषय में विस्तृत ज्ञान इतिहासकारों को नहीं प्राप्त हो सका है। अगले ४०० वर्षों में नोसस का पुनरुत्थान हुआ। लेकिन फिर १००० ई० पू० में इसपर भीषण आक्रमण हुआ और अनुमान किया जाता है कि ट्राय शहर के विध्वंसक यूनानियों ने ही इस दुष्कार्य को भी किया था। तत्पश्चात् नोसस पुनः सँभल नहीं सका। ५३६ ई० पू० में फारस के सम्राट् ने क्रीट के साथ सारे ईजियन द्वीप समूह को ही अपने साम्राज्य के पेट में हड़प लिया।

क्रीटन सभ्यता एवं संस्कृति

भौगोलिक प्रभाव

क्रीट द्वीप समूह की भौगोलिक स्थिति सभ्यता के विकास के लिये बहुत ही अनुकूल थी। यह भूमध्यसागर के मध्य में स्थित है और यह सागर तीन महादेशों—यूरोप, एशिया और अफ्रीका को छूता है। भूमध्यसागर में और भी अनेकों द्वीप थे जो एजिया द्वीप समूह के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्हीं में से क्रीट भी एक द्वीप था किन्तु यह सबों मे बड़ा और शक्तिशाली था। एशिया माइनर एजिया द्वीप समूह को पूर्वी भू-भागों से मिलाता था और क्रीट मिश्र को अन्य देशों से सम्बन्धित करता था। एशिया माइनर हिट्टियों का निवास स्थान था और वहाँ सभ्यता विकसित अवस्था में थी। इसके उत्तर-पश्चिम में ट्राय शहर २५०० ई० पू० के लगभग उन्नत दशा में था। इसके सिवा सामुद्रिक स्थिति होने के कारण किसी बाहरी आक्रमण का भय और संदेह नहीं था। अतः क्रीट में भी उच्चकोटि की सभ्यता का उदय हुआ। प्राचीनकालीन सभ्यताओं में क्रीटन सभ्यता का भी एक उत्तम स्थान है। इसे मिनोअन या ईजियन सभ्यता भी कहते हैं। राजाओं की उपाधि मिनो के आधार पर मिनोअन नामकरण हुआ है। क्रीटन

लोग ईजियन समुद्र के द्वीपों तथा तटीय प्रदेशों के निवासी थे। इसलिये वे तथा उनकी सभ्यता ईजियन के नाम से सम्बोधित होने लगा था।

यह सभ्यता प्रधानतः सामुद्रिक है। फिनीशियों की भाँति क्रीट निवासी भी वाणिज्य-व्यापार की दिशा में सभ्यताओं का भी आदान-प्रदान करते थे। किन्तु फिनीशिया की सभ्यता जहाँ विभिन्न सभ्यताओं का केवल समन्वय था, क्रीट की सभ्यता में समन्वय और मौलिकता—दोनों ही बातें थीं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सम्पूर्ण एजिया द्वीप की सभ्यता क्रीट की ही सभ्यता की छाया-मात्र थी। यही नहीं, यूरोप में सभ्यता की प्रथम ज्योति यहीं पहुँची थी और यहाँ से ग्रीस तथा रोम होते हुए यूरोप के अन्य देशों में इसका प्रकाश पहुँचा था।

सभ्यता तथा संस्कृति का उल्लेख

क्रीट की शासन व्यवस्था सुदृढ़ थी जिसका आधार नगर राज्य था। राजा बड़ा ही शक्तिशाली था। वह पुरोहित और सेनापति भी था। उसकी राजधानी धन और वैभव का नमूना थी। मिनो की सेवा करने के लिये विविध पेशे वाले पर्याप्त संख्या में वहाँ रहते थे। राजमहल का निर्माण बड़ा ही विचित्र ढंग का होता था। अन्दर में प्रवेश कर जाने पर निकलने के रास्ते का पता बड़ी कठिनाई से मिलता था। मिट्टी के विशाल घड़ों में व्यवहार करने की चीजें रखी जाती थीं। अधीनस्थ देशों से कर और भेंट की चीजें आती थीं। राजा के पास स्थल और जल सेनाएँ रहती थीं। किन्तु जल सेना की ही प्रधानता थी। इतिहास में क्रीट ही प्रथम राज्य है जहाँ जल सेना संगठित थी।

क्रीट निवासियों के धर्म के विषय में बहुत ही थोड़ी जानकारी प्राप्त हो सकी है। ये लोग प्रकृति के उपासक थे। वे वृक्ष, पशुओं तथा नागों की पूजा करते थे। जगत-माता उनकी प्रसिद्ध देवी थी जिसे वे सब जीव-जन्तुओं की जननी समझते थे। वे बलिदान और कर्मकाण्ड में विश्वास करते थे। धार्मिक उत्सवों में गाने-बजाने होते थे किन्तु देवताओं के लिये मन्दिर नहीं बनाए जाते थे।

खेती करना, मछली मारना, जहाज चलाना और व्यापार करना—क्रीट निवासियों के मुख्य पेशे थे। कला-कौशल के भी काम होते थे। मिश्र, यूनान आदि पड़ोसी देशों से उनका व्यापारिक लगाव था। व्यापार के प्रसार के लिये सायप्रस, सिसली और यूनान में उपनिवेश भी कायम किये गये थे। यूनान के दक्खिन में टिरीन्स और माइकेनी नाम के दो प्रसिद्ध शहर थे। आरगोलियस की खाड़ी से कोरिंथ की खाड़ी तक के व्यापारिक रास्ते के छोर पर माइकेनी स्थित था। अतः यह वैभव से परिपूर्ण था। क्रीट और मिश्र दोनों ही के जहाज यहाँ आते थे और मालों को उतारते थे।

नोसस का राजप्रासाद वास्तु कला का सर्वोत्तम नमूना है। इसमें श्वेत पत्थर लगे हुए थे जिसमें पर्याप्त चमक-दमक होता था। राजप्रासाद एक सम्पूर्ण नगर ही के

समान था जिसके अन्दर सभी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। इसमें बहुत से कमरे होते थे और वे भी बड़े ही विशाल। इसमें स्नानागार भी थे और पानी बाहर निकल जाने के लिये नालियाँ निर्मित थीं। शहर में भी गन्दे पानी के निकास के लिये नालियों का जाल बिछा हुआ था। ये नालियाँ अभी भी वैसे ही दीख पड़ती हैं मानो हाल ही की बनी हुई हैं। १६वीं सदी तक लंदन और पेरिस में भी ऐसी नालियों का नाम निशान तक भी नहीं था। सर आर्थर इवास के शब्दों में 'वर्तमान काल में भी बहुत ही कम राष्ट्रों ने उस तरह का वैज्ञानिक ढंग पर स्वास्थ्य के लिये प्रबन्ध किया है।' मोहेनजोदड़ो की नगर व्यवस्था से क्रीट की नगर व्यवस्था में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है।
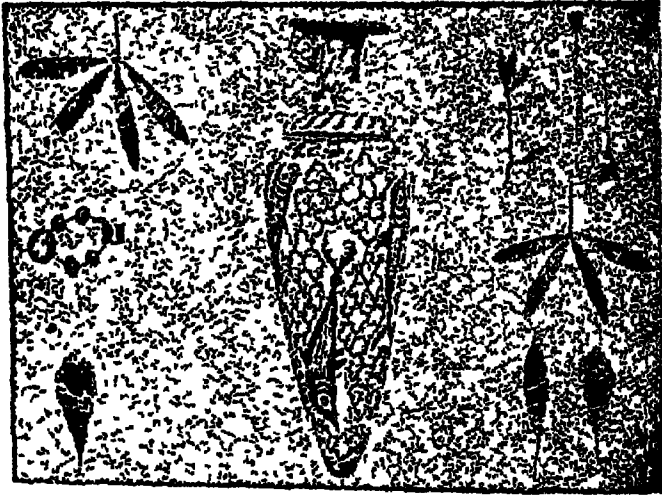
चित्र ३१—मिनोअन आभूषण और घड़ा

मोहेनजोदड़ो की भाँति क्रीट की सभ्यता भी शान्तिसूचक है। दीवारों पर सुन्दर चित्र और बेल-बूटे अंकित हैं। बेल-बूटेदार सुन्दर और आकर्षक कपड़े, आभूषण और बर्तन भी बनाये जाते थे। बर्तन तो शिल्प कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। कुम्हार के चाक जैसी चीज पर बर्तन बनाया जाता था और इसपर पालिश देकर सुन्दर-सुन्दर चित्र अंकित किया जाता था। साइप्रस से ताँबा और स्पेन तथा अन्य देशों से टीन लाकर काँसा बनाया जाता था। काँसे से अनेक वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। हाथी दाँत और संगमरमर की सुन्दर मूर्तियाँ बनती थीं।

इस प्रकार क्रीट में ऐसी ही चीजें अधिकतर मिली हैं जिनका सम्बन्ध शांति काल से है। किसी युद्ध के दृश्य या अस्त्र-शस्त्र का चित्र अंकित किया हुआ नहीं पाया गया है।

चित्र ३२—क्रीटन कला का एक नमूना

क्रीटन सभ्यता की देन

क्रीट भी फिनीशिया की भाँति सभ्यता का वाहक और प्रचारक था। पहले ही कहा गया है कि यहीं से सभ्यता का प्रकाश यूरोप में फैला है। मालों के साथ-साथ सभ्यता का भी विनिमय होता था। यूनानी सभ्यता इजियन सभ्यता का बहुत बड़ा ऋणी है। उसे इजियन सभ्यता का नवीन संस्करण ही कहा जा सकता है।

अध्याय १२

भूमध्यसागरीय सभ्यता—प्राचीन यूनान

यूनानी इतिहास का महत्व

विश्व के इतिहास में यूनान देश का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। भूमध्य सागरीय सभ्यताओं में यूनानी सभ्यता को भी उच्च स्थान प्राप्त है। इसके कई कारण हैं। यह सभ्यता एशियाई सभ्यताओं की तरह प्राचीन तो नहीं है किन्तु कई बातों में उनसे आगे है। यूनान ने सभ्यता के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति की। राजनीति शास्त्र और प्रजातंत्र राज्य का विकास यूनान ने खूब किया। इसके पहले व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कहीं नाम भी नहीं था। इसने सभ्यता का केवल विकास ही नहीं किया, बाहरी संकट से उसकी रक्षा भी की। फारस के साम्राज्यवाद से इसने अपनी सभ्यता की रक्षा कर यूरोप तथा अन्य देशों मे उसके प्रचार के लिये सुअवसर प्रदान किया। एशिया और यूरोप के बीच का दरवाजा यूनान था और इसी दरवाजे से यूरोप में सभ्यता का प्रवेश हुआ। इस के अभाव में यूरोप के इतिहास का रूप बिलकुल भिन्न होता। पता नहीं कि यह कितने समय तक बर्बरता और अज्ञान का शिकार बना रहता। यूनान ही यूरोप की सभ्यता का जन्मदाता है। या यों कहें कि यूरोप की सभ्यता यूनान की सभ्यता की ही सन्तान है। इसी भावना को प्रदर्शित करते हुए एक बार महान् कवि शेली ने कहा था "हम सभी ग्रीक ही हैं; हम लोगों के विधान, कलाएँ और साहित्य सबका मूल तो ग्रीस में ही है।"

इस प्रकार यह प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन युगों को मिलाने वाली एक बड़ी कड़ी है। "सारे इतिहास का लक्ष्य यूनान होते हुये विजयी रोम तक पहुँचना है। आज का सारा इतिहास पराजित और ध्वस्त रोम से ही चल कर हमारे पास आता है।"[1]

भौगोलिक स्थिति

यूनान में भूगोल और इतिहास के बीच गहरा सम्बन्ध दीख पड़ता है। यहाँ के इतिहास की विशेषतायें भौगोलिक विशेषताओं के ही परिणाम हैं। यूनान एक प्रायद्वीप है जिसके तीन ओर समुद्र है। कोरिन्थ की खाड़ी देश को दो भागों में विभक्त करती है। खाड़ियों और समुद्र के कारण देश का किनारा बृटिश द्वीप समूह की तरह बहुत ही कटा हुआ है और अच्छे बंदरगाहों की भरमार है। अतः व्यापार और उपनिवेश के

---

[1] सैन्डर्सन—वर्ल्ड हिस्ट्री, पृष्ठ ३

क्षेत्रों में प्रगति करना स्वाभाविक ही है। देश का भीतरी भाग पहाड़ों के कारण कई हिस्सों में बँट गया है और प्रत्येक भाग के लोगों के लिये दूसरे भाग में आना-जाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी रहा है। इससे नगर राज्यों का उत्थान अनिवार्य हो गया और राष्ट्रीय एकता सम्भव नहीं हो सकी। प्रत्येक नगर निवासी अपनी स्वतंत्रता का कट्टर पक्षपाती बन गया। इसकी रक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़ता था। इससे युद्ध तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इसी कारण ये शांतिप्रिय क्रीटनों को सहज ही पराजित कर सके। सामुद्रिक सम्बन्ध के कारण एजिया द्वीप समूह के द्वारा एशिया से सभ्यता ग्रीस में पहुँची। वस्तुतः यूनानी सभ्यता इजियन सभ्यता की ही देन है।

लेकिन ग्रीस के पूर्वी किनारे पर ही अधिक और उत्तम बंदरगाह हैं। इन्हीं बंदरगाहों के द्वारा व्यापार का काम होता था। अतः पश्चिम की अपेक्षा पूर्वी किनारा पहले सभ्य हुआ। देश का भीतरी भाग नदियों की घाटी के समान उपजाऊ नहीं था। अतः यहाँ के लोगों को बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता था जिससे वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट होते थे। इस तरह व्यापार, सामुद्रिक यात्रा, नौका-संचालन आदि कामों में यूनानियों की विशेष अभिरुचि उत्पन्न हुई। जलवायु इतनी अच्छी थी कि यूनानियों की मानसिक शक्ति प्रबल और क्रियाशील बनी रही। देश में प्राकृतिक सौंदर्य की भी अधिकता थी। इस कारण उनकी कल्पना-शक्ति जागृत होती रही और वे उच्चकोटि की कला, साहित्य तथा दर्शन उत्पन्न करने में समर्थ हुये। प्रस्तर की अधिकता के कारण कारीगरी तथा वास्तुकला के विकास को प्रोत्साहन मिला।

प्राकृतिक दृष्टि से यूनान के तीन भाग थे। (क) उत्तरी भाग जिसमें दो मुख्य राज्य थे। इसी भाग में मकदुनिया था जिसके विषय में आगे चलकर जानकारी प्राप्त होगी। (ख) मध्य भाग जिसमें ६ राज्य थे। इनमें आटिका का राज्य जिसमें एथेन्स स्थित था, बहुत प्रसिद्ध था। (ग) दक्षिणी भाग जिसमें सात राज्य थे। इनमें विशेष प्रसिद्ध लेकोनिया का राज्य था जिसमें स्पार्टा स्थित था। इन राज्यों के सिवा यूनान देश के अन्तर्गत एशिया माइनर का कुछ भाग और छोटे-मोटे बहुत से द्वीप थे। इस तरह प्राचीन काल में इस देश का क्षेत्र, वर्तमान समय की अपेक्षा बहुत अधिक था। यूनान का इतिहास प्रधानतः स्पार्टा, एथेन्स, थीब्ज और मकदुनिया के नगर राज्यों का ही इतिहास है। अनुकूल भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त यूनानियों के उत्थान के कुछ अन्य कारण भी थे। यूनान के पड़ोसी देशों की सभ्यताएँ समृद्धिपूर्ण थीं जिनसे इसने बहुत कुछ सहज ही सीखकर अपनी सभ्यता को शक्तिशाली बनाया। सैन्य तथा जल शक्ति के कारण उसे किसी बाहरी शत्रु का भय नहीं रहा और निरंकुश सम्राट् को भी हटा सका। उसे एथेन्स जैसे नगर राज्य का सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शन मिला जहाँ अनेक सुयोग्य पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ। मकदुनिया ने सिकन्दर जैसे महान् विजेता को

जन्म दिया जिसके नेतृत्व में यूनान एक विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बन गया।

प्राचीन निवासी

यूनान देश और यहाँ के निवासी ग्रीस और ग्रीक नाम से क्रमशः विख्यात हैं। ये नाम बहुत बाद में प्रचलित हुए। पूर्व इतिहास काल के लेखक होमर के लेखों में भी इन नामों की चर्चा नहीं की गयी है। होमर का काल ईसा के लगभग ९वीं सदी पूर्व बतलाया जाता है। ये दोनों नाम कालान्तर में रोमन शब्द ग्राई-साई से निकल कर प्रसिद्ध हुये हैं।

यूनान के लोग अपने को हेलन कहते थे। इनके पहले पेलास्जान्स नामक जाति के लोग रहते थे जो साधारणतः कुछ खेती-बारी का काम करते थे। हेलन लोग २००० ईसा पूर्व के लगभग पूर्व की ओर से कास्पियन प्रदेश से चले और कालान्तर में इस प्रदेश में आये। ये लोग आर्य जाति के थे और लगभग १२वीं सदी ईसा पूर्व तक यहाँ बस गये थे। ये पहले थेसली प्रान्त में बसे और इसके बाद क्रमशः दक्षिण की तरफ बढते गये। ये अपने देश को हेलास कहते थे। इनकी चार शाखायें थीं—डोरियन, ईओलिन, एकियन और आयोनियन। इनमें डोरियन और आयोनियन के ही नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्पार्टा के निवासी डोरियन और एथेन्स के निवासी आयोनियन शाखा के ही प्रतिनिधि थे और इन्होंने ने ही यूनान के इतिहास में प्रमुख भाग लिया है।

आर्यों के बीच भाट की श्रेणी के गायक होते थे जो उनकी यश-गाथाओं को स्मृति, गीत और कविता के रूप में स्थायी रखते थे। हेलेनों के बीच ऐसे ही कितने भाट थे। इलियड और ओडिसी नाम के उनके दो महाकाव्य हैं जैसे भारतीय आर्यों के रामायण और महाभारत नाम के दो महाकाव्य हैं। इन महाकाव्यों के असल रचयिता के सम्बध में विद्वानों के बीच मतभेद है। किन्तु अधिक लोगों का अनुमान है कि होमर नाम के एक अंध कवि ने इन्हें लिखा। लेकिन यह स्मरणीय है कि होमर ने प्रधानतः सम्पादक का काम किया था जिस तरह व्यास ने महाभारत को सम्पादित किया था। होमर ने १००० ई० पू० के लगभग इन ग्रन्थों का सम्पादन किया था। इलियड में एशिया माइनर के उत्तर-पश्चिम में स्थित ट्राय शहर पर यूनानियों के आक्रमण तथा विजय का वर्णन है। ओडिसी में ट्राय से ओडेसियम (ईल्यूसीस) नामक सेनापति की लौटती यात्रा का वर्णन है। इन महाकाव्यों में प्रकृति सौंदर्य का भी सुन्दर चित्रण है। इनके कथानक कहाँ तक सत्य हैं—यह विवादास्पद है। लेकिन यूनानियों के पूर्व-इतिहास काल की स्थिति जानने के लिये ये ही महत्वपूर्ण साधन हैं। यूनान के इतिहास का प्रथम भाग यही पूर्व इतिहास काल है जिसे वीर-काल या होमरिक काल कहते हैं। इसका समय लगभग ८वीं सदी (७७६ ई०) तक माना जाता है।

वीर-गाथा काल का संक्षिप्त इतिहास

उस समय यूनानी खेती करते थे और भेड़ पालते थे। शिकार और युद्ध में इनकी विशेष अभिरुचि रहती थी। कुछ व्यापार भी होने लगा था। उनके रहन-सहन पर मेसोपोटेमिया का बड़ा प्रभाव पड़ा था। लोग कुछ ऐसे कपड़े पहनते थे जो पैरों तक लटके रहते थे। स्त्रियाँ अपने मुख का कुछ भाग ढका रखती थीं। लोगों का ख्याल था कि मनुष्य का ही परिवर्तित रूप देवता का होता था। अतः मनुष्य की तरह उनकी मूर्तियाँ भी बनाई जाने लगी थीं।

उनकी राजनीतिक संस्था राजतन्त्र प्रणाली पर आधारित थी। प्रत्येक राज्य में एक वर्ग रहता था जिसका एक मुखिया होता था। वह सरदार या राजा कहलाता था। वही युद्ध में सेनापति और उत्सव में पुरोहित का भी कार्य करता था। लेकिन एशिया के कई देशों के जैसा प्राचीन यूनान का राज तन्त्र स्वच्छन्द और निरङ्कुश नहीं था। राजा और प्रजा के दो विभिन्न वर्ग नहीं थे। दोनों ही समान थे। समान व्यक्तियों में ही राजा का प्रथम स्थान माना जाता था। राज्य प्रबंध में वह प्रमुख कुलीनों और साधारण पुरुषों से भी राय लेता था।

कालान्तर में समय गति के साथ राजा कमजोर होता गया और कुलीनों तथा सामान्य व्यक्तियों की शक्ति बढ़ती गई। अतः राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातंत्र राज्य कायम हो गया। कुछ राज्यों में राजा के स्थान पर सरदारों ने ही अपना हुक्म चलाया लेकिन उसके बाद वहाँ भी प्रजा ने अपनी सत्ता स्थापित की। प्रजातंत्र राज्य में कुछ निश्चित काल के लिये एक प्रधान चुना जाता था और राज्य के सभी लोग सभा में बैठकर अपने राज्य के लिये कानून बनाते। किसी भी पद पर कोई भी नागरिक योग्यतानुसार नियुक्त होने का अधिकारी था। सबको बोलने और मत प्रदान करने की स्वतंत्रता थी। इस तरह यूनान में कितने ही नगर-राज्य कायम हो गये। प्रत्येक नगर राज्य एक दूसरे से स्वतंत्र था और अपने राज्य की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिये लोग सदा ही तत्पर रहते थे। परन्तु सबों के बीच एकता का अभाव था। राष्ट्रीय एकता की भावना नहीं थी, उल्टे सभी आपस में झगड़ते रहते थे। इन नगर राज्यों मे स्पार्टा और एथेन्स के ही राज्य अधिक प्रगतिशील और प्रसिद्ध थे। इन राज्यों के विकास का प्रधान कारण था—यूनान की प्राकृतिक बनावट जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इसके सिवा यूनान निवासियों की भी यह विशेषता थी कि वे स्वतंत्रता के बड़े ही प्रेमी थे।

यूनानियों में सम्पर्क के साधन

अभी कहा गया कि यूनान में नगर राज्यों की स्थापना के कारण राष्ट्रीय एकता का अभाव था। फिर भी उनके बीच सम्पर्क के कई साधन थे :—(१) उनके बीच भाषा और वंश की समानता थी। उनके पूर्वज एक कुल के थे। (२) हेलेनों की

विभिन्न शाखाओं के बीच रहन-सहन, चाल-चलन में कुछ अन्तर तो था किन्तु विदेशियों की तुलना में सबों के रहन-सहन में बहुत समानता थी। (३) ट्रोजन का युद्ध सभी हेलेनों की कीर्ति समझी जाती थी और ईलियड तथा ओडेसी के महाकाव्य उनके राष्ट्रीय साहित्य माने जाते थे। सभी हेलेन ट्राय के विरुद्ध एक होकर लड़े थे। होमर उनके सनातन लेखक थे और उनकी कृतियाँ सर्वत्र पढ़ी जाती थीं। (४) उनके कितने देवी-देवता एक ही थे। समय-समय पर धार्मिक उत्सव होता था जिसमें सभी राज्य के प्रतिनिधि आते थे। एक प्रमुख धार्मिक संघ था जो एम्फिक्टिओनिक संघ के नाम से प्रसिद्ध था। साल में दो बार डेल्फी स्थित एपोलो के मंदिर में इसकी बैठक होती थी। ऐसे ही किसी मुख्य कार्य करने के पहले सभी लोग पीथिया देवी की राय पूछा करते थे। इस प्रथा को औरैकल कहते हैं। (५) यूनान में खेल-कूद को बड़ा ही महत्व दिया जाता था। अतः इसकी देखरेख के लिये कई संस्थाएँ कायम थीं जिनमें समूचे यूनान का प्रतिनिधित्व होता था। एलिस में ओलिम्पस पर्वत पर प्रत्येक ४ वर्ष पर राष्ट्रीय खेल कूद करने की प्रथा स्थापित थी। ये ओलिम्पिक खेल के नाम से प्रसिद्ध हैं। दो बार के उत्सवों के बीच के समय को ओलिम्पियाद कहा जाता था। इस उत्सव के मौके पर विराम-सन्धि हो जाती थी और प्रत्येक भाग से लोग इसमें श्रद्धा और उत्साह के साथ शामिल होते थे। सभी विजेताओं का राष्ट्रीय सम्मान किया जाता था और उनकी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। (६) जब व्यापार के लिये किसी राज्य का नागरिक दूसरे राज्य में जाता था तो वह वहाँ किसी का अतिथि होकर रहता था।

इस प्रकार पारस्परिक सम्पर्क के लिये यूनानियों को बहुत मौके मिलते थे। लेकिन इससे सामाजिक और जातीय एकता की ही भावना प्रस्फुटित हुई; राजनीतिक एकता या राष्ट्रीयता की भावना नहीं उत्पन्न हुई। फारस के विदेशी आक्रमण के समय भी यह एकता स्थापित न हो सकी, शान्ति काल की बात तो दूर रहे।

यह पहले ही बतलाया गया है कि एशिया में बसने वाले आर्य—पारसी तथा हिन्दू और यूनान में बसने वाले आर्य लगभग एक ही समय में और एक ही जगह से चले थे। वे आपस में सगे-सम्बन्धी ही थे और उनके विचार तथा संगठन एक ही तरह के थे। किन्तु समय गति के साथ उनके विकास क्रम के अनुसार उनमें भिन्नता बढ़ती गई। एशियाटिक आर्य दार्शनिक, धार्मिक और आदर्शवादी बन गये लेकिन यूनानी वैज्ञानिक, व्यवहारिक और बुद्धिवादी हो गये। यूनानियों की भी शाखाओं में अन्तर पड़ गया और सबसे अधिक अन्तर डोरियन तथा आयोनियन के बीच में उत्पन्न हुआ। दोनों की विचार-धाराओं में आकाश-पाताल का अन्तर था।

स्पार्टा और एथेन्स का प्रारम्भि इतिहास
[प्रथम भाग—७७६ ई० पूर्व तक]

(क) स्पार्टा

स्पार्टा में डोरियन लोग आकर बसे थे और विजेता होने के कारण उन्हीं का सर्वत्र बोलबाला था। ये लोग स्पार्टा में रहते थे और नागरिकता के सभी अधिकार इन्हीं को प्राप्त थे। उनके बाद दूसरी श्रेणी में आस-पास के लोग थे जो विजित थे। ये पेरिओसाई कहे जाते थे। इनके बाद हेलट नामक गुलाम जाति के लोग थे। ये लोग प्रायः मूल निवासी और युद्ध के बन्दी थे। इनके साथ बड़ा ही अत्याचारपूर्ण व्यवहार किया जाता था और इनकी दशा बड़ी ही दयनीय थी।

नवीं सदी ई० पू० के पहले का वृत्तान्त विशेष मालूम नहीं है। इस सदी के उत्तरार्द्ध में—८२५ ई० पू० के लगभग स्पार्टा में एक प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ जिसका नाम लायकरगस था। वह यहाँ का प्रथम व्यवस्थापक और विधान निर्माता था। स्पार्टा भीतरी और बाहरी शत्रुओं से घिरा हुआ था। अतः इसका एकमात्र उद्देश्य अपनी सुरक्षा सम्बन्धी था। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख लायकरगस ने अपना सारा सुधार-कार्य किया।

स्पार्टा की राजव्यवस्था अन्य सभी यूनानी राज्यों से भिन्न थी। वहाँ प्रारम्भ से ही दो राजा राज्य किया करते थे और दोनों ही के अधिकार बराबर थे। वे राजा, पुरोहित, सेनापति और जज-सब कुछ थे। इसके बाद २८ सदस्यों की एक सिनेट थी। ६० वर्ष के ही व्यक्ति इसके सदस्य होते थे और जीवन पर्यन्त इस कार्य भार को ढोते थे। एक लोकसभा भी थी जिसमें ३० वर्ष तक का कोई नागरिक बैठ सकता था। यह प्रति वर्ष पाँच कमिश्नरों की नियुक्ति करती थी और यही समिति बहुत से कार्यों की देखभाल करती थी। अतः राजा का अधिकार बहुत ही सीमित था।

देश की सुरक्षा की दृष्टि से स्पार्टा के निवासियों के शारीरिक विकास पर खास तौर से ध्यान दिया गया। उनके बौद्धिक विकास की सर्वथा उपेक्षा की गई। सारा नगर एक विस्तृत सैनिक शिविर में परिवर्तित कर दिया गया। सभी स्पार्टन सैनिक थे। जन्म लेने के बाद लड़कों की जाँच की जाती थी और कमजोर लडके को मरने के लिये पर्वत कन्दराओं में छोड़ दिया जाता था। सरकार की ओर से पालक गृह बने थे। ४ वर्ष की उम्र के बाद लड़कों को वहीं रहना पड़ता था और उन्हें सैनिक शिक्षा दी जाती थी। उनके शरीर को लोहे के समान बनाने के उपाय किये जाते थे। कड़ा परिश्रम, कम कपड़े, मोटा भोजन, साधारण भाषण, गरीबी जीवन, कष्ट, सहिष्णुता, परिवार-त्याग, आदि गुण उनकी विशेषताएँ थीं। भोजन गृह और शयन गृह भी सरकार की ओर से स्थापित किये गये थे। उन्हीं गृहों में खाना और सोना अनिवार्य था।

पुरुष स्त्रियों से अलग रहते थे। लेकिन पुरुषों के समान ही स्त्रियों की भी शिक्षा कठोर थी। व्यायामशालाएँ और खेल-कूद के मैदान स्पार्टनों की बहुमूल्य सम्पत्ति थे। वे व्यापार नहीं कर सकते थे और लोहे के सिक्कों का व्यवहार करते थे। लोगों की शिक्षा और उनके आचार-विचार की जाँच करने के लिये ईफोर नामक सरकारी निरीक्षक नियुक्त किये गये थे। इस तरह असीरियनों की भाँति युद्ध कौशल में तो स्पार्टन बड़े ही निपुण निकले, उन्होंने भीतरी और बाहरी विद्रोह तथा आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा भी की, किन्तु संस्कृति के क्षेत्र में उनका सहयोग नाममात्र का रहा।

यदि आधुनिक काल में स्पार्टन प्रणाली की समता खोजी जाय तो निस्संदेह हिट्लर युगीन जर्मनी की ओर ध्यान आकृष्ट होगा। नात्सी और स्पार्टन प्रणालियों में बहुत सी बातें मिलती-जुलती हैं।

(ख) एथेन्स

डोरियन स्पार्टा से आयोनियन एथेन्स बिलकुल भिन्न था। दोनों में उत्तरी और दक्षिण ध्रुव का अंतर था। यदि स्पार्टा एक विस्तृत सैनिक शिविर था तो एथेंस मनीषियों और विचारकों का एक महान् शिक्षालय था। स्पार्टा की शक्ति जमीन पर सीमित थी तो एथेंस की शक्ति समुद्र पर। स्पार्टा स्थिति पालक था तो एथेंस प्रगति-शील। दोनों राज्यों की विविध भिन्नताएँ क्रमशः बढ़ती गईं और अन्त में दोनों के बीच दीर्घकालीन युद्ध ही छिड़ गया। युद्ध ने दोनों का सत्यानाश करके ही छोड़ा।

एटिका प्रान्त के छोटे-छोटे स्वतन्त्र अनेक विभाग थे। १३वीं सदी ई० पू० में थिसियस नामक राजा ने १२ रियासतों को सगठित कर एक राज्य कायम किया। एथेंस राजधानी निश्चित हुई। उसने प्रचलित नियमों का संग्रह कर नये नियमों का निर्माण किया। एथीना नामक देवी के उपलक्ष में मन्दिर बना और धार्मिक उत्सव प्रारम्भ हुआ। उसने समाज का भी पुर्नसंगठन किया। ६वीं सदी ई० पू० में राजा का प्रभाव जाता रहा और उनके स्थान पर आर्कन की उपाधि से विभूषित दूसरे अफसर की नियुक्ति होने लगी। कोड्रस अन्तिम राजा था। किन्तु अभी भी आर्कन आजीवन पद पर काम करता था और एक ही कुलीन परिवार से उसकी नियुक्ति होती थी। एरिओपेगस नामक न्यायालय में भी कुलीन भरे थे। इस तरह एथेंस में उच्च कुलतन्त्र कायम हुआ था।

७७६ ई० पू० में प्रथम ओलिम्पियद शुरू हुआ और इसी समय से यूनान का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। प्रथम ओलिम्पियद से लेकर फारस के साथ युद्ध के प्रारम्भ तक (७७६—५०० ई० पू०) इसका दूसरा भाग है। इस युद्ध के प्रारम्भ से मकदुनिया के फिलिप की यूनान विजय तक (५००—३३८ ई० पू०) इसका

तीसरा भाग है। फिलिप की यूनान-विजय से रोम की विजय तक (३३८-१४६ ई० पू०) इसका चौथा भाग है।

दूसरा भाग ७७६-५०० ई० पू०

८ वीं सदी ई० पू० में आर्कन का चुनाव १० वर्षों के लिये होने लगा और कोई भी कुलीन इस पद का अधिकारी हो सकता था। ७वीं सदी ई० पू० में यह चुनाव सालाना कर दिया गया और ९ आर्कनों की नियुक्ति होने लगी।

कुलीनों के शासन का सबसे बड़ा काम था—कानूनों को नियमबद्ध करना। इनके प्रथम विधायक का नाम था ड्रेको। हम्मूबी और मूसा के नियमों के समान ड्रेको के भी नियम बड़े ही कठोर थे। ड्रेको के नियमों की कठोरता तो कहावत के रूप में प्रचलित हो गई। ड्रेकोनियन शब्द क्रूरता का पार्यायवाची बन गया। बात-बात में फाँसी की सजा दी जाती थी। इसका उद्देश्य था प्रजातन्त्र की बढ़ती हुई माँग को रोकना किन्तु वह उद्देश्य अपूर्ण रहा, राज्य में अव्यवस्था फैलने लगी। दूसरे विधायक सोलन ने उनमें महत्वपूर्ण सुधार किया।

यूनान के इतिहास में सोलन का नाम विशेष स्मरणीय है। वह ५९४ ई० पू० में आर्कन चुना गया और विधान में परिवर्तन करने के लिये उसे सर्वाधिकार दिया गया। उसने उच्च-कुल-तंत्र और प्रजातंत्र के बीच का मार्ग अपनाया। कुलीनों के हाथ में अधिकार संचित था। उसने कुछ अधिकारों को उनसे छीन कर अन्य लोगों को दिया। उसने लोगों को ४ श्रेणियों में जायदाद के आधार पर बाँट दिया। प्रथम तीन श्रेणी के लोग सरकारी पदों पर नियुक्त हो सकते थे। चौथी श्रेणी में स्वतंत्र मजदूर थे जो यद्यपि सरकारी कामों को नहीं कर सकते थे फिर भी उन्हें मताधिकार दिया गया था। ९ आर्कनों का पद पूर्ववत जारी रहा। कौंसिल (बउल) का चुनाव वार्षिक होने लगा। लोक-सभा राज्य की सर्वप्रमुख संस्था थी। कौंसिल के प्रस्तावों पर भी यह विचार करती थी।

उसने और भी अन्य सुधारों को किया। ड्रेको के कठोर नियमों को उठा दिया, ऋणियों को महाजनों से मुक्त किया, एरिओपेगस न्यायालय का पुर्नसंगठन किया, इसके जजों को लोगों के नैतिक व्यवहार की जाँच करने का अधिकार दिया और जूरी के प्रयोग करने का नियम चलाया। विदेशियों के द्वारा राज्य में कई उद्योग-धंधों की नींव दी गई। इन सभी सुधारों को करके वह राज्य से बाहर चला गया।

सोलन के बाद कथित प्रजापीड़क युग का आरम्भ होता है। अब शक्ति के लिये नेताओं के बीच झगड़ा होने लगा जिनमें पिसिस्ट्रेटस सफल हुआ। उसने ५६० ई० पू० से ५२७ ई० पू० तक राज्य किया। वह यूनान के इतिहास में 'टायरंट' श्रेणी का शासक

था। टायरंट शब्द का अर्थ होता है अत्याचारी निरंकुश शासक। किंतु यूनानी टायरंट इस अर्थ से बहुत ऊपर थे। स्वेच्छाचरिता के अर्थ में ही वे टायरंट कहे जाते थे किंतु कई अंशों में उनका शासन लोकप्रिय होता था और वे प्रजा के हित के लिये बहुत काम करते थे। वे कला कौशल के भी प्रेमी होते थे। पिसिस्ट्रैटस ने कई भवन बनवाये जिनमें एपोलो के मंदिर और लायसियम नामक व्यायामशाला बहुत ही प्रसिद्ध थे। उसने एक किसान की तकलीफ सुनकर उसके कर को माफ कर दिया। उपज का १/२० ही कर के रूप में लिया जाता था। उसने कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित किया। होमर की बिखरी कविताओं का संग्रह करवा कर उसने लिपिबद्ध करवाया। पेरिन्डर और पोलीक्रेट्स के शासन-काल में क्रमशः कोरिन्थ और सामोस के राज्यों ने अपूर्व उन्नति की।

पिसिस्ट्रैटस के बाद उसके दो लड़के हिपियस और हिपर्कस राज की देख-भाल करने लगे। किन्तु एथेन्सवासी तो स्वतंत्रताप्रेमी थे। अतः हिपर्कस की हत्या कर डाली गई और हिपियस को राज्य से निकाल दिया गया। तत्पश्चात् क्लाइस्थेनिस राज-काज देखने लगा।

क्लाइस्थेनिस ने अनेकों सुधार किये। उसने कुलीनों और अमीरों के प्रभाव को कम कर मध्यम तथा निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के हाथ में अधिकार दिया। प्राचीन ४ श्रेणियों को तोड़कर समाज को नयी १० श्रेणियों में विभक्त किया गया। प्रत्येक श्रेणी को सीनेट की सभा में ५० व्यक्ति भेजने का अधिकार मिला। अतः इसके सदस्यों की संख्या ४०० से ५०० हो गई। यह नियम बना कि सीनेट के ५० सदस्य ३६ दिनों के हिसाब से बारी-बारी से काम किया करेंगे। अब जनता के हाथ में सत्ता की बागडोर पहुँच गई। 'लौट' द्वारा सदस्यों और अफसरों का चुनाव होता था। साधारण न्यायालयों के अधिकार में वृद्धि की गई। प्रत्येक श्रेणी से पारी-पारी से एक सेनापति भी चुना जाता था।

उसने जाति-बहिष्कार का एक और विचित्र नियम चलाया जो 'ऑस्ट्रासिज्म' के नाम से प्रचलित है। अप्रिय स्वेच्छाचारी व्यक्ति को राज्य से निकालने के लिये यह उपाय किया गया था। यदि ६००० नागरिक इस उद्देश्य से किसी के विरुद्ध मत प्रदान करते थे तो वह व्यक्ति १० वर्ष के लिये राज्य से निकाल दिया जाता था। यह नियम स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध बीमा स्वरूप था। राज्य-निर्वासित व्यक्ति के धन-जायदाद सभी सुरक्षित रहते थे।

इस प्रकार क्लाइस्थेनिस ने सोलन के कार्य को पूरा करते हुए प्रजातंत्र की नींव दृढ़तर की। सीनेट (बाउल) और लोक सभा (एक्लेसिया) राज्य की प्रमुख संस्थाएँ बन गईं। आगे चलकर इसी सुदृढ नींव पर प्रजातंत्र की बड़ी इमारत खड़ी की गई।

तीसरा भाग ५००-३३८ ई० पू०

(क) *यूनानी फारसी युद्ध ४६२ ई० पू०—४७६ ई० पू०*

यूनान और फारस—दोनों देश के इतिहास मे पारस्परिक महान् युद्ध एक महत्वपूर्ण घटना है। यहाँ संक्षेप में ही इस युद्ध के कारणों, घटनाओं और परिणामों पर विचार किया जायगा।

कारण

यूनान वाले पूर्व और फारस वाले पश्चिम की ओर बढ़ रहे थे। एशिया के पश्चिमी किनारे पर यूनानियों के उपनिवेश थे जो आयोनिया कहे जाते थे। मायलिटस उनका प्रसिद्ध नगर था। ये फारस के साम्राज्य में मिला लिये गये थे और सम्राट् की ओर से एक क्षत्रप वहाँ रहता था जिसकी राजधानी सार्डिस थी। ५०० ई० पू० में यूनानियों ने अरिस्टागोरस के नेतृत्व में फारस के विरुद्ध विद्रोह कर डाला। एथेंस और इरिट्रिया ने उनकी सहायता की। ६ वर्ष तक युद्ध होता रहा। यूनानी दबाये गये, किन्तु फारस का सम्राट् डेरियस इतने ही से संतुष्ट होने वाला नहीं था। उसने बदला लेने की भावना से एथेंस पर आक्रमण करने के लिये प्रतिज्ञा कर ली थी। इसी बीच देशद्रोही हिपियस भी उसके दरबार में जाकर अपने भाइयों के विरुद्ध कानाफूसी करने लगा।

४६२ ई० पू० में फारस का आक्रमण शुरू हुआ, किन्तु 'प्रथम ग्रासे मक्षिका पातः' वाली कहावत चरितार्थ हुई। ४६० ई० पू० में दूसरा आक्रमण हुआ। माराथन का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें फारस को पराजित होना पड़ा। सेनापति मिल्टियाडिस की यह कृति थी। तत्पश्चात् डेरियस के पुत्र जरसीज ने युद्ध संचालन का बीड़ा उठाया। ४८० ई० पू० में थर्मोपिली में फारसियों को कुछ सफलता मिली, किन्तु यह सफलता एक देशद्रोही यूनानी की ही सहायता से मिल सकी। इस युद्ध का नेता स्पार्टा का राजा लियोनिदास था। उसने कर्तव्यपालन का आदर्श उदाहरण पेश किया। थर्मोपिली की रक्षा में उसने अपने ३०० अनुगामियों के साथ प्राणों को न्योछावर कर दिया। उसी साल सालमिस का प्रसिद्ध सामुद्रिक युद्ध हुआ जिसमें फारसी जल-सेना को मुँह की खानी पड़ी। फिर प्लेटिया के थल-युद्ध और माइकेल के जल-युद्ध में भी पुराना ही निर्णय दुहराया गया। ४७६ ई० पू० में युद्ध का अंत हुआ।

संसार की प्रसिद्ध और युगांतकारी घटनाओं में इस युद्ध का भी एक स्थान है। यूनानियों की विजय ने संसार के इतिहास में एक नवीन युग का ही सृजन किया। प्रत्यक्ष रूप से फारस की पश्चिमी प्रगति सदा के लिये रुक गई और यूनान में एथेंस की महत्ता बढ़ गई। इस विजय के फलस्वरूप एथेंस में साम्राज्यवादी नीति का विकास हुआ। थेमिस्टोक्लीज ने इसका समर्थन किया। एथेंस के नेतृत्व में डेलिया के गुट की स्थापना हुई।

किन्तु यह युद्ध केवल दो राज्यों का ही युद्ध नहीं था। यह दो विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों और सिद्धांतों के बीच संघर्ष था। फारस साम्राज्यवाद, राजतंत्र, स्वेच्छाचारिता और प्रतिक्रियावादिता का प्रतीक था; यूनान इसके प्रतिकूल जनतंत्र, सहयोग, स्वतंत्रता और प्रगतिशीलता का पोषक था। अतः यूनानियों की विजय के साथ उनके सिद्धांतों की विजय हुई। यदि मारायन के मैदान में यूनानियों की हार होती तो मानव-सम्प्रदाय की सांस्कृतिक प्रगति का मार्ग ही बिलकुल भिन्न होता। ब्रिटेन अभी जंगली अवस्था में ही पड़ा रहता। यूरोप सदियों तक अंधकार में ही ठोकरें खाता रहता, क्योंकि जिस द्वार से उसे सभ्यता की शुद्ध हवा मिलती वह तो अनिश्चित काल के लिये बन्द हो जाता। अतः एक लेखक के मतानुसार इंगलैंड के इतिहास के लिये मारायन का युद्ध हेस्टिंग्स के युद्ध से भी अधिक महत्वपूर्ण है और यूरोप के राष्ट्रों के वास्तविक पूर्वज ग्रीक ही हैं, यद्यपि वे उनकी शारीरिक सन्तान नहीं हैं।

यह युद्ध पूर्व और पश्चिम, एशिया और योरोप के मध्य संघर्ष का सूचक चिह्न था। दोनों की शक्तियों की जाँच का प्रथम अवसर था। यह स्पष्ट हो गया कि दोनों में कौन अधिक शक्तिशाली था और इसका कारण भी क्या था। यूरोप के अधिक शक्तिशाली होने में कोई संदेह नहीं रह गया और इसका रहस्य यही था कि यहाँ मनुष्य को स्वतंत्र विकास के लिये अवसर प्राप्त था।

ग्रीकों की विजय और फ़ारसवासियों की हार के कारण—

(क) फ़ारसवासियों को अपने घर से दूर और ग्रीकों को अपने घर के पास लड़ना पड़ता था।

(ख) फ़ारसी सेना में कई राष्ट्र के सैनिक थे अतः उनमें एकता और देशभक्ति की भावना का अभाव था। ग्रीक सेना अपने देश और जान की रक्षा के लिये लड़ रही थी। उनमें पूरी एकता थी और वह देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत थी।

(ग) ग्रीक न्याय के पथ पर थे, वे पीड़ित थे, फ़ारसवासी अन्याय के पथ पर थे, वे अत्याचारी थे, वे ग्रीकों की स्वतंत्रता का अपहरण कर उनके घरों को लूटना चाहते थे।

(ख) पेरिक्लीज और उसका युग ४६१ ई० पू०—४३० ई० पू०

सालमिस की लड़ाई के बाद की आधी शताब्दि एथेंस के इतिहास में बहुत गौरवपूर्ण काल है। इसी युग में पेरिक्लीज महान् का उत्थान हुआ था। वह इतिहास में इतना प्रसिद्ध है कि उसी के नाम पर युग का ही नामकरण हुआ। ४६१ ई० पू० से ४३० ई० पू० तक उसने राज्य किया। वह एक योग्य सेनापति और सफल शासक था। उसने विद्रोह करनेवाले राज्यों को दबाया और उसके समय में प्रजातंत्र राज्य पूर्णरूप से स्थापित हो गया। उसने सार्वजनिक सेवा-कार्य के लिये सार्वजनिक धन से खर्च करने

का निश्चय किया। मजदूर और सैनिकों को नियमित वेतन मिलने लगा। नाटक देखने के लिये गरीब दर्शकों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जाने लगी। अधीनस्थ राज्यों के सभी मुकदमें एथेंस में लाने के लिये अनिवार्य कर दिये गये। डेलोस के गुट के सदस्यों के द्वारा दिये जानेवाले कर में वृद्धि कर दी गई।

पेरिक्लीज केवल सेनापति और शासक ही नहीं था वह विद्वान् और कलाप्रवीण भी था। कला-कौशल के कितने काम शुरू हुए; लोहार, बढ़ई आदि कार्य-व्यस्त रहने लगे। तर-तरह के भवन निर्माणित होने लगे। प्रारम्भ किये गये कोर्ट को उसने पूरा किया। पुराने मन्दिर मरम्मत किये गये और नये मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें पार्थिनन नामक एथीना देवी का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। इसका निर्माणकर्त्ता इक्टिनियस था। मन्दिर में एथोना देवी की कलापूर्ण मूर्ति स्थापित हुई थी। कई अन्य सुन्दर मूर्तियों का भी निर्माण हुआ।

मूर्तिकला के अतिरिक्त विद्या, गणित, नाटक तथा अन्य कलाओं की भी उन्नति हुई जिनका विस्तृत वर्णन उचित स्थान में आगे किया जायगा। नाटककार सोफोक्लीज, एसकीलस तथा यूरोपिडीज, चित्रकार फीडियस काव्यकार पिंडर और इतिहासकार हिरोडोटस तथा थ्यूसीडाइडस इसी काल में हुए थे जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। नाटककार एरिस्टोफेनीज और इतिहासकार जेनोफेन का जन्म इसी युग में हुआ था। यह युग पेशेवर शिक्षकों के उत्थान के लिये भी प्रसिद्ध है। ये सोफिट्स कहे जाते थे। इन्होंने भाषण तथा गद्यलेखन-कला को बहुत प्रोत्साहित किया। विविध क्षेत्रों में अपूर्व उन्नति को देखते हुए पेरीक्लीज ने एथेंस को ठीक ही हेलास का स्कूल कहा था।

अब यहाँ पाठकों को यह जानने की उत्सुकता होगी कि एथेंस के इस अपूर्व उत्कर्ष के पीछे क्या रहस्य था? इसका कारण क्या था? इसका एकमात्र कारण था—एथेंस निवासियों की स्वतंत्रता। स्पार्टा निवासी राज्य (स्टेट) की उन्नति में साधनमात्र थे, उनकी अपनी कोई हस्ती नहीं थी। वे राज्य के लिये थे, राज्य उनके लिये नहीं। एथेंस में बात उल्टी थी। यहाँ के निवासियों के हित में राज्य 'साधन मात्र था। ये राज्य (स्टेट) के हाथ के खिलौने या कल नहीं थे, बल्कि ये स्वतंत्रता के पुजारी, स्वतंत्र नागरिक थे। ये ही सत्ता के सूत्रधारी थे और छोटे-बड़े सभी विषयों पर सोच-विचार करते थे। भूलें होती थीं लेकिन अगले कदम में वे सुधार ली जाती थीं। प्रत्येक नागरिक का जीवन ही विद्यालय था जिसमें वह अनुभवों के द्वारा शिक्षा प्राप्त करता था।

अन्य राज्यों की अपेक्षा एथेंस में गुलामों के साथ सद्व्यहार किया जाता था। व्यापार आदि छोटे-मोटे अनेकों कार्य गुलामों को ही सौंप दिये गये थे। अतः अन्य प्रतिभाशाली लोग सांस्कृतिक विकास में ही अपने अवकाश का उपयोग करते थे।

(ग) पैलोपोनेसियंन युद्ध ४३१ ई० पू०—४०४ ई० पू०

कारण

घरेलू फूट बाहरी संकट से भी अधिक भयानक होती है और बड़े-बड़े साम्राज्य के पतन का कारण सिद्ध हुई है। यूनान का इतिहास भी इसका अपवाद नहीं है। उसने विदेशी आक्रमण का तो सफलतापूर्वक सामना किया किन्तु गृह-युद्ध ने उसे मटियामेट कर डाला। स्पार्टा और एथेंस के बीच स्थित विभिन्नताओं के विषय में पहले ही चर्चा की गई है। (क) यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि स्पार्टावासी डोरियन जाति के थे और सर्वोच्च शासन तथा अपरिवर्तन के समर्थक थे; एथेंसवासी आयोनियन जाति के और प्रजातंत्र तथा परिवर्तन के समर्थक थे। (ख) फारस के विरुद्ध युद्ध में एथेंस ने ही नेतृत्व किया था। अतः विजय के बाद उसकी महत्ता विशेष बढ़ गई। स्पार्टा ने भी भाग लिया किन्तु इसकी प्रधानता नहीं स्थापित हुई। अतः इससे स्पार्टा को ईर्ष्या हो चली। (ग) एथेंस के व्यवहार से डेलोस के गुट के सदस्य असंतुष्ट होने लगे थे। (घ) कोरिंथ और कौर्सिरा में जब झगड़ा हुआ तो एथेंस ने कौर्सिरा का और स्पार्टा ने कोरिन्थ का पक्ष लिया।

अतः ४३१ ई० पू० में दोनों राज्यों के बीच युद्ध छिड़ गया जो पेलोपोनेसियन युद्ध के नाम प्रसिद्ध है। युद्ध का श्रीगणेश तो ३० वर्ष पहले ही हो गया था। शान्तिकाल मे दोनों ही अपनी शक्ति का संगठन कर रहे थे और अब बड़े ही वेग के साथ युद्ध चालू हो गया। कारणों पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि यह युद्ध केवल दो राज्यों का ही नहीं बल्कि दो जातियों और दो विचारधाराओं का भी संघर्ष था। ४०४ ई० पू० में इस युद्ध का अंत हुआ। एथेंस की पराजय और स्पार्टा की विजय हुई। अब एथेंस की प्रधानता जाती रही, उसके साम्राज्य का अंत हो गया। उसे सभी जंगी बेड़ों और विदेशी राज्यों को त्यागना पड़ा, किलाओं को तोड़ना पड़ा, अपने राज्य-निर्वासितों को बुलाना पड़ा और स्पार्टा का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ा।

अब यह आश्चर्य होता है कि एथेंस तो उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुका था, फिर उसका पतन कैसे हुआ ? (क) एथेंस ने स्वतंत्रता के सिद्धात को ताक पर रखकर साम्राज्यवादी नीति अपना ली। अन्य राज्यों की तुलना में वह अपने को श्रेष्ठ और शक्तिशाली समझकर अहंकारी बन गया। (ख) स्पार्टा तो सैनिकों का राज्य था और वह एथेंस का जानी दुश्मन था। (ग) सिसली की क्षति से एथेंस की जलशक्ति क्षीण हो गई। (घ) किन्तु इस युद्ध के निर्णय मे फारस ने ही प्रमुख भाग लिया था। यों तो एथेंस की सम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी नीति से उसके मित्र असतुष्ट थे ही, फिर भी एथेंस की हार संदेहात्मक थी। वह तो सामुद्रिक राज्य था। लेकिन फारस ने स्पार्टा ाक साथ दिया। वहाँ के सम्राट् ने धन-जन से स्पार्टा की खूब सहायता की। स्पार्टा भी

जल-सेना स्थापित करने में समर्थ हुआ। ४०५ ई० पू० में इगोसपोटामी के जल-युद्ध में एथेंस के जंगी बेड़ों पर आक्रमण कर इन्हे तहस-नहस कर दिया गया। इस प्रकार एथेंस के भाग्य का निर्णय हुआ।

(घ) स्पार्टा तथा थीब्स की प्रधानता (४०४ ई० पू०—३६१ ई० पू०)

एथेंस के पतन के बाद स्पार्टा की प्रधानता स्थापित हुई जो ३४ वर्षों तक कायम रही। इस काल में युद्ध की अधिकता थी। स्पार्टा को फारस, कोरिन्थ और थीब्स से युद्ध करना पड़ा था। इस काल में यूनानियों ने अपने निकृष्ट चरित्र का प्रदर्शन किया था। वे एक दूसरे के विरुद्ध फारस की सहायता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। इसका परिणाम हुआ कि ३८७ ई० पू० में अन्टालसीदास की संधि हुई जो यूनान के लिये बड़े शर्म की बात थी। इस संधि को फारस के राजा ने यूनान पर बलात् लागू किया था। इसके अनुसार एशिया के यूनानियों को फारस की अधीनता स्वीकार कर लेनी पड़ी।

शक्ति की घड़ी में नम्रता रखना बड़ा ही कठिन कार्य है। स्पार्टा ने पेलोपोनेसियन युद्ध में मुक्तिदाता के रूप में प्रवेश किया था किन्तु विजय के बाद स्वयं आक्रमण-कारी और साम्राज्यवादी बन गया। अतः उसके विरुद्ध भी गुट का निर्माण होने लगा फारस उसका विरोधी हो गया और थीब्स से भी शत्रुता हो गई। ३७१ ई० पू० में थीब्स के शासक इपेमीनोन्डास ने स्पार्टा को ल्यूकट्रा के युद्ध में बुरी तरह पराजित कर अपनी प्रधानता स्थापित की। किन्तु अभी भी स्पार्टा के साथ युद्ध होता रहा। ३६२ ई० पू० में इपेमीनोन्डास की लड़ते-लड़ते मृत्यु ही हो गई और इसके साथ ही थीब्स के गौरव का भी अन्त हो गया। ३६१ ई० पू० में यूनान में एक सामान्य सन्धि के द्वारा शान्ति स्थापित की गई। लेकिन इस समय तक यूनान देश का नैतिक और सामरिक दोनों ही शक्तियों का पतन हो चुका था।

(ङ) मकदूनिया का उत्थान

अब तक क्रमशः एथेन्स, स्पार्टा और थीब्स के उत्थान और पतन पर दृष्टिपात किया गया, अब मकदूनिया (मेसीडन) के उत्थान की बारी आई। यह राज्य थेसली के उत्तर में स्थित था और बहुत ही पिछड़ा हुआ भाग था। ३५९ ई० पू० में फिलिप वहाँ का राजा हुआ। वह बड़ा ही साहसी और योग्य व्यक्ति था। थीब्स में उसकी शिक्षा हुई थी और इपेमीनोन्डास ने उसे युद्ध-कौशल सिखलाया था। वह वहाँ ३ वर्ष तक बन्दी के रूप में रहा था और उसने वहाँ की सभी पद्धतियों का अध्ययन किया था। मकदूनिया में सम्राट होने पर उसने थीब्स के सैनिक संगठन का अनुकरण किया। अब रथों की अनुप-योगिता स्पष्ट हो गई थी क्योंकि धनुर्धारी अपने बाणों से घोड़े को वेधकर बेकार कर देते थे। अतः फिलिप ने पदचरों और अश्वारोहियों का संगठन किया। पदचर २४ फीट लम्बे

भाले का व्यवहार करते थे और उन्हें आदेश था कि वे शत्रुओं के सामने एक दृढ़ दीवार की तरह खड़े होकर उनका सामना करें। अश्वारोही उनके अगल-बगल से होकर शत्रुओं पर आक्रमण करते और दुर्व्यवस्था फैलाने की चेष्टा करते। ये सुधार बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए और उसे रणक्षेत्र में सदा सफलता मिलती रही।

३५६ ई० पू० में एक भूमि की टुकड़ी को लेकर थीब्स और फोसिया के बीच धार्मिक युद्ध हुआ जो १० वर्षों तक चलता रहा। इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर हुआ। फिलिप ने पंचायत के द्वारा इस युद्ध का निर्णय किया और यूनान में अपना पैर जमा लिया। केवल डेमस्थनीज ने फिलिप का विरोध किया किन्तु उसकी पुकार अरण्यरोदन साबित हुई। ३३६ ई० पू० में फिलिप ने एथेंस और थीब्स की सम्मिलित सेना को केरोनिआ के युद्ध में पराजित किया और वह यूनान का स्वामी बन बैठा।

इसके बाद फिलिप ने ग्रीक राज्यों की एक कांग्रेस कोरिन्थ में बुलाई। फारस से युद्ध करने के लिये उसे सर्वोच्च सेनापति बनाया गया। किन्तु २ वर्ष बाद किसी ने उसकी हत्या कर डाली। उसके पुत्र सिकन्दर ने उसके कार्य को पूरा किया जिसका विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा।

यूनानी उपनिवेश

अब तक यूनान के उपनिवेशों की चर्चा नहीं की गई है। समय-गति के साथ-साथ यूनानियों ने अपने देश से बाहर कई उपनिवेशों को बसाया। इसके कई कारण थे।

(क) उनमें साहसिक भावना थी अतः संकटपूर्ण यात्राओं को करने के लिये वे उत्सुक रहते थे।

(ख) जनसंख्या की अधिकता के कारण उन्हें बाहर जाने के लिये बाध्य होना पड़ा।

(ग) कभी-कभी सामाजिक बन्धन से ऊबकर भी लोग घर से बाहर बसने लगे।

(घ) यूनान देश में पर्वत-श्रेणियों के कारण अधिक उपजाऊ भूमि का अभाव था।

यूनानी अधिकतर समुद्र के किनारे पर ही बसते थे और व्यापार करते थे। मातृभूमि का इन उपनिवेशों के ऊपर कोई राजनीतिक दबाव नहीं रहता था। लेकिन धार्मिक लगाव बना रहता था। मातृभूमि की जो धार्मिक विधियाँ होती थीं वे ही इन उपनिवेशों में भी प्रचलित थीं।

उपनिवेशों का क्षेत्र

स्थिति के अनुसार उनके उपनिवेश ४ प्रकार के थे :—

(क) एशिया के पश्चिमी किनारे पर एशिया माइनर के उत्तर में एटोलिक, मध्य में आयोनिक और दक्षिण में डोरियन उपनिवेश थे। इनमें क्रमशः लेसबस, मिलेटस और रोड्स के उपनिवेश प्रसिद्ध थे।

(ख) भू-मध्यसागर के पश्चिमी तट पर इटली, सिसली, गौल और स्पेन में उपनिवेश

बसाये गये थे। इटली के दक्षिणी भाग को मैगनाग्रेसिया कहा जाने लगा। सेराकूस (सिसली में) मेसालिया (फ्रांस में) और अन्य कई उपनिवेश प्रसिद्ध थे।

(ग) अफ्रीका के उत्तर में साइरेन और नौक्रेटीस मिश्र में प्रसिद्ध थे।

(घ) यूनान के आस-पास के उपनिवेश—एपिरस के निकट कौर्सिरा और मेसीडोन के समीप पोटिडिया नाम के उपनिवेशों को कोरिन्थ ने बसाया था। थ्रस में बाइजैनटियम और काले समुद्र के तट पर मिलेटस द्वारा स्थापित सिजीकस प्रसिद्ध उपनिवेश थे। इन उपनिवेशों से कई फायदे हुए। इनमें व्यापार की उन्नति और राष्ट्रीय एकता विशेष उल्लेखनीय हैं। विदेशियों की तुलना में सभी यूनानी अपने को हेलास के निवासी समझते थे और उपनिवेशों में भिन्न-भिन्न वर्ग के यूनानी एक साथ रहते थे।

यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति

पृष्ठभूमि

यूनान के इतिहास के दो स्पष्ट स्वरूप हैं। एक बाहरी स्वरूप है जिसमें अन्य देशों की भाँति युद्ध और हिंसा, ईर्ष्या और द्वेष, शोषण और अत्याचार भरे हैं। दूसरा भीतरी स्वरूप है जिसमें यूनान की भावना और विचार-धारा, सभ्यता और संस्कृति प्रदर्शित है। पहला यूनान के शरीर का प्रतीक है तो दूसरा उसकी आत्मा का। अतः अन्य राज्यों की तरह उसके प्रथम स्वरूप का तो कब न अन्त हो गया लेकिन उसका आन्तरिक स्वरूप सतत् वर्तमान है क्योंकि वह अमर है। अब इसी स्वरूप का विवेचन होने जा रहा है।

यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति यूनानियों की ही विशुद्ध देन नहीं है। इनमें उनकी मौलिकता तो है ही किन्तु अन्य प्राचीन सभ्यताओं का समन्वय भी है। उन्होंने बहुत-सी बातें पाषाण युग के लोगों से सीखीं जैसे कपड़े बनाना, अन्न उपजाना, पहियेदार गाड़ियाँ और घर बनाना, पत्थर की काँट-छाँट करना आदि। उन्होंने अपने पड़ोसी देशों—क्रीट, मिश्र और फिनीशिया से बहुत कुछ सीखा। फिनीशियावासियों से सामुद्रिक विद्या, वर्णमाला तथा व्यापार पद्धति, मेसोपोटेमियावासियों से साम्राज्य-व्यवस्था तथा शासन प्रबन्ध और मिश्रियों से विशाल भवन-निर्माण तथा नक्षत्र-विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ। क्रीट से कला तथा कारीगरी सम्बन्धी जानकारी हुई। यूनान के अन्तर्गत टिरीन्स और माइकेनी क्रेटन सभ्यता के ही दो प्रसिद्ध केन्द्र थे। ट्राय शहर में भी क्रीट की सभ्यता का प्रसार था जिसे यूनानियों ने नष्ट किया था। आयोनिया के यूनानवासी पूर्वीय सभ्यताओं से बहुत प्रभावित हुए थे और अन्य यूनानियों पर उनका प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार यूनानवासियों ने अपने पूर्वजों और पड़ोसियों से बहुत कुछ पा लिया था लेकिन उन्होंने कार्बन कागज के जैसी उनकी केवल नकल मात्र नहीं की। वे प्रतिभाशाली थे। वे जिज्ञासु थे। उनके सामने बहुत-सी चीजें आईं किन्तु उन्होंने संशोधन और परिवर्द्धन की क्रियाओं के द्वारा उनमें इतना परिवर्तन कर डाला कि उनके स्वरूप ही बिलकुल बदल

गये। यही उनकी मौलिकता थी। इसी संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण को उन्होंने अगली पीढ़ी को प्रदान किया जिसके लिये मानव समुदाय उनका ऋणी है और आगे भी रहेगा।

यूनानियों के दृष्टिकोण

यूनानी दार्शनिक तथा जिज्ञासु थे लेकिन साथ ही वैज्ञानिक, व्यावहारिक और विवेकशील थे। उनमें सुन्दरता, उपयोगिता और मानवता की भावना की प्रधानता थी। वे विश्व के सुन्दर पक्ष की ही ओर देखते थे और इसे कसमोस कहते थे। कसमोस का अर्थ होता है दैवी या दिव्य व्यवस्था। उन्होंने 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की कल्पना की और उसे व्यवहार में लाने के लिये मार्ग भी दिखलाया। उनके जीवन का प्रायः प्रत्येक क्षेत्र इसी आदर्श से परिपूर्ण था। वे व्यवस्था तथा अनुशासन के प्रेमी थे और उनमें रचनात्मक प्रतिभा की प्रचुरता थी। उनका धर्म क्या था मानो उत्तम कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करनी थी। एक विचारक[1] के मतानुसार कलाएँ ही धर्म हो गयीं और धर्म का अन्त कलाओं में ही हुआ। राजनीतिक, सामाजिक और शिक्षा-प्रणालियों का उद्देश्य था—मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, और सर्वांगीण विकास का मतलब था मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—तीनों ही शक्तियों का पूर्ण विकास। तीनों शक्तियों के विकास का समन्वय ही मनुष्य का व्यक्तित्व कहलाता है। वे कोरी कल्पना के पोषक नहीं थे। वे सर्वत्र मानवता की ही झलक देखते थे। वे अपने देवी-देवताओं को भी मानवीय रूप में ही देखते और पूजते थे। पूजा-पाठ में जटिलतापूर्ण कर्मकाण्ड का अभाव था। वे सभी क्षेत्रों में अति का त्याग करते और संयम भाव रखते थे। उनके पास धन था लेकिन यह प्रदर्शन के लिये नहीं बल्कि उनकी उन्नति का साधन समझा जाता था। शोषण, साम्राज्यवाद और युद्ध उनकी परम्परा नहीं थी। एक विद्वान् लेखक[2] के मतानुसार यूनानी कृतियों की सामान्यतः निम्नलिखित आठ विशेषताएँ थीं :—(१) परोपकारिता (२) सरलता (३) सन्तुलन एवं मर्यादा (४) स्वाभाविकता (५) आदर्श (६) धैर्य (७) आनन्द और (८) साहचर्य।

राजनीतिक व्यवस्था

शासन मुख्यतः ३ प्रकार का होता है—राजतन्त्र, उच्च कुलतंत्र और प्रजातन्त्र। यूनान में तीनों प्रकार के शासन का प्रयोग हो चुका था। किन्तु प्रजातंत्र राज्य ही अन्तिम रूप था जो लोकप्रिय और प्रचलित रहा। यूनानी राजनीतिक प्रणाली की विशेषता थी—व्यक्तियों की स्वतंत्रता और उनके अधिकार। यूनानी नगर राज्यों में संगठित थे और उनकी भाषा में नगर-राज्य को पोलिस कहा जाता था। प्रत्येक नगर

---

[1]रोबर्टसन [2]प्रो० पर्सी गार्डनर-'दी लिगेसी ऑफ ग्रीस' पृ० ३५५

राज्य स्वतंत्र था। इसमें प्रजातंत्र प्रणाली प्रचलित थी। सभी स्वतंत्र नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लेते थे। कोई भी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी सरकारी पद पर नियुक्त हो सकता था। उनकी एक लोक-सभा (असेम्बली) होती थी और एक कौंसिल उनकी कार्यकारिणी थी जो दैनिक शासन के कार्य को किया करती थी। लोक-सभा व्यवस्थापिका सभा थी जो नियम बनाती और कौंसिल के प्रस्तावों पर विचार करती। यह मुकदमों को भी देखती थी किन्तु कहीं-कहीं एथेन्स में इसके लिये खास न्यायालय भी था। सब लोग नियमों का पालन और अधिकारों का उपयोग करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस सम्बन्ध में एक बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद कहानी है। वहाँ खतरनाक व्यक्तियों को राज्य से निकाल देने का नियम था। इसके लिये जनमत लिया जाता था। एक बार एरिसटाइड नाम के व्यक्ति के विषय में मत लिया जा रहा था। एक अपढ़ व्यक्ति था जो उसे निकालने के ही पक्ष में था। सयोग से वह एरिसटाइड के ही पास मतदान पत्र लेकर पहुँचा और उसका (एरिसटाइड का) नाम लिख देने के लिये कहा। एरिसटाइड ने उस पर अपना नाम लिख कर दे दिया।

इस प्रकार प्रायः सब लोग विधान की पवित्रता मानते थे। एक विद्वान्[1] ने यूनान के इतिहास का सार 'वैधानिकता' को ही बतलाया है। वास्तव में विधान 'राज्य की आत्मा' स्वरूप था। राजनीति शास्त्र के धुरंधर अरस्तू ने तो राज्य (स्टेट) और विधान में कोई अन्तर ही नहीं देखा और विधान को ही स्टेट कह डाला।

लेकिन प्रजातन्त्र प्रणाली बहुत ही सीमित और संकुचित थी। एटिका प्रात में २,४०,००० जनसंख्या थी जिनमें ५०,००० को ही मताधिकार प्राप्त था। १ लाख तो दास थे, २० हजार विदेशी और बाकी बच्चे तथा स्त्रियाँ जो मताधिकार से वंचित थे। नागरिकता का नियम इतना कड़ा था कि पेरिक्लीज जैसा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्त्री से विवाह न कर सका। इन सबका परिणाम यह हुआ कि यूनान में राष्ट्रीयता की भावना विकसित न हो सकी। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि यूनानियों में कई मौकों पर पारस्परिक सम्पर्क होता था और उनके बीच कई सांस्कृतिक बन्धन थे तो भी उनमें एकता और राष्ट्रीयता की भावना नहीं प्रस्फुटित हो सकी।

धार्मिक व्यवस्था

वैदिक आर्यों की तरह यूनानी भी प्राकृतिक शक्तियों की आराधना करते थे। चन्द्र, सूर्य, वायु, आकाश, नदी, समुद्र आदि सभी चीजों को देवता समझा जाता था। जीयस उनका सबसे महान् देवता था जो आकाश में रहता था। वह देवताओं का जन्मदाता

---

[1] ए० एच० जे० ग्रीनिज

था और हेरा उसकी पत्नी थी। इसके सिवा उनके देवी-देवताओं की संख्या सैकड़ों तथा हजारों थीं। इनमें अग्नि का देवता वल्कन, युद्ध का मार्स, समुद्र का पोसीडन और प्रकाश तथा भविष्यवाणी का एपोलो प्रसिद्ध थे। अथीना विद्या की और अफ्रोडाइट प्रेम की देवियाँ थीं। डेमीटर पृथ्वी-माता का प्रतीक थी। हरेक देवता के सम्मान में मन्दिर बनाया जाता था। एपोलो के मन्दिर डेल्फी और डेलोस में थे।

अन्य प्राचीन जातियों के देवी-देवताओं की तरह यूनान के देवी-देवता कल्पना की दुनिया में नहीं थे। वे उनके समान ही थे यद्यपि उनसे श्रेष्ठ और अधिक सुन्दर थे। वे सभी ओलम्पस पर्वत पर रहते थे और मनुष्य के जैसा ही जीवन व्यतीत करते थे। उनकी उपासना में गाने-बजाने होते, जुलूस निकलते, नाटक, खेल-कूद तथा भोज किये जाते थे। जीयस के सम्मान में ओलिम्पिक तथा नेमियन, अपोलो के सम्मान में पीथियन और पोसीडन के सम्मान में इथमियन नामक राष्ट्रीय उत्सव मनाये जाते थे। इन उत्सवों के समय सब प्रकार के लोग इकट्ठे होते थे। संक्षेप में, आधुनिक काल में प्रेस, सभा, सम्मेलन और प्रदर्शन से जो उद्देश्य पूरे होते हैं प्रायः वे सभी उद्देश्य इन उत्सवों से पूरे होते थे।

यूनान में आकाशवाणी या भविष्यवाणी को ओरेकल के नाम से पुकारा जाता था। इसके देव अपोलो थे। इस दृष्टि से डेल्फी लोगों के आकर्षण और दर्शन का स्थान बन गया था। किसी कार्य को करने के पहले बहुत से यूनानी और विदेशी भी इस देवता से फल के विषय में पूछ-ताछ किया करते थे। मदिर के पुजारी उन उच्चरित शब्दों की सूचना दिया करते थे। यह यूनानियों के अंधविश्वास का द्योतक है।

सामाजिक व्यवस्था

राजनीतिक व्यवस्था के समान यूनान की सामाजिक व्यवस्था सुसंगठित और अनुकरणीय नहीं थी। समाज के दो वर्ग थे—स्वतंत्र और गुलाम। गुलामों के साथ बड़ा ही दुर्व्यवहार किया जाता था और उनकी दशा दयनीय थी। केवल एथेन्स में गुलामों के साथ अन्य राज्यों की अपेक्षा सद्व्यवहार किया जाता था।

स्वतंत्र यूनानियों में समानता का व्यवहार था। उच्च-नीच, धनी-गरीब का कोई विचार नहीं था। खेती करना, कुश्ती लड़ना, सुन्दर चित्रकारी खींचना और विविध राजकीय कामों को करना—यूनानियों के मुख्य पेशे थे। व्यापार और दस्तकारी के काम प्रायः विदेशी और गुलाम किया करते थे। विदेशियों से कड़ा कर लिया जाता था। यूनानी शाकाहारी और मांसाहारी दोनों ही होते थे। धनी लोग मांस, मछली और शराब का प्रयोग करते थे और भोजन के समय चम्मच का व्यवहार करते थे। ४ बजे के लगभग उनका प्रधान भोजन होता था। वे चप्पल या खड़ाऊँ का व्यवहार करते थे। साधारण लोग फल-मूल और जौ की रोटी अधिकतर खाते थे। यूनानियों

की पोशाकें सादी होती थीं। तड़क-भड़क का अभाव था। स्त्री-पुरुष सभी एक नीचे और एक ऊपर दो पोशाक पहनते थे। इनके आमोद-प्रमोद के साधन विविध थे। खेल-कूद, प्रतिद्वंद्विताएँ, शिकार, नाच-गाना, नाटक, धार्मिक उत्सव आदि में यूनानवासियों की विशेष अभिरुचि थी। ओलिम्पिक खेल-कूद की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। वहाँ तरह-तरह के खेल होते थे जैसे कुश्ती, कूद, मुक्केबाजी, रथों की दौड़ आदि। स्वास्थ्य पर इतना ध्यान किसी भी प्राचीन सभ्यता में नहीं पाया जाता। यूनानी इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है। लेकिन मोहेंजोदड़ो और क्रीट के जैसा यूनान में स्नानागार और नालियों का प्रयोग नहीं पाया जाता है।

चित्र ३३—यूनानी मल्लयुद्ध का एक चित्र

स्त्रियों की दशा भी बुरी ही थी। समाज मे उन्हे कोई अधिकार नहीं था और यह सामान्य विश्वास था कि उनमें कोई योग्यता नहीं होती। वे पुरुषों के दास थीं। दासों के समान उन्हें भी कोई राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त था। उनकी दशा वर्तमान भारतीय स्त्रियों से बहुत मिलती-जुलती थी। वे पर्दे में रहती थीं और कपड़े बुनतीं, सूत कातती और बेल-बूटे बनाती थीं। वे केवल धार्मिक उत्सव में दर्शक के रूप में भाग लेती थीं। स्त्रियों की बुरी स्थिति यूनानी सभ्यता की बड़ी भारी त्रुटि थी।

कला एवं साहित्य

भास्कर शिल्प, वास्तुकला और चित्रकला सभी क्षेत्रों मे यूनान ने अपूर्व उन्नति की। बहुत से मन्दिरों, भवनों, नाट्यशालाओं और समाधि-स्थानों का निर्माण हुआ। एथीना का पार्थेनन नामक मन्दिर वास्तुकला का सर्वोत्तम उदाहरण है। उसकी कला को देखकर दर्शक आज भी अचम्भित होते हैं। यह संगमरमर का बना हुआ था। ५वीं सदी के बाद यह नष्ट होने लगा। भास्कर कला के प्रेक्सीटेलीज और चित्रकला के फिडियस विशेषज्ञ थे। ओलिम्पिया मे जीयस की मूर्ति और पार्थेनन में एथीना की मूर्ति फीडियस की अमर कीर्तियाँ हैं। कलाकार दत्तचित्त हो धैर्य और शान्तिपूर्वक अपने कार्यों को

करते थे। समय कितना ही लगे, इससे वे ऊबने वाले नहीं थे। उनकी कृति सुन्दर, उपयोगी और उत्तम होनी चाहिये। किसी कार्य को करने के पहले वे अधिक से अधिक
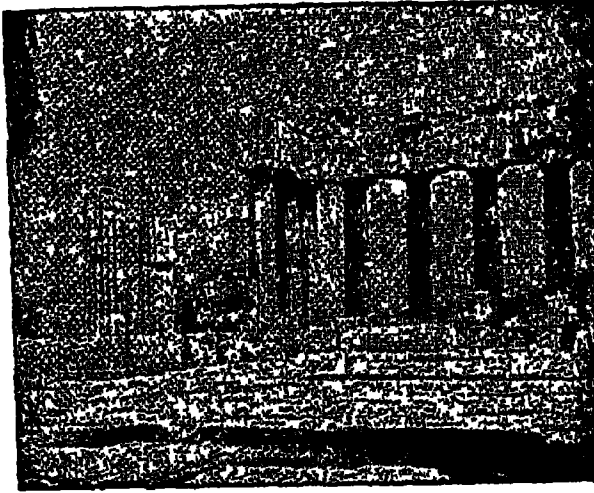
चित्र ३४—पार्थेनन

तत्सम्बन्धी नमूनों का सूक्ष्म अध्ययन करते थे और अपनी कृति में सबों की अच्छाइयों के सामञ्जस्य का समावेश करते थे। प्रोटो जिनीज नाम के एक चित्रकार ने ७ वर्षों में एक
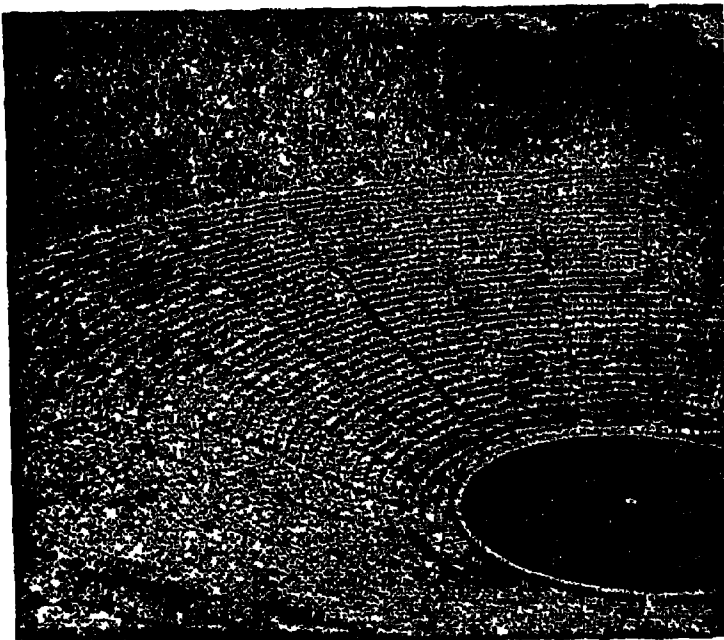
चित्र ३५—यूनानी रंगमंच

मूर्ति तैयार की थी। ज्यूक्सीज ने ५ सुन्दरतम महिलाओं की आकृतियों को देख कर ट्राय की रानी हेलेन की मूर्ति बनायी थी। माइकोन और अपीलीज भी प्रसिद्ध चित्रकार थे।

यूनानियों के प्राचीन महाकाव्य की चर्चा की जा चुकी है। इलियड और ओडेसी के सम्पादक होमर यूनान के व्यास और वाल्मीकि थे। ये यूरोप के प्रथम महाकाव्य एवं साहित्य हैं। विश्व के सर्वोत्तम महाकाव्यों में इनकी गिनती होती है और ये पाश्चात्य सभ्यता की अमूल्य निधि माने जाते हैं। अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद हो चुका है। यूनान के पाठ्यक्रम के ये अंग थे और वहाँ के लेखक, नाट्यकार, चित्रकार सभी इन कृतियों से प्रभावित हुए हैं। मिल्टन, दाँते आदि जैसे अंगरेज कवियो को भी इन महाकाव्यों से पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहा है।

होमर के बाद हेसियड महाकाव्य का लेखक हुआ था। ८वीं सदी के मध्य में बोयटिया में उसका जन्म हुआ था। उसका प्रसिद्ध काव्य 'वर्क्स ऐण्ड डेज़' है। होमर और उसके काव्यों के विषय भिन्न हैं। एक मे देवताओं सम्बंधी विषय का विशेष वर्णन है तो दूसरे में मनुष्य के दैनिक जीवन सम्बंधी।

इतिहास काल में साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों का समुचित विकास हुआ। कविता, नाटक और इतिहास के क्षेत्रों में अद्भुत प्रगति हुई। पिंडर (५२०-४४० ई० पू०) काव्यकला का विशारद था। सेफो (६ठी सदी ई० पू०) प्रसिद्ध कवियित्री थी। ईसकाइलस, सोफोक्लीज, यूरीपिडीज और अरिस्तोफेनीज नाट्यशास्त्र के विशेषज्ञ थे। इस काईलस (५२५—४५६ ई० पू०) तो लेखक ही नहीं, योद्धा भी था जिसने माराथुन और सलेमिस के युद्धों में सक्रिय भाग लिया था। वह सैनिक जीवन को ही अधिक महत्व देता था क्योंकि उसकी समाधि पर यही बात अंकित की गई थी। आगमेमनन, लिबेशन बेयरर्स और फ्यूरीज उसके रचित प्रसिद्ध नाटक हैं। सोफोक्लीज (४९६-४०६ ई० पू०) ने फिलोक्टेट्स और ईडिपस नामक नाटकों को रचा। यूरीपिडीज (४८०-४०६ ई० पू०) ने कई नाटकों को लिखा जिनमें मेडिया, दी ट्रोजन वीमेन और एलेक्ट्रा प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त तीनों लेखक दुखान्त नाटकों के रचयिता थे। लेकिन अरिस्तो फेनीज (४४६-३८५ ई० पू०) सुखान्त नाटकों का लेखक था और दी फ्रौग्स, दी बर्ड्स, दी क्लाउड्स इसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं जिनमें बड़े ही मनोहारी कार्टून पाये जाते हैं। नाट्य शास्त्र के इन विशेषज्ञों के प्रयास के फलस्वरूप एथेंस में नाटक, संगीत और रंगमंच का खूब प्रचार हुआ ही, दूसरे नगरों में भी धीरे-धीरे इनका प्रसार हो गया। यह भी जानना चाहिये कि नाटक खुले स्थानों में और दिन में ही खेले जाते थे।

इस प्रकार महाकाव्य, कविता और नाटक का क्रमशः विकास हुआ और लिविंगस्टन के मतानुसार ये यूनानी राष्ट्र के क्रमिक विकास के द्योतक हैं। महाकाव्य बाल्यावस्था, कविता किशोरावस्था और नाटक युवावस्था के उत्पादन हैं—यह कथन ठीक है। हर्बर्ट जैसे विद्वान् ने ओडेसी को लड़कों के अध्ययन के लिये बड़ा ही उपयुक्त बताया है।

इस काल में इतिहास की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यूनान के दो प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस तथा थ्युसीडाइड्स थे। हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) का

चित्र ३६—हेरोडोटस चित्र ३७—थ्युसीडाइड्स

जन्म एशिया माइनर मे हुआ था और वह इतिहास का जन्मदाता समझा जाता है। वह पेरीक्लीज के समय में एथेंस में रहता था। उसने यूनान और फारस के युद्ध का वर्णन किया है जिसके ६ भाग हैं। यह ठीक है कि उसीने इतिहास जैसी चीज का लिखना प्रारम्भ किया किन्तु वह वास्तविक अर्थ में इतिहासकार नहीं था। वह छानबीन कर घटनाओं का चुनाव नहीं करता था बल्कि जो कुछ भी सुनता था उसे लिख डालता था। वस्तुस्थिति विश्वसनीय है या नहीं, इसकी परवा उसे नही थी। थ्युसीडाइड्स वास्तविक अर्थ में इतिहासकार था। उसका जन्म ४७१ ई० पू० में एथेन्स में ही हुआ था। उसने पेलेपोनेसियन युद्ध का वर्णन किया है जिसमें उसने स्वयं भाग भी लिया था। इसके ८ भाग हैं, जिनमें अंतिम भाग अपूर्ण रह गया था। वह निर्भीक, निष्पक्ष और सूक्ष्म लेखक था। मेकाले ने उसे सबसे महान् इतिहासकार की उपाधि से विभूषित किया है। वह देखी हुई और छानबीन के बाद विश्वसनीय घटनाओं का ही उल्लेख करता था।

उसने अपने ग्रन्थों में एथेंस की साम्राज्यवादी और युद्ध नीतियों की कटु आलोचना की है और बतलाया है कि प्रजातंत्र और साम्राज्यवाद परस्पर विरोधी चीजें हैं।

चित्र ३८—सुकरात

यूनानी भाषा के अक्षर
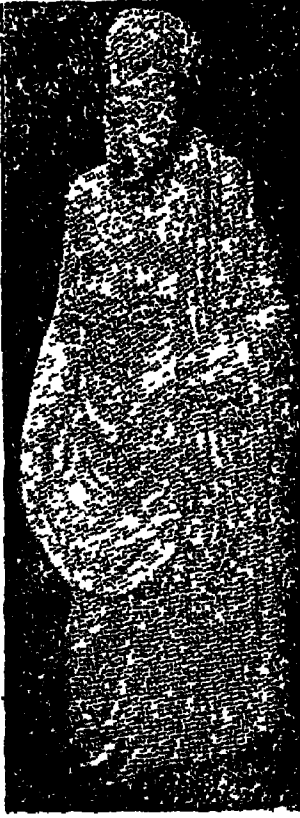
सम्भाषण कला में भी यूनान ने उन्नति की। यों तो प्रजातंत्र राज्य में अनेक वक्ता होते ही हैं किन्तु यूनान के नगर-राज्यों में बड़े ही योग्य और कुशल वक्ता होते थे। इनमें डेमोस्थीनीज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने समुद्र के तट पर जाकर अपने मुख में पत्थर के टुकड़ों को भरकर खूब जोर से चिल्लाते हुए अपनी वाणी को परिष्कृत किया और सर्वश्रेष्ठ वक्ता बन गया। उसने मेसीडन के फिलिप के विरुद्ध प्रचार किया था किंतु फिलिप के सफल होने पर उसे देश से निकाल दिया गया था।

विज्ञान एवं दर्शन

यूनान की भूमि विज्ञान एवं दर्शन के विकास के लिये भी बड़ी ही उपयुक्त थी। यह पहले ही कहा गया है कि यूनानी जिज्ञासु होते थे। अन्य सभी प्राचीन जातियों की अपेक्षा वे अधिक विवेकशील और तार्किक होते थे। उन्हें प्रत्येक घटना के कारणों को जानने की उत्सुकता होती थी और वे प्रश्न किया करते थे तथा उनका समाधान भी ढूँढते थे। इस तरह की मानवप्रकृति विज्ञान एवं दर्शन की उन्नति के लिये उपयुक्त होती है। ऐसा समझा जाता है कि विज्ञान की कई प्रमुख शाखाओं की नींव यूनान में ही पड़ी और उसी नींव पर खड़े होकर बाद के वैज्ञानिक आगे आविष्कार करते रहे हैं। अतः यूनान ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक और दार्शनिक उत्पन्न किया है।

थेल्स (६२५ ई० पू०)—आयोनिया का रहने वाला था और यूनान का प्रथम व्यक्ति था जिसने रेखागणित में निपुणता प्राप्त की थी। पाइथागोरस ने (५३० ई० पू०)

रेखागणित को और अधिक उन्नत किया। वह उत्तम श्रेणी का मौलिक विचारक था। उसी ने सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि पृथ्वी और अन्य ग्रहों का आकार गोल है। उसने संगीत सम्बन्धी आवाजों का वैज्ञानिक ढग से स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया था।

हीपोक्रेटीज (४६० ई० पू०)—एक महान् डाक्टर था। उसे चिकित्सा शास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। वह भी आयोनिया का रहने वाला था। उसकी रचनाएँ आज भी बड़ी गम्भीरतापूर्वक पढ़ी जाती हैं। उसने बीमारी और प्रकृति के बीच गहरा सम्बन्ध बतलाया है। उसने चीर-फाड़ के लिये जिन आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उपदेश दिया है वह अलौकिक है और अब तक उससे अधिक किसी ने नहीं बतलाया है। उसने चिकित्सा-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिये जो शपथ निर्धारित की वह भी सम्पूर्ण संसार में आदर्श मानी जाती है। शुद्ध आचरण रखते हुए मनसा, वाचा, कर्मणा, रोगी की सेवा-सुश्रुषा करना ही उस शपथ का साराश है।

इन वैज्ञानिकों के बाद अरस्तू का काल आता है। वह विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। उसने विज्ञान के भण्डार में बड़ी वृद्धि की। उसके सम्बन्ध में अभी आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

दार्शनिकों में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू (अरिस्टौटल) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने प्रचलित अंधविश्वासों और विभीषिकाओं का नाश कर स्वतंत्र विचारों के लिये मार्ग प्रशस्त किया।

सुकरात (४६६-३६६ ई० पू०)—एथेंस का रहनेवाला था। वह कोरा दार्शनिक ही नहीं बल्कि वीर योद्धा भी था। उसने युवाकाल में ३ बार युद्ध में भाग लिया था। तत्पश्चात् वह दार्शनिक बन गया। वह एक महान् सत्याग्रही तथा आदर्श पुरुष था। फीडो के शब्दों में वह 'सबसे अधिक बुद्धिमान, न्यायप्रिय और उत्तम व्यक्ति' था। उसके उपदेश का सार था—आत्मज्ञान की प्राप्ति और इसी आधार पर वह युवकों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करता था। वह तथाकथित गुरुओं के विरुद्ध प्रचार करता था। किन्तु अफसोस! एथेंस के तत्कालीन अज्ञानपूर्ण वातावरण का वही दयनीय शिकार हुआ। सत्ताधारियों, स्वार्थियों और पाखण्डियों को इस सत्य के पुजारी से भय लगा; उस पर युवकों को पथ-भ्रष्ट करने का दोषारोपण लगाया गया और विषपान करा कर उसे मार डाला गया। लेकिन यह स्मरण रहे कि उसे विषपान बलात् नहीं कराया गया। सत्य की रक्षा के हेतु उसने स्वयं सहर्ष विषपान कर लिया। विषपान के पहले उसने न्यायालय में जो संक्षिप्त भाषण दिया वह कमजोरों और भयभीतों को प्रोत्साहित करने के लिये संजीवनी बूटी के तुल्य है। संसार के इतिहास में सत्य की वेदी पर बलिदान का यह प्रथम उदाहरण था। उसके पार्थिव शरीर का तो अन्त हो

गया लेकिन उसकी विचारधारा उसके रक्त से और भी अधिक बलवती हो तीव्र वेग से प्रवाहित होने लगी।

प्लेटो (अफलातून ४२७-३४६ ई० पू०)—यदि सुकरात आदर्श गुरु था तो प्लेटो उसका आदर्श शिष्य। उसने अपने गुरु के प्रारम्भ किये कार्यों को जारी रखा। वह दर्शनशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उसने कई ग्रंथों को रचा जिनमें ३ प्रसिद्ध हैं। उसने 'यूटोपिया' में एक आदर्श समाज की और प्रजातंत्र (रिपलब्लिक) में दार्शनिक राजा की कल्पना की है। 'कानून' (लॉज़) नाम की पुस्तक में उसने कानून और विधान के महत्व को बतलाया है। अपने विचारों के प्रचारार्थ उसने एथेंस में एक एकेडेमी स्थापित की थी। उसकी अपनी लेखनशैली थी जो बड़ी ही सरस है।

चित्र ३६—प्लेटो, अरस्तू

अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०)—प्लेटो का शिष्य था। वह मेसीडन का रहनेवाला था जहाँ उसका पिता फिलिप के दरबार में चिकित्सक का काम करता था। अरस्तू भी सिकंदर का गुरु रह चुका था। उसने लगभग २० वर्षों तक प्लेटो के अधीन शिक्षा ग्रहण की थी। लेकिन 'गुरू गुड़ तो चेला चीनी' वाली कहावत वह चरितार्थ करता है। वह अपने गुरु से भी बहुत आगे बढ़ गया। वह प्लेटो जैसा दार्शनिक तो था ही, प्रधानतः वह वैज्ञानिक था। उसे विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है। वह प्रकाण्ड विद्वान था जिसका समकक्ष किसी भी काल में मिलना कठिन है। उसने दर्शन

के सिवा राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखा है जिन्हें विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े विद्वान सदियों तक गम्भीरतापूर्वक मनन करते रहे हैं। 'उसके न तो पहले और न उसके बाद किसी व्यक्ति ने ज्ञान के इतने विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी प्राप्त की।'[1] उसके लेखों का मानव पर महत्वपूर्ण प्रभाव भी पड़ा है। प्राचीनकाल की जितनी भी रचनाएँ हैं उनमें अरस्तू की रचनाओं का ही सबसे अधिक आधुनिक विश्व की विचारधाराओं पर प्रत्यक्ष और व्यापक प्रभाव पड़ा है।

यूनान में दार्शनिकों के दो और वर्ग थे—सोफिस्ट और स्टोइक। सोफिस्ट पेशेवर शिक्षक थे जो देवी-देवताओं के अस्तित्व को नहीं मानते थे। ये बड़े ही निपुण वक्ता और लेखक होते थे। अतः इनसे भाषण तथा गद्य-लेखन कला को बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। स्टोइक वर्ग का संस्थापक जेनो था। वह एथेंस के स्टोआ नामक भवन में व्याख्यान दिया करता था। अतः इस वर्ग का नाम स्टोइक पड़ा था। इस वर्ग के लोग आत्मविजय पर विशेष जोर देते थे। सेनेका और मार्कस औरेलियस इसी वर्ग के दार्शनिक थे। एपिक्यूरस ने सुखवादी (एपिक्यूरियन) सिद्धात का प्रचार किया। इसका उद्देश्य था आनन्दमय जीवन व्यतीत करना। किन्तु इसका तात्पर्य निकृष्ट इंद्रियजनित सुख से नहीं है बल्कि चिंता तथा जंजालरहित सुखी जीवन से है। इसके लिये मनुष्य को सज्जन, सच्चरित्र और बुद्धिमान होना अत्यावश्यक है।

यूनानी सभ्यता की देन

'यूनान के इतिहास का महत्व' शीर्षक वाले अध्याय में ही बतलाया गया है कि विश्व यूनान के प्रति कितना और कैसे ऋणी है। आज यह सर्वविदित है कि सारे विश्व में यूरोप की सभ्यता की तूती बोल रही है और उसकी नकल करना ही गौरव समझा जाता है। लेकिन इस सभ्यता का स्रोत कहाँ है? इसका स्रोत यूनान में ही है। शेली जैसे महान् अंग्रेज कवि ने इस कृतज्ञता को स्वीकार किया है। एक दूसरे लेखक का कथन है कि "यूरोप के राष्ट्रों का पूर्वज उनको नहीं माना जा सकता जिनके रक्त से उनकी उत्पत्ति हुई है वरन् उनको माना जायगा जिनसे उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति का अधिकांश भाग प्राप्त हुआ है।" कला, साहित्य, विज्ञान तथा दर्शन, हर क्षेत्र में यूनान का असर दीख पड़ता है। यद्यपि एथेंस की जीवन-शिखा बुझ गई तथापि उसकी आत्मा अमरत्व को प्राप्त हो विश्व को प्रभावित करती रही है। लगभग ढाई हजार वर्षों के बीत चुकने पर भी आज जब हम अपने इर्दगिर्द के चतुर्दिक वातावरण का सिंहावलोकन करते हैं तो उसी की मूलभूत प्रवृत्तियों को प्रयत्नशील पाते हैं।

---

[1] लिविंगस्टोन

यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का उद्देश्य था सत्यं, शिवं, सुन्दरं यानी सत्यता, परोपकारिता और सुन्दरता का सामञ्जस्य। इसी आदर्श के आधार पर जीवन व्यतीत करने के लिये यूनानियों ने मानव समाज को बतलाया है। इसके लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। यूरिपाइडीज का कथन था कि 'गुलाम वही है जो अपना विचार नहीं प्रकट कर सकता है।' यूनानियों ने ही सर्वप्रथम सांसारिक व्यवहारों में स्वतंत्रता का प्रयोग किया है। इसी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये उन्होंने फारस के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। उनकी सारी उन्नति का यही रहस्य था। एथेंस की स्वाधीनता और सोलन की संस्थाओं से हमारे अंतःकरण में स्वच्छन्दता की उन्हीं अनन्त भावनाओं का स्फुरण होता है जिन्हे हम विश्व के प्रत्येक प्रयत्न में—विद्यार्थी के अध्यवसाय, कवि की कल्पना, कलाकार की लालसा तथा व्यवस्थापक के दर्शन में देखते हैं।

पूर्वीय सभ्यताओं में व्यक्तिगत स्वतत्रता का सर्वथा अभाव था। राजा और प्रजा दो वर्ग थे। राजा को सब अधिकार प्राप्त था, प्रजा को कोई अधिकार नहीं था, उसे केवल कर्तव्य ही थे। राज्य का नियम प्रजा के लिये था, राजा उससे ऊपर था। उसकी इच्छा ही नियम था। ५वीं सदी ई० पू० के पहले राजनीति जैसी कोई भद्दी चीज भले हो, वास्तविक अर्थ में राजनीति नहीं थी। राज्य, साम्राज्य, राजा, प्रजा—सब कुछ थे किन्तु राजनीति शास्त्र और विधान नाम की कोई चीज नहीं थी क्योंकि वहाँ सार्वजनिक स्वार्थ नहीं थे। शासक और उससे सम्बन्धित लोगों के केवल व्यक्तिगत स्वार्थ थे। राज्य के अंदर जो कुछ होता था वह शासक की इच्छा और शक्ति का द्योतक था। ऐसी स्थिति में सामान्य लोगों की क्या दशा होगी—आज अच्छी तरह अनुमान किया जा सकता है। ठीक 'नीम हकीम खतरे जान' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

यूनान ने उनकी सुरक्षा के लिये रामबाण औषधि बतलाई। उसने व्यक्तिगत स्वार्थ के सिवा सार्वजनिक स्वार्थों को स्वीकार किया और इन्हें ही महत्वपूर्ण बतलाया। उनके प्रबन्ध के लिये प्रजातंत्र प्रणाली स्थापित की, उनकी रक्षा के लिये विधान और उनके अध्ययन के लिये राजनीति शास्त्र का निर्माण किया। इस तरह "यूनानियों ने ही सर्वप्रथम सर्वसाधारण को मिथ्याचिकित्सकों (नीम हकीम) के हाथ से लेकर कुशल चिकित्सकों के हाथ में सौंप दिया।"[1] यही यूनानी सभ्यता को मानव समाज को सबसे बड़ी देन है।

———

[1]प्रो० जिमर्न

अध्याय १३

भूमध्यसागरीय सभ्यता—विश्व-राज्य का उदय

(क) महान् सिकन्दर

परिचय

फिलिप के मरने के बाद ३३६ ई० पू० में उसका पुत्र सिकन्दर मकदूनिया का सम्राट हुआ। उस समय उसकी अवस्था २० वर्ष की थी किन्तु उसमें होनहार राजकुमार के सभी लक्षण दीख पड़ते थे। उसमें धैर्य और उत्साह कूट-कूट कर भरा था। अरस्तू फिलिप का मित्र था और उसी की देख-रेख में सिकन्दर ने दीर्घ काल तक शिक्षा प्राप्त की थी। उसे विश्व-विजय करने की कामना थी और इसके लिये फिलिप ने मार्ग सरल कर दिया था। वह एक सुसंगठित सेना और साम्राज्य अपने पीछे छोड़ गया था। कोरोनिया के युद्ध में सिकन्दर अश्वसेना का नायक रह चुका था। उसके सम्राट होते ही थीब्स निवासियों ने विद्रोह कर डाला लेकिन सिकन्दर ने विद्रोह को दबाकर नगर को मटियामेट कर डाला।

साम्राज्य-विस्तार

३३४ ई० पू० में ३५ हजार सेना लेकर सिकन्दर विश्व विजय करने के लिये चला और ११ वर्षों में उसने अद्भुत सफलता प्राप्त की। हेलेसपोंट को पार करके वह एशियाई कोचक में घुस गया और फारस के अधीनस्थ राज्यों को हराकर वहाँ अपना अधिकार स्थापित किया। सीरिया की ओर बढ़ने पर इसस के मैदान में फारस के सम्राट दारा तृतीय से मुठ-भेड़ हुई। उसकी शक्ति को देखकर दारा ने सन्धि करनी चाही किन्तु सिकन्दर जवानी और विजय के उत्साह की घड़ी में अपने निश्चित उद्देश्य से कब मुख मोड़ने वाला था। वह दारा के प्रस्ताव को ठुकरा कर आगे बढ़ा। फिनीशिया के बन्दरगाहों को अधिकृत किया

चित्र ४०—सिकन्दर

क्योंकि फारस वाले अपने शत्रुओं से लड़ने में इन बन्दरगाहों का भी उपयोग करते थे।
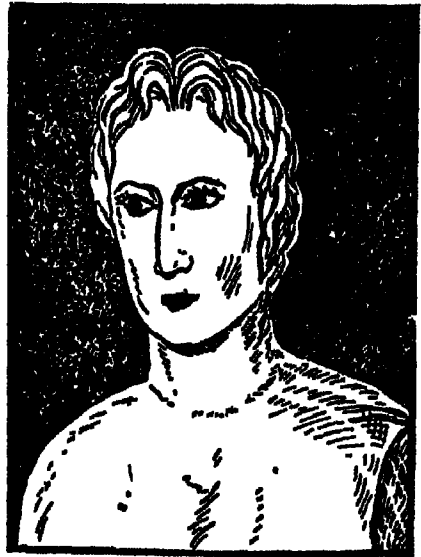
तत्पश्चात् उसने मिश्र पर धावा बोल अपना आधिपत्य स्थापित किया और नील नदी के मुहाने के समीप सिकन्दरिया नामक नगर की नींव डाली।

मिश्र के बाद सीरिया होता हुआ वह बेबीलोन पहुँचा और उसे हड़प लिया। आगे बढ़ने पर दजला के तट पर निनवे के समीप आर्बेला में दारा के साथ पुनः मुठ-भेड़ हुई। दारा की सेना यूनानी सेना से कई गुनी अधिक थी किन्तु विजय-श्री सिकन्दर को ही प्राप्त हुई। फारस की राजधानी सूसा और पर्सीपोलिस तथा अन्य नगरों पर सिकन्दर का अधिकार हो गया और यूनानियों के बहुत सा बहुमूल्य धन हाथ लगा।
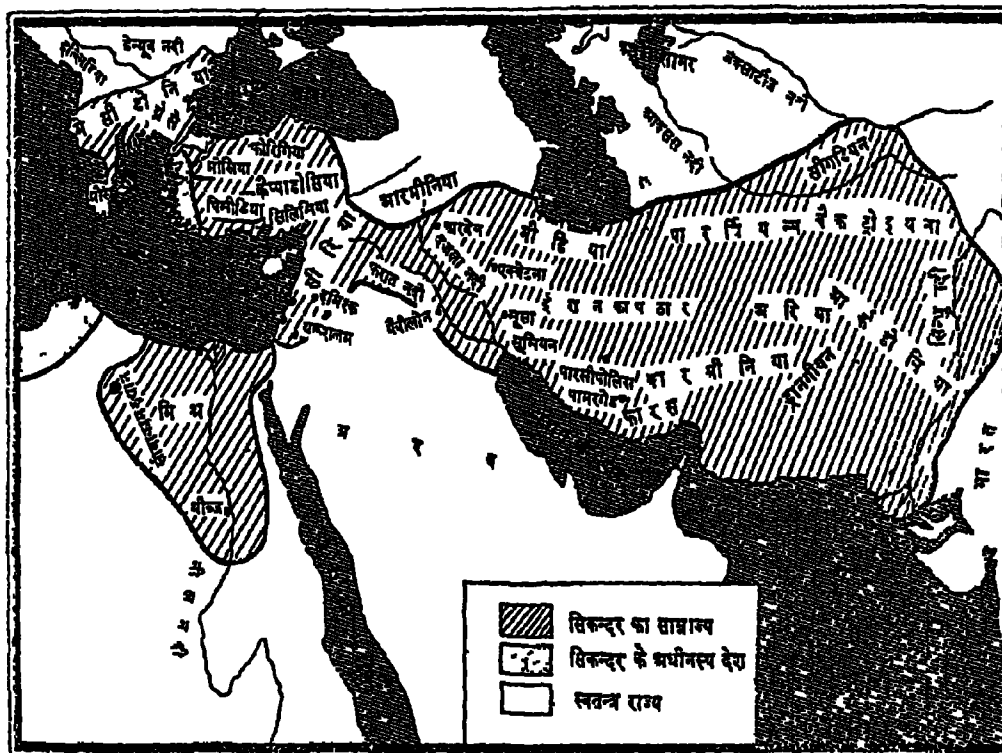
चित्र ४१

इसके बाद वह पार्थिया होता हुआ भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर पहुँचा और पोरस को हराकर पंजाब अधिकृत किया। वह आगे प्रवेश करना चाहता ही था कि उसकी सेना ने आगे बढ़ना अस्वीकार कर दिया। अतः लाचार होकर वह सिन्ध नदी होता हुआ उसके डेल्टा तक पहुँचा और वहाँ से जमीन के रास्ते से सूसा होता हुआ बेबीलोन पहुँचा। सूसा में इटली, कार्थेज और पश्चिमी यूरोप के राजदूतों ने उसका स्वागत किया था।

बेबीलोन में वह बीमार पड़ा और ३२३ ई० पू० में ३२ वर्ष की अवस्था में इस होनहार विजेता की जीवन-लीला का अन्त हो गया। उसके विश्व-विजय के स्वप्न अधूरे रह गये। क्रूर काल के सामने किसी का भी वश नहीं चलता।

विश्व-इतिहास में सिकन्दर का स्थान

उसकी महत्ता

विश्व के इतिहास में सिकन्दर का एक महत्वपूर्ण स्थान है। उसे महान् की उपाधि से विभूषित किया गया है। एक तरह से यह उपाधि उचित और उपयुक्त है। वह एक वीर और विजयी सैनिक तो था ही, किन्तु एक बर्बर सैनिक के जैसी उसकी नीति केवल ध्वंसात्मक नहीं थी। वह एक कुशल राजनीतिज्ञ तथा सभ्यता एवं संस्कृति का पोषक था। अतः राजनीतिक पतन के बाद भी यूनानी सभ्यता तथा संस्कृति जीवित रह सकी। वह विद्वानों और लेखकों का आदर करता था। थीब्स के ध्वंस होने के समय उसने कवि पिन्डर के घर को बचा लेने की आज्ञा दी थी। वह एशियाई देशों से विविध प्रकार की नवीन चीजों के नमूने अपने गुरु अरस्तू के पास अध्ययनार्थ नियमित रूप से भेजता था। उसने नील नदी की बाढ़-समस्या हल करने के लिये कुछ विशेषज्ञों को नियुक्त किया था। उसकी भूमि विजय तथा सामुद्रिक यात्राओं से भूगोल, विज्ञान तथा ज्योतिष शास्त्रों के विकास में बहुत प्रोत्साहन मिला।

सिकन्दर एक विश्व-राज्य कायम करना चाहता था जिसमें यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति की प्रधानता होती। वह मानव जाति की एकता के विचार का जन्मदाता था। यह सराहनीय विचार था। वह यत्र-तत्र नगरों को कायम करता था और उसकी सेनाओं की प्रगति के साथ यूनानी सभ्यता का भी प्रचार होता था। उसने ऐसे नगरों को स्थापित किया था जो यूनानी सभ्यता के स्तम्भ स्वरूप थे। साथ ही ये एशिया तथा यूरोप, पूरब तथा पश्चिम को मिलानेवाले पुल भी थे। इन नगरों में पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों सभ्यताओं का सम्मेलन होता था। उसके व्यापक दृष्टिकोण का इसी से पता चल जाता है कि वह अपने सैनिकों का एशियाटिक देशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगा था। ऐसा करनेवाला वह प्रथम यूरोपियन था। एशिया के युवकों को समानता के ही आधार पर अपनी सेना में भी भर्ती करता था और यूनानी सभ्यता में रंगे हुए ३०,००० एशियाटिक उसकी सेना में काम करने के लिये प्रस्तुत थे। इस प्रकार विजेता के सिवा वह एक प्रचारक भी था लेकिन संकीर्णता तथा कट्टरता से मुक्त था।

उसकी अपूर्णता

परन्तु उसमें कुछ बहुत बड़ी त्रुटियाँ भी थीं जो उसकी महानता में कमी लाती हैं। वह एक तूफान के समान राज्यों को जीतता हुआ चला जाता था लेकिन इनका संगठन नहीं करता था। विजित राज्यों की प्रजा के हित के लिये उसने कोई ठोस कार्य नहीं किया और न तो पूर्वी निरंकुश शासन-प्रणाली में कोई परिवर्तन ही। उसमें अहमत्व भावना का प्राबल्य और संयम तथा नम्रता का अभाव था। विजय अभियान ने उसे मदान्ध बना

डाला था। शक्ति और सफलता की वृद्धि के साथ-साथ उसमें तड़क-भड़क की वृद्धि होती गई। उसने फारस के शिष्टाचार और पोशाक की नकल की। वह अपने को देवतुल्य समझकर लोगों से स्तुति कराने लगा। उसने एक आज्ञा निकाली थी कि उसके सामने आने वाले व्यक्ति झुकते हुए पैर छूकर सलाम करें और लोग देवता के समान उसकी उपासना करें। एक बार वह सहारा की मरुभूमि में सीवा नामक स्थान पर घूमने गया था जहाँ आमनरा का एक मन्दिर था। वहाँ के पुरोहित ने उसे आमन-पुत्र कहकर उसकी स्तुति की थी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि उसके मित्र और अनुगामी उससे ईर्ष्या करने लगे और उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे। रहस्य खुल जाने पर इसके मुखियों को वह क्रूर और कठोर दण्ड भी देता था। उसने अरस्तू के भतीजे केलिस्थेनीज को भी फाँसी दे दी थी। इतना ही नहीं! उसने अपने एक शुभचिन्तक और रक्षक क्लीटस की भी हत्या कर डाली थी क्योंकि वह उसकी कृत्रिमता के विरुद्ध हँसी उड़ा रहा था।

फिर भी इन त्रुटियों के होते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि वह कुछ और समय तक जीवित रहता तो विश्व-इतिहास की रूपरेखा भिन्न होती।

सिकन्दर और नेपोलियन

आधुनिक काल में नेपोलियन के साथ उसकी बहुत कुछ समता पाई जाती है। दोनों ही वीर सैनिक थे जिनके हौसले असीम और अनन्त थे। दोनों ही विजय के भूखे थे और विश्व-विजय की कामना रखते थे। शक्ति और सफलता के कारण दोनों ही संदेश-वाहक भी थे। नेपोलियन फ्रांसीसी क्रान्ति के विचारों—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का और सिकन्दर यूनानी सभ्यता का। दोनों के स्वप्न अधूरे रह गये। नेपोलियन ने अपने साम्राज्य को सुसंगठित करने की चेष्टा की किन्तु असफल रहा। बेचारे सिकन्दर को तो, कम उम्र में मर जाने के कारण अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ।

यूनान का पतन

सिकन्दर के मरने पर उसका साम्राज्य ३ भागों में विभक्त हो गया और एक-एक भाग के अधिकारी उसके सेनापति बन गये। पश्चिमी एशिया में यूफ्रेटस और भूमध्यसागर के बीच का भाग सेल्यूकस के, यूरोप में मकदूनिया तथा ग्रीस अन्टीगोनस के और अफ्रीका में मिश्र टोलमी सोटर के अधीन सौंप दिये गये। साम्राज्य के इन तीनों भागों में परस्पर संघर्ष चलता रहता था और ये एक-एक करके शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के शिकार हो गये। सबसे अन्त में ३० ई० पू० में मिश्र का पतन हुआ।

पारस्परिक संघर्ष तथा रोम की शक्ति के अतिरिक्त यूनानियों के पतन के कुछ अन्य कारण भी थे। उनका ध्यान सांस्कृतिक विकास की ओर विशेष रूप से आकृष्ट था। अतः उन्होंने सैनिक संगठन की उपेक्षा कर दी। कृषि तथा वाणिज्य व्यवसाय का भी समुचित विकास न हुआ जिससे आर्थिक स्थिति बुरी होने लगी। विशेष प्रकार की भौगो-

लिक स्थिति के कारण उनमें पूर्ण राष्ट्रीय एकता का सूत्रपात नहीं हो सका। उनके समाज की कुछ बड़ी त्रुटियाँ थीं। नागरिकता का अधिकार-क्षेत्र बहुत ही संकुचित था। स्त्रियों तथा दासों का स्थान निम्न था और वे शोषण के पात्र थे। सारी बुराइयों को दूर कर एक विशाल राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के लिये मकदूनिया का उत्कर्ष अल्पकालीन सिद्ध हुआ। वीर सिकन्दर के मरने के बाद देश को योग्य नेतृत्व नहीं मिल सका और उसका शीघ्र पतन अनिवार्य हो गया।

(ख) दूर-यूनानी सभ्यता, एवं संस्कृति

पृष्ठभूमि

सिकन्दर की नीति के दो अंग थे—साम्राज्य-विस्तार और सभ्यता-प्रसार। उनके मरने के बाद प्रथम अंग का तो अन्त हो गया लेकिन दूसरा अंग कायम रहा। यह पहले बतलाया जा चुका है कि जिस तरह १९वीं सदी के प्रारम्भ में नेपोलियन ने प्रादेशिक विजय के साथ-साथ फ्रांसीसी क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रचार किया वैसे ही सिकन्दर ने भी भूमि-विजय के साथ-साथ यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का भी प्रचार किया। इस तरह भूमध्यसागर के समीप के पश्चिमी देशों में तीसरी सदी ई० पू० में प्राचीन और यूनानी सभ्यता के सम्मेलन से एक नवीन सभ्यता का उदय हुआ। इसमें यूनानी सभ्यता की ही छाप गहरी थी। इस हेलेनवाद (हेलेनिज्म) के प्रचार को दूर-यूनानी सभ्यता के नाम से पुकारा जाता है। यह सिकन्दर की नैतिक विजय थी जो प्रादेशिक विजय की अपेक्षा अधिक गौरवपूर्ण, स्थायी और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। इस नवीन सभ्यता के ४ प्रमुख केन्द्र थे—एशियाई कोचक, सीरिया, मिश्र तथा रोड्स द्वीप।

इन सभी स्थानों में यूनानी सभ्यता की नकल होने लगी, जैसे आज ब्रिटिश सभ्यता की नकल की जाती है। यूनानी शैली के आधार पर मन्दिर, नाट्यशाला और व्यायाम-शाला का निर्माण और चित्रकला का प्रदर्शन होने लगा। सीरिया और मिश्र तो यूनान के प्रान्त जैसे लगते थे। यूनानी भाषा का इतना प्रचार हो गया कि यह बोल-चाल की भाषा जैसी हो गई। सिकन्दरिया स्थित यहूदियों ने अपने धार्मिक ग्रन्थ 'ओल्ड टेस्टामेंट' का अनुवाद तक इस भाषा में कर दिया। ७० व्यक्तियों के प्रयास से यह अनुवाद हुआ था। अतः यह सेप्टुआजिन्ट कहलाता था।

मिश्र के टालमी

मिश्र सभ्यता के विनिमय का सर्व-प्रमुख केन्द्र था। इसका पुनरुत्थान इसके प्राचीन गौरव की स्मृति दिला रहा था। सोटर ने कुछ समय के बाद अपने को स्वतन्त्र घोषित कर एक नये राजवंश की स्थापना की जिसके शासक टालमी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस वंश में १५ सम्राट हुए जिन्होंने लगभग ३०० वर्षों तक मिश्र में राज्य किया। इनके

शासन काल में कला-कौशल, वाणिज्य-व्यापार और उद्योग-धन्धे के क्षेत्रों में खूब उन्नति हुई। खेती में इतनी वृद्धि हुई कि अन्न की बहुत बचत होने लगी और यह भंडार में एकत्रित किया जाने लगा। लोग जैतून के पौधे लगाने लगे और इसके तेल का विदेशों में निर्यात होने लगा। जगह-जगह पर नहरों तथा बन्दरगाहों का निर्माण हुआ और प्रकाशस्तम्भ लगाया गया। इस उन्नति का सबसे अधिक श्रेय सिकन्दरिया शहर को था। सिकन्दर के बाद के युग में यदि इसे यूनान का एथेन्स कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

व्यापारिक प्रगति

सिकन्दरिया संसार के व्यापार का प्रधान केन्द्र बन गया। इसके एक बन्दरगाह में आयात-निर्यात में खूब वृद्धि हुई। फेरोस नाम का विश्व में सबसे बड़ा ज्योति-स्तम्भ स्थापित था। इसकी ऊँचाई ३७० फीट थी और यह १६ सदियों तक एक रूप से कायम रहा था। १३२६ ई० में यह विनष्ट हुआ।

संसार का प्रथम विश्वविद्यालय

वहाँ एक विख्यात विश्वविद्यालय स्थापित हुआ था। यह विश्व का सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था और इसमें ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा, गणित, विज्ञान आदि अनेक विभाग खोले गये थे। इरेटोस्यनीज, यूक्लिड, आर्किमिडीज और हेरोन जैसे प्रसिद्ध विद्वान् शिक्षक के पद पर आसीन थे। इरेटोस्यनीज भूगोल शास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् था। उसने घोषणा की थी कि यदि अटलांटिक समुद्र से पच्छिम की ओर प्रस्थान किया जाय तो भारतवर्ष अवश्य ही मिल जायगा। इस तरह इसे कोलम्बस का अग्रसूचक कहा जा सकता है। इसी ने पृथ्वी की परिधि का भी पता लगाया। दो जगहों से सूर्य को देख कर इसने बतलाया कि पृथ्वी का प्रसार ३८,००० मील है। सामस द्वीप का एक निवासी, एरिस्टर्कस (२५० ई० पू०) नामक विशेषज्ञ ने भी कई अनुसन्धान किये थे। इसने बतलाया कि सूर्य पृथ्वी से बहुत बड़ा है और पृथ्वी उसके चारों तरफ घूमती है। यूक्लिड (३०० ई० पू०) ने ज्यामिति शास्त्र का विकास किया जिसे आधुनिक काल में भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है। आर्किमिडीज (२८७-२१२ ई० पू०) ने भी बीजगणित और ज्यामिति शास्त्रों के सम्बन्ध में कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी इसने कई आविष्कारों को किया था और हैड्रोस्टेटिक्स का वही जन्मदाता माना जाता है। इसने जहाज चलाने और पत्थर के भारी टुकड़े को उठा फेंकने के लिये कल ढूँढ़ निकाली थी। "विश्व-इतिहास में गणित के क्षेत्र में उसके समान किसी एक व्यक्ति ने सफलता प्राप्त नहीं की है।"[1]

---

[1] टामस हीथ—हिस्ट्री ऑफ ग्रीक मैथेमेटिक्स

यह सिसली द्वीप के सिराकूस नगर का रहनेवाला था। हेरोन (प्रथम सदी) भी एक गणितज्ञ और कुशल इंजीनियर था। इसने सर्वप्रथम भाप के इंजिन की एक योजना बनायी थी। चिकित्सा शास्त्र में भी पूरी प्रगति हुई। मनुष्य-शरीर की रचना जानने के लिये मृतक शरीर की चीर-फाड़ की जाती थी। तरह-तरह के जीवों का अध्ययन होता था। इस क्षेत्र में हिरोफीलस नामक एक विशेषज्ञ था जिसने धमनियों में रक्त-प्रवाह तथा नाड़ी-लक्षण सम्बन्धी आविष्कार किया था। विश्वविद्यालय के ये विद्वान् और शिक्षक टालमियो के आश्रय तथा पुरस्कार द्वारा प्रोत्साहित किये जाते थे। विद्यार्थियों को भी राज्य की ओर से सहायता मिलती थी।

यूनानी जगत् का प्रथम पुस्तकालय

जहाँ ऐसी उच्चकोटि का विश्वविद्यालय था वहाँ का पुस्तकालय कैसा होगा—सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सिकन्दरिया में एक विशाल पुस्तकालय था जो शाही अद्भुतालय (म्यूजियम) में स्थित था। यह यूनानी जगत् का सर्वप्रथम पुस्तकालय था। मिश्र तो पेपिरस का अनन्त भण्डार ही था। इसी पेपिरस पर लिखी हुई हजारों की संख्या में वहाँ पुस्तकें एकत्रित थीं। पुस्तकें विविध विषय के सम्बन्ध की थीं और कुल पुस्तकों की गिनती लाखों की सख्या में हो सकती थी। जो भी विदेशी लेखक यहाँ आते थे वे अपनी कृति पुस्तकालय में समर्पित करते थे। केलीमेकस इसका प्रथम पुस्तकाध्यक्ष था जिसने बड़े-बड़े पेपिरस को काट-छाँट कर किताब के रूप में बनाया था। इसने १२० विभागों में पुस्तकों की सूची भी तैयार की थी। आधुनिक पुस्तकालयों से इसकी दो विशेषताएँ थीं। यह छापेखाना और किताब की दूकान भी था जहाँ प्रकाशन और विक्रय भी होता था। ५० ई० पू० के लगभग यह भव्य पुस्तकालय अग्नि के पेट में स्वाहा हो गया।

यूनानी सहिष्णुता

इस काल में यूनानियों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी व्यापकता और सहिष्णुता थी। एशियायी और यूनानी—दोनों सभ्यताओं में पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगा था। सिकन्दर के ही समय से इसका प्रारम्भ हो गया था। अब यूनानियों में उस पुराने अंधविश्वास तथा अज्ञानता का अभाव था जिसका शिकार सुकरात जैसा महान् दार्शनिक भी हुआ था। उनका विचार-क्षेत्र विस्तृत और दृष्टिकोण व्यापक हो रहा था। देवी-देवताओं के चमत्कार में उनका विश्वास कम हो चला था। कुछ लोग यह प्रचार करने लगे थे कि यह संसार एक विशाल कल के सदृश है और इसका संचालन प्राकृतिक नियमों पर ही निर्भर है। वे अन्य धार्मिक प्रथाओं तथा नवीन विचारधाराओं का दमन नहीं बल्कि स्वागत करने लगे थे। सिकन्दरिया में ओसीरीस और जीयस को एक ही देवता समझा जाने लगा था और यूनानी सहारा स्थित सूर्यदेव (आमनरा) के मन्दिर में भी जाने

लगे थे। इस प्रकार आगे चलकर ईसाई धर्म के भी प्रचार के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया।

चिरकालीन प्रभाव

यह था यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का रहस्यपूर्ण चमत्कार। इसका अन्त भी एक-दो सदियों में ही नहीं हो गया बल्कि यह स्थायी रूप से कायम रहा है। रोम यूनान का राजनीतिक स्वामी था लेकिन यूनान की सभ्यता एवं संस्कृति ने अपने स्वामी को भी पछाड़ डाला। रोम ने यूनान पर राजनीतिक विजय प्राप्त कर वहाँ की भूमि पर अधिकार स्थापित किया जिसका प्रभाव स्वभावतः अस्थायी होता है। यूनान ने रोम पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त कर वहाँ के निवासियों के दिल-दिमाग पर अधिकार जमा लिया जिसका प्रभाव चिरकाल तक रहता है। फिर १५वीं सदी के यूरोप में पुनरुत्थान (रेनॉसेंस) आंदोलन के साथ यूनानी संस्कृति का कायाकल्प हुआ।

अध्याय १४

भूमध्यसागरीय सभ्यता—प्राचीन रोम

रोम के इतिहास का महत्त्व

विश्व के इतिहास में रोम का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके कई कारण हैं। (क) रोम का इतिहास तत्कालीन विश्व का ही इतिहास है। यह प्राचीन तथा अर्वाचीन काल को मिलाने वाला एक सूत्र है। प्राचीन व्यवस्था रोम में विलीन हो गई और उसी से आधुनिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसक्रिय के शब्दों में वह 'एक महान् मध्यस्थ' के रूप में था। "रोम के आधिपत्य की स्थापना के साथ सारा प्राचीन इतिहास उसमें विलीन हो गया और रोम के स्रोत से आधुनिक इतिहास का सूत्रपात होता है।"[1] (ख) यूरोप की आधुनिक राज्य-प्रणाली का आधार रोमन साम्राज्य ही है। रोम ने सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप को अधिकृत कर एक ही प्रकार की राजनीतिक प्रणाली स्थापित की और इस तरह विभिन्न लोगों के बीच एकता का संचार किया। (ग) रोम ने यूनानी सभ्यता की बहुत सी उत्तम चीजें पैतृक धरोहर के रूप में प्राप्त की और उन्हें भावी संतान को प्रदान किया। (घ) रोम के ही द्वारा यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ।

रोम के इतिहास की विशेषता

अन्य देशों के इतिहास की भाँति रोम का इतिहास किसी देश या राष्ट्र का इतिहास नहीं है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, रोम का इतिहास एक नगर-राज्य का इतिहास है, इटली का इतिहास नहीं है। रोम ने ही तो इटली को भी उत्पन्न किया है। यूनान में कई नगर-राज्य थे जो प्रगति के केन्द्र थे किन्तु इटली में केवल रोम ही प्रगति का एक केन्द्र था जिसका सर्वत्र बोलबाला था। प्रारम्भ में रोम एक साधारण ग्राम था जिसका क्षेत्रफल ५ मील से भी कम था। तत्पश्चात् यह एक नगर-राज्य बना, नगर-राज्य से एक देश और एक देश से एक विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ।

भौगोलिक स्थिति

इटली एक प्रायद्वीप है जो यूरोप के दक्षिण मध्य भाग में स्थित है। इसी देश की राजधानी रोम है। समुद्र से लगभग १२ मील दूर यह टायबर नदी के किनारे स्थित था। इसके समीप ही पर्वतश्रेणियाँ भी थीं। इटली के उत्तर में आल्प्स पहाड़ है। कृषि के उपयुक्त हरे-भरे मैदान भी पाये जाते थे। पर्वतों और समुद्र के कारण बाहरी आक्रमण

---

[1] सैन्डर्सन—वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ० १६५

से रोम की रक्षा होती थी। जल तथा स्थल सेना के विकास में भी सहायता पहुँची। अतः वे स्वभावतः युद्धप्रिय व्यक्ति बन गये थे। इन भौगोलिक विशेषताओं के कारण रोम की प्रगति सहज और स्वाभाविक थी।

भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त रोमनों के उत्थान के कुछ अन्य कारण भी थे। प्राचीन भूमध्यसागरीय शक्तियों तथा यूनानियों के पतन के कारण रोमनों के उत्थान के लिये मार्ग प्रशस्त हो गया था। उनमें राजनीतिक एकता की भावना वर्तमान थी और प्रजातंत्र की स्थापना से उनकी उन्नति का द्वार ही खुल गया। रोमवासियों का चरित्र उच्च था और उन्होंने सेना तथा साम्राज्य के कुछ विख्यात महारथियों को उत्पन्न किया। विजित देशों में दण्ड तथा भेद उनकी प्रधान नीतियाँ थीं। रोम की अपूर्व उन्नति में उसके पड़ोसी एट्रुरिया का भी कम सहयोग नहीं था। यह रोम के उत्तर-पश्चिम में स्थित था और यहाँ के निवासी १,००० ई० पू० के लगभग एशियाई कोचक से आकर बसे थे। अपनी आदि भूमि के सिवा भूमध्यसागर स्थित यूनानी उपनिवेशों के साथ इनका सम्बन्ध था और ये लोग रोमवासियों से अधिक सभ्य थे। अतः रोमवासियों ने एट्रुरियनों से सभ्यता की बहुत-सी बातें सीखीं जैसे लेखनकला, सैन्यसंचालन, व्यूहप्रथा आदि। उन्होंने यूनानियों से भी बहुत कुछ ग्रहण किया था।

प्रारम्भिक इतिहास

रोमनिवासी भी आर्य जाति के थे। वे लोग आर्य जाति की उसी शाखा के थे जिस शाखा के यूनानी लोग थे। १५०० ई० पू० के लगभग उनका इटली में प्रवेश हुआ। लेकिन एक सहस्र वर्ष तक उनका सितारा नहीं चमका और वे अपने दिन काटते रहे। प्राचीन दन्तकथा के अनुसार ७५३ ई० पू० में रोमोलस और रेमस नाम के दो व्यक्तियों ने रोम की स्थापना की और राजतंत्र प्रणाली की नींव दी। यह राजतंत्र लगभग ढाई सौ वर्षों तक कायम रहा और इतने समय में ७ राजाओं ने राज्य किया। इस काल में शासन और सेना का संगठन किया गया। जातीय भिन्नता दूर की गई और रोम की सीमा का विस्तार हुआ। लेकिन सभ्यता के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। लोग अधिकतर खेती करते और पशु चराते थे। उद्योग-धंधे, कला-कौशल, शिक्षा-साहित्य के क्षेत्रों में उन्नति नाममात्र या नहीं के बराबर थी। व्यापार कुछ होता था लेकिन कोई सिक्के का व्यवहार नहीं था। पशुओं के माध्यम से ही खरीद-बिक्री होती थी। अंतिम राजा तारकीनस सुपर्बस अत्याचारी था। अतः रोमनिवासियों ने ५०६ ई० पू० में उसे गद्दी से उतार दिया और प्रजातंत्र की स्थापना की। अब रोम की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। अब प्रजातंत्र राज्य की विभिन्न व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करना चाहिये।

राजनीतिक व्यवस्था

स्पार्टा के समान रोम ने दो व्यक्तियों को साथ ही शासक बनाया जो कौंसल कहे जाते थे। दोनों के अधिकार समान थे और १ वर्ष के लिये वे चुने जाते थे। उनके साथ १२ अंगरक्षक रहते थे जो कहीं भी डंडे लेकर चलते थे। ये डण्डे 'फासेज' कहे जाते और सत्ता एवं शक्ति के प्रतीक स्वरूप थे। कौंसलों के अधिकार विस्तृत थे। वे ही खजाची, सेनापति, न्यायपति सब कुछ होते थे। कालान्तर में खजाञ्ची का काम उनसे लेकर नये कर्मचारियों को सौंप दिया गया जो क्वीस्टर कहलाते थे। सेन्सर नाम के इनके दो सहायक भी होते थे जो कर निर्धारित करते और नागरिकों की सूची तैयार करते थे। कौंसलों के कार्य की देखभाल करने और उनकी स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिये निरीक्षक नियुक्त किये जाते थे जो ट्रिब्यून कहलाते थे।

विशेष परिस्थिति या संकट के समय अधिनायक (डिक्टेटर) की नियुक्ति होती थी। छः महीने तक शासन का वही सर्वेसर्वा रहता था और सर्वत्र उसकी तूती बोलती थी। अतः युद्ध जैसे संकटकाल में उसका महत्व विशेष रूप से रहता था।

कौंसलों की सहायता करने के लिये दो सभाएँ होती थीं। असेम्बली जिसमें सर्वसाधारण के निर्वाचित प्रतिनिधि बैठते थे और सीनेट जिसमें उच्च वंश या धनी वर्ग का प्रतिनिधित्व होता था। आधुनिक प्रणाली के प्रतिकूल असेम्बली की अपेक्षा सीनेट का अधिकार अधिक था। यही सर्वशक्तिशाली संस्था थी जिसकी स्वीकृति किसी भी कानून या नियुक्ति के लिये आवश्यक था।

सामजिक व्यवस्था

यूनानियों की भाँति रोमनिवासी भी आर्य थे और हिंद-आर्य तथा फारसवासी के ही घराने के ये लोग भी थे। इन लोगों का प्रधान पेशा कृषि करना था और इनका वैभव पशु तथा जानवर था। प्रत्येक परिवार का एक पुरुष प्रधान होता था जो उम्र में अन्य सभी सदस्यों से बड़ा होता था। समाज दो भागों में विभक्त था। पहला भाग जिसमें उच्च श्रेणी के लोग थे पैट्रीशियन तथा दूसरा भाग जिसमें साधारण श्रेणी के लोग थे प्लेबियन कहा जाता था। पैट्रीशियन वर्ग में कुलीन और धनीमानी व्यक्ति थे; प्लेबियन वर्ग में कृषक और मजदूर थे। यद्यपि प्लेबियन वर्ग के लोग गुलाम वर्ग के समान नहीं थे फिर भी पैट्रीशियन वर्ग की तुलना में इसकी गिनती निम्न श्रेणी में होती थी और इसका अधिकार बहुत ही थोड़ा, नाममात्र का था। इस वर्ग के लोग सभी विशेषाधिकारों से वंचित थे। वे न तो सिनेट के सदस्य हो सकते थे और न किसी उच्च पद पर ही नियुक्त किये जा सकते थे।

लेकिन भारतवर्ष जैसी इन दो वर्गों के बीच अभेद्य दीवार नहीं थी। एक से दूसरे में जाना सम्भव था। कालगति के साथ प्लेबियन वर्ग के लोग विषमता को दूर

करने के लिये शोरगुल करने लगे। ४६१ और ४५१ ई० पू० में उन्होंने रोम छोड़ देने तक की धमकी दी। अतः पैट्रीशियनों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और प्लेबियनों को सुविधायें दी जाने लगीं। ४५० ई० पू० में '१२ टेबुल' के नाम से कानूनों को प्रकाशित कर दिया गया और दोनों वर्गों के बीच समानता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। ३६७ ई० पू० तक इन्हें महत्वपूर्ण अधिकार मिल गये। उनकी रक्षा के लिये ट्रिब्यून खास तौर से उत्तरदायी हुए; दो कौंसलों में से एक कौंसल उनके बीच से नियुक्त होने लगे और यहाँ तक कि वे उच्च वर्ग के परिवारों में वैवाहिक सम्बन्ध भी करने लगे।

धार्मिक व्यवस्था

अन्य कई प्राचीन जातियों की भाँति रोमवासी भी बहु-देवपूजक थे। प्रत्येक परिवार में कुलदेवता होते थे और वयोवृद्ध के नेतृत्व में सभी सदस्य उनकी उपासना करते थे। यह उपासना मन्दिर में की जाती थी जहाँ कुलदेवता की मूर्ति स्थापित की हुई रहत थी। प्रत्येक परिवार में कुलदेवता की उपासना तो होती ही थी, चीन की तरह पूर्वजों की भी पूजा होती थी और इनकी पूजा के लिये भी हर गृह में वेदियाँ बनी हुई होती थीं। कुलदेवता तथा पूर्वजों के सिवा राष्ट्रीय देवता की भी पूजा होती थी। यूनानी जीयस के समान जूपिटर रोमवासियों के सबसे महान् देवता थे। इसके बाद मार्स तथा जेनस नाम के दो युद्धदेव थे। जूनो नामक प्रसिद्ध देवी थी जिसे स्त्रियाँ अधिकतर पूजती थीं।

विजय की प्रगति

आन्तरिक संगठन करने के पश्चात् प्रजातंत्र ने राज्य-विस्तार की नीति अपनायी। इटली के अंदर एट्रस्कन तथा लैटिन शाखा के लोगों का सामना करना था और बाहर इटली के दक्षिण यूनानियों तथा कार्थेज के फिनीशियों का। रोमनों ने एट्रूरिया पर आक्रमण कर दिया और १० वर्ष घेरे रहने के बाद उसे अपने अधिकार में कर लिया। लैटिन शाखाओं के लोगों को जीतना आसान नहीं था। प्रारम्भ में इनके साथ समानता का व्यवहार होता था क्योंकि रोमनों के साथ जातीय एकता थी। लेकिन शक्ति की वृद्धि के साथ रोमन इन्हें हेय समझने लगे। अतः ये लोग अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये विद्रोह करने लगे और रोमनों के शत्रुओं, एट्रस्कन, गौल, सेमनाईट से गठ-बंधन जोड़ने लगे। इसके फलस्वरूप आधी सदी तक (३४०-२६० ई० पू०) युद्ध होता रहा और रोमनों ने अपने शत्रुओं को बुरी तरह पराजित कर दिया। इसी समय रोम में राजधानी स्थापित की गई। विजित प्रदेशों में रोमन अपना उपनिवेश स्थापित करते थे और भिन्न-भिन्न निवासियों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार करते थे। लेकिन इटालियनों

को अन्य जातियों की अपेक्षा कुछ विशेष अधिकार प्राप्त था। उन्हें आन्तरिक मामलों में स्वतंत्रता थी परंतु सभी राज्यों के धन तथा सैनिक रोम के चरणों पर अर्पित थे।

अब इटली के सभी राज्यों पर अधिकार स्थापित कर रोमवासी आगे बढ़े। २८० ई० पू० में ट्रेंटम के यूनानियों ने एपिरस के शासक और सिकन्दर के सम्बन्धी पिरस को रोमनों से रक्षा करने से लिये बुलाया। पिरस बड़ा ही योग्य सेनापति था। उसने एक विशाल सेना के साथ इटली में प्रवेश किया और रोम के समीप आ धमका। रोमवासियों ने दो बार उसका सामना किया लेकिन दोनों ही बार पराजित हुए। इसके बाद रोमनों को कार्थेज की सहायता मिलने लगी और इस तरह अंत में वे पिरस को भगाने में सफल हुए। २७५ ई० पू० में इस संघर्ष की समाप्ति हुई और यूनानियों ने रोम का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

रोम और कार्थेज

अब कार्थेज की बारी आई। यह अफ्रीका के उत्तरी तट पर फिनीशिया के द्वारा स्थापित एक उपनिवेश था। इसके गौरवमय वैभव की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। भूमध्यसागर के पश्चिमी हिस्से पर इसी का बोलबाला था। दूसरी ओर रोम की शक्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही थी। वह नवीन उत्साह एवं आशा से ओत-प्रोत था और उसमें साम्राज्य-विस्तार की उत्कट अभिलाषा थी। वह भूमध्यसागर पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये उतावला हो रहा था। यह ध्रुव सत्य था कि भूमध्यसागर में किसी एक ही शक्ति का प्रभाव रह सकता था क्योंकि यह एक संकीर्ण और संकुचित समुद्र था। यह भी तो नियम है कि एक म्यान में दो तलवारें या एक राज्य में दो समकक्ष राजा नहीं रह सकते। इस प्रकार रोम तथा कार्थेज के पारस्परिक स्वार्थों में संघर्ष उत्पन्न हो गया।

इसके सिवा रोम को अपनी सुरक्षा के लिये भी भय तथा शंका बनी रहती थी। यह उचित भी था क्योंकि कार्थेज एक शक्तिशाली राज्य था और रोम के साथ उसका किसी प्रकार की जातीयता या सांस्कृतिक सम्बन्ध भी नहीं था।

उपर्युक्त कारणों से रोम और कार्थेज के बीच शक्ति की जाँच अनिवार्य हो गयी। २६४ ई० पू० में दोनो में युद्ध का श्रीगणेश हो गया। यह लगभग १२० वर्ष तक (२६४-१४६ ई० पू०) चलता रहा। यह इतिहास में प्यूनिक युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी तीन अवस्थाएँ हैं :—(क) २६४-२४१ ई० पू० (ख) २१६-२०२ ई० पू० और (ग) १४६-१४६ ई० पू०। तीनों अवस्थाओं में जल तथा स्थल पर अनेकों युद्ध हुए, हजारों व्यक्तियों की जानें गईं। प्रथम अवस्था में २६० ई० पू० में मायली का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था जिसमें कार्थेज की पराजय हुई थी। अन्य युद्ध भी हुए। अन्त में २४१ ई० पू० में युद्ध बन्द हुआ और रोम ने सिसली को अपने अधिकार में कर लिया।

लेकिन कार्थेज वाले चुप बैठनेवाले नहीं थे। २१६ ई० पू० में फिर युद्ध शुरू हो गया। इस द्वितीय युद्धकाल में हेनीबल नाम के सेनापति की यश-सुरभि का संसार में प्रसार हुआ।

हेनीबल विश्व के अग्रगण्य सेनानायकों में से एक है। वह महान् सिकंदर और नेपोलियन बोनापार्ट के समान एक वीर और साहसी योद्धा था। २४७ ई० पू० में उसका जन्म हुआ था। उसके पिता का नाम हेमिलकार बार्कस था जो कार्थेज का सुयोग्य सेनापति था। उसने अपने पुत्र को भी युद्ध सम्बंधी शिक्षा दी। २२६ ई० पू० में १८ वर्ष की उम्र में वह कार्थेज का सेनाध्यक्ष नियुक्त हुआ। रोम के विरुद्ध युद्ध में उसने अपनी अपूर्व वीरता का परिचय दिया। उसने एक लाख सेना के साथ स्पेन और फ्रांस होते हुए आल्प्स पर्वत को पार कर इटली में प्रवेश किया। उसके इस कार्य से इटलीनिवासी बड़े ही अचम्भित हुए। २१६ ई० पू० में कैनी के युद्ध में रोमवासी बुरी तरह पराजित हुए। तत्पश्चात् और भी कई युद्ध हुए जिनमें रोमनों को ही मुँह की खानी पड़ी। लेकिन युद्ध का अन्तिम परिणाम उनके ही पक्ष में हुआ। २०२ ई० पू० में ज़ामा के युद्ध में हेनीबल पराजित हुआ। उसकी अजेयता का गर्व चूर-चूर हो गया। कार्थेज ने आत्मसमर्पण कर दिया। हेनीबल देश-निर्वासित हुआ। स्पेन, भूमध्यसागर के सभी द्वीप और जहाज रोम को सौंप दिये गये। रोम को वार्षिक कर देने और उसकी स्वीकृति के बिना कोई युद्ध न करने के लिये निश्चय हुआ। इस अपमानजनक सन्धि से हेनीबल को बड़ा दुःख हुआ। वह एशियाई कोचक में रहता था। वहीं उसने आत्महत्या कर ली।

लेकिन रोमावसी इतने ही से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हें तो कार्थेज को केवल निःशक्त करना नहीं था बल्कि उसके अस्तित्व को भी मिटा देना था। अतः उन्होंने कार्थेज पर चढ़ाई करने के लिये न्यू मिडीयनों को प्रोत्साहित किया। जब कार्थेज उनका सामना करने लगा तो रोमवासियों ने सन्धि तोड़ने का उस पर दोषारोपण लगा कर तीसरी बार युद्ध आरम्भ कर दिया। इस बार उन्होंने अपनी अमानुषिकता और बर्बर व्यवहार का परिचय दिया। सीपियो नामक कौंसल प्रधान सेनानायक था। कार्थेज नगर भस्मीभूत कर मटियामेट कर डाला गया और निवासियों को गुलाम बना दिया गया। वह कार्थेज जो फिनीशिया की सभ्यता का सुयोग्य उत्तराधिकारी था और जिसका भूमध्यसागर में ५ सौ वर्षों तक बोलबाला था, रोमवासियों के हाथ, भूगर्भ में विलीन कर दिया गया।

इस युद्ध के परिणामस्वरूप रोम की शक्ति बहुत बढ़ गई। भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग पर उसका एकाधिकार स्थापित हो गया। सिसली, सार्डीनिया, कौर्सिका, स्पेन और अफ्रीका का उत्तरी भाग रोमन साम्राज्य के अंग बन गये। लेकिन साथ ही, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा, प्रजातंत्र के पतन का भी बीजारोपण हो गया।

साम्राज्य का विस्तार

जब कार्थेज के साथ युद्ध चल रहा था उसी समय पूरब में भी रोमन साम्राज्य का विस्तार हुआ। मेसीडन के सम्राट् फिलिप द्वितीय ने हेनीबल की सहायता की थी। अतः मेसीडन पर आक्रमण कर उसे साम्राज्य में मिला लिया गया। यूनान मेसीडन के ही अधीन था। अतः यह भी साम्राज्य का अंग बन गया। सीरिया के सम्राट ने यूनान के युद्ध में भाग लिया था और निर्वासन के समय हेनीबल को अपने राज्य में ठहराया था। अतः उसका भी राज्य छीन लिया गया और एशियाई कोचक पर रोमनों का अधिकार हो गया। क्रीट, साइप्रस और मिश्र भी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। पश्चिम में भी प्यूनिक युद्ध के समय स्पेन तो अधिकृत हो ही चुका था, अब—गॉल में रोमन आधिपत्य स्थापित हुआ और पहली सदी के मध्य में सीजर ने ब्रिटेन पर भी धावा बोल दिया था। इस तरह पहली सदी के प्रारम्भ तक रोमन साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में स्पेन से लेकर पूरब में यूफ्रेट्स नदी तक हो चुका था।
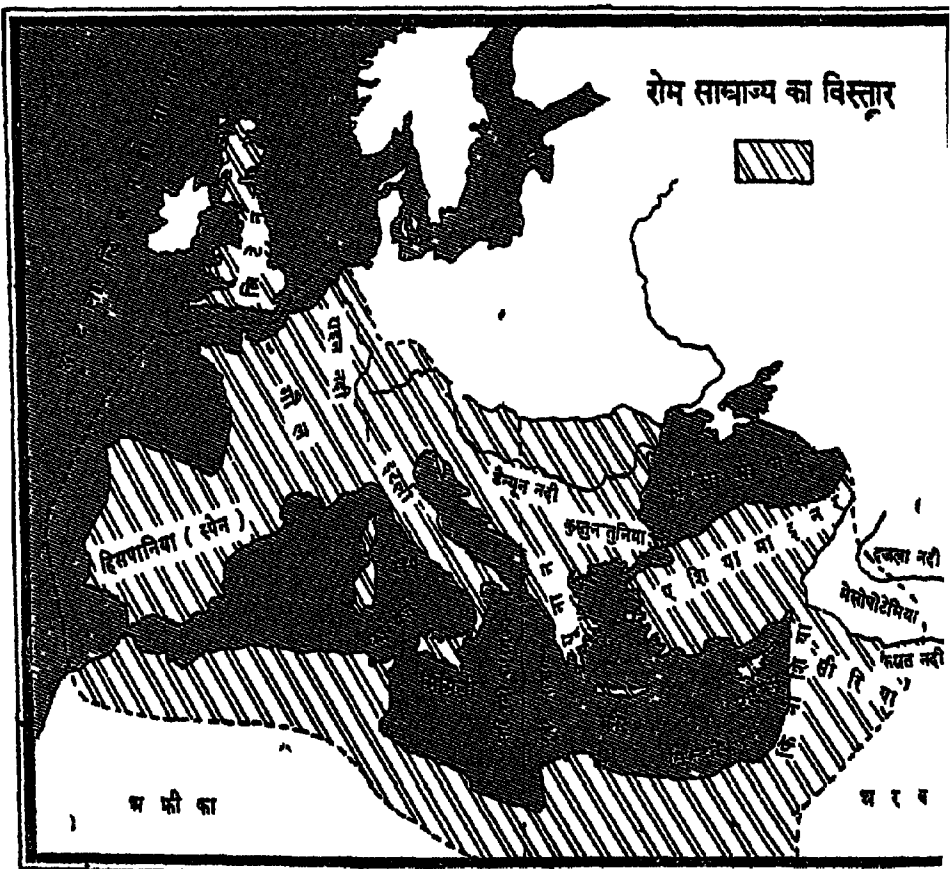
चित्र ४२

रोम की सफलता के कारण

रोम की अपूर्व सफलता के दो प्रधान कारण थे—रोम की सैन्य शक्ति और रोम-वासियों का चरित्र।

रोमनिवासियों ने यूनान से व्यूह-प्रणाली की शिक्षा ग्रहण की थी। यह प्रणाली भूमि पर युद्ध करने के लिये उपयुक्त थी। लेकिन पर्वतों पर युद्ध करने के लिये इस प्रणाली से काम नहीं चलता था। अतः रोमनों ने एक नयी प्रणाली निकाली। सेना को छोटे-छोटे दलों में विभक्त कर दिया गया और एक-एक दल में ५००० के लगभग सैनिक होते थे। इन सैनिकों को समुचित रूप से शिक्षा दी जाती थी। ये समीप या दूर के शत्रु पर सहज ही आक्रमण कर लेते थे और अस्त्र-शस्त्र चलाने में, दौड़ने तथा तैरने में बड़े ही सिद्ध होते थे। इस प्रकार रोमन सेना बड़ी सुसंगठित एवं सुशिक्षित होती थी। यही सेना इतिहास में रोमन लीजियन के नाम से प्रसिद्ध है।

लेकिन सबसे बढ़कर तो था रोमनिवासियों का चरित्र। यूनानियों की भाँति वे स्वतंत्रता के प्रेमी तथा देशभक्त तो थे ही, उनमें कुछ और भी विशेष गुण थे। वे त्याग और बलिदान करने में सतत् आगे रहते थे और उच्चकोटि के दृढ़प्रतिज्ञ तथा कर्त्तव्यपरायण होते थे। उनमें आज्ञापालन तथा अनुशासन की भावना बड़ी ही दृढ़ होती थी और वे आशा, स्फूर्ति तथा उत्साह से ओत-प्रोत थे। चीनियों की भाँति वे अपने श्रेष्ठ और वृद्धजनों का बहुत आदर-सत्कार करते थे।

रोम राजतन्त्र की ओर

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रोम के प्रजातंत्र की विजय के साथ उसके पतन का भी बीजारोपण हो गया। उसके अद्भुत उत्थान में उसके ह्रास का बीज भी छिपा हुआ था। कार्थेज के युद्ध के बाद रोम की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में महान् परिवर्तन हो गया।

रोम पहले एक नगर-राज्य था और उसी के आधार पर वहाँ के विधान का निर्माण हुआ था। किन्तु अब वह एक साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। अतः उसकी राजनीतिक प्रणाली असामयिक हो गई। राज्य में असेम्बली की स्थिति खराब हो गई और इसके अधिकारों की उपेक्षा की जाने लगी। इसके सदस्य अपने कर्त्तव्य को भी भूलने लगे थे और अमीरों के हाथ के खिलौने बन गये। दूसरी ओर सीनेट की शक्ति में बहुत वृद्धि हो गई।

राजनीतिक प्रणाली की भाँति सामाजिक व्यवस्था भी असामयिक हो गई थी। धनी, अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे थे। धनी विलासमय जीवन व्यतीत करते थे और गरीब भूखों मरते थे या धनियों का मुँह ताकते थे। दीर्घकालीन युद्ध के कारण सर्वसाधारण की स्थिति दिनोंदिन खराब होती जा रही थी। वे भूख तथा

बीमारी के शिकार होने के कारण अनेकों पाप करने के लिये बाध्य हो रहे थे। अमीरों के पास असंख्य दास हो गये थे और मजदूर मारे-मारे फिरते थे। रोम में अनाथों और भिखमंगों की बाढ़ हो गई थी। उनमें से बहुतों को मताधिकार प्राप्त था और इसी लोभ से धनी वर्ग उनकी सहायता किया करता था।

विजय और गर्व के वातावरण में कुछ और सामाजिक प्रथाएँ चल पड़ीं जो बड़ी ही निम्न श्रेणी की थीं। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित दासों और अभियुक्तों का द्वन्द्वयुद्ध कराया जाता था। इसमें भाग लेने वाले अपने जीवन से सदा के लिये हाथ धो बैठते या बुरी तरह घायल हो अपाहिज बन जाते। इसके परिणामस्वरूप बहुत से दासों ने विद्रोह कर डाला जो तीन वर्षों तक (७३-७१ ई० पू०) चलता रहा। किन्तु अधिकारियों ने निर्दयतापूर्वक विद्रोह को कुचल डाला।

धनियों के लिये धन प्राप्त करने का मुख्य साधन प्रान्त था। शासक प्रान्त को मौरूसी जमींदारी समझते थे और वहाँ की जनता का शोषण करते थे। जहाँ-तहाँ रोमन गवर्नर उत्पात मचा रहे थे। सिसली के गवर्नर वर्स का अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। तीन वर्षों में उसने नगर को खूब लूटा और इसे निर्धन तथा निर्जन बना कर ही छोड़ा। उसकी माँगों को अस्वीकार करना मानों अपनी जान से हाथ धो देना था। जब उससे न्यायालय में सजा देने की बात कही गई तो उसने मद से भरे शब्दों में उत्तर दिया कि दो-तिहाई धन खर्च कर वह वकीलों और जजों को प्रभावित कर लेगा और बाकी ⅓ धन जीवननिर्वाह के लिये पर्याप्त होगा। रोम लौटने पर उस पर अभियोग चलाया गया और जुर्माने की सजा मिली। किन्तु उसने भाग कर अपनी जान बचाई। फिर भी ४३६ ई० पू० में मार्क एन्टोनी ने उसे प्राणदण्ड दे ही दिया।

राजधानी में भुक्खड़ों और आलसियों का जो दल था उसका भी भरणपोषण प्रान्तीय शोषण के ही आधार पर होता था। राजधानी में सुरक्षा की भावना दृढ़ नहीं थी और रोम नगर की साधारण दशा सन्तोषजनक नहीं थी। अनेक अपराधों का प्राबल्य था।

ऐसे ही दूषित वातावरणों में प्रजातंत्र के दिन लद चुके और राजतंत्र की स्थापना निश्चित् हो गई। कितने ही सेनानायकों का प्रादुर्भाव हुआ जो शक्ति एवं पद के लिये लोलुप थे और झगड़ने लगे। साम्राज्य में अराजकता फैल गई, सर्वत्र आतंक छा गया। सुला तथा मेरियस, पौम्पि तथा जूलियस-सीजर इसी प्रकार के सेनानायक थे। सीजर इन सबों में अधिक शक्तिशाली, योग्य और बुद्धिमान था। अंत में उसी को विजय-श्री प्राप्त हुई।

प्रथा का अन्त ही कर डाला। अपने साम्राज्य को ४ भागों में विभक्त कर दिया। एक भाग को तो सीधे अपने अधीन रखा और अन्य ३ भागों को ३ पृथक् शासकों के हाथ में सौंप दिये। इससे साम्राज्य में सुव्यवस्था तो स्थापित हुई लेकिन साथ ही राज्य के व्यय में बहुत वृद्धि हो गई। उसके मरने पर यह सुव्यवस्था भी जाती रही। चारों विभागों के शासक आपस में लड़ने लगे। ३१२ ई० में कौंसटैन्टाइन पश्चिमी साम्राज्य का सम्राट हुआ। वह बड़ा ही योग्य व्यक्ति था। उसने ११ वर्ष के बाद सम्पूर्ण साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित किया और १४ वर्षों तक (३३७ ई०) शासन करता रहा। उसने पूर्ण केन्द्रीयकरण स्थापित किया। साम्राज्य को ११६ प्रान्तों में बाँट दिया गया और इनके शासक सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे। सभी अफसरों की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था। उसने रोम के बदले बिजन्टियम में अपनी राजधानी स्थापित की। सम्राट के नाम पर कौंसटैन्टिनोपुल इसका नामकरण हुआ। आधुनिक काल में यह कुस्तुनतुनिया के नाम से प्रसिद्ध है। उसने एक और गौरवपूर्ण कार्य किया। अब तक रोम-सम्राट ईसाई धर्म के शत्रु थे और वे ईसाइयों के साथ क्रूर वर्ताव करते थे। लेकिन कौंसटैन्टाइन ने ईसाई धर्म को राज्य-धर्म घोषित कर अन्याय और अत्याचार का अन्त कर डाला। इतिहास में उसे प्रथम ईसाई सम्राट होने का गौरव प्राप्त है।

अबतक जितने सम्राटों की चर्चा की गई उनमें आगस्टस, ट्रेजन, हेड्रियन, पायस, औरेलियस, डायोक्लेशियन और कौंसटैन्टाइन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सम्राटों का काल रोम के इतिहास में बड़ा ही गौरवपूर्ण है। पहली और दूसरी सदी में सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में विशेष रूप से विकास हुआ। केवल विकास ही नहीं हुआ, उनका प्रचार भी हुआ। साम्राज्य-विस्तार और उसका संगठन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी, वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति हुई, यूनानी सभ्यता की रक्षा हुई, और पश्चिमी यूरोप के लोगों को सभ्यता की प्रकाश-किरण प्राप्त हुई। प्रजा के हित में अनेकों उपयोगी कार्य किये गये।

साम्राज्य का विभाजन एवं पतन

लगभग ६० वर्ष तक रोम साम्राज्य की राजधानी बिजन्टियम रही। ३९५ ई० में थ्योडोशियस नाम के सम्राट् ने साम्राज्य को दो भागों में बाँट दिया—पूर्वी भाग जिसमें एड्रियाटिक सागर के पूरब यूनान, एशियाई कोचक और उत्तरी अफ्रीका शामिल थे और पश्चिमी भाग जिसमें इटली, गॉल, स्पेन तथा ब्रिटेन शामिल थे। पूर्वी भाग की राज-धानी कौंसटैन्टिनोपुल थी और यह सम्राट के बड़े पुत्र को सौंपा गया। इसे बिजेन्टियम साम्राज्य भी कहते हैं। पश्चिमी भाग की राजधानी रोम थी और यह उसके छोटे पुत्र के अधीन रहा।

पश्चिमी साम्राज्य पर बर्बर जर्मन जातियों का बराबर आक्रमण होता रहा। ४७६

ई० में इन जातियों ने रोम पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पूर्वी रोमन साम्राज्य १४५३ ई० तक कायम रहा।

पूर्वी रोमन साम्राज्य—जस्टीनियन

पूर्वी रोमन साम्राज्य में जस्टीनियन नाम का एक सम्राट बड़ा ही प्रसिद्ध हुआ। उसने ३७ वर्ष तक, (५२७-५६५ ई०) राज्य किया था। इतिहास में वह एक कुशल विधान-निर्माता के रूप में स्मरणीय है। उसने बिखरे हुए कानूनों का संग्रह कर एक महान् वैधानिक ग्रन्थ तैयार किया जो आगे की पीढ़ियों के लिये एक आदर्श रहा। उसने जर्मनों को पराजित किया और उनसे राज्य का बहुत सा हिस्सा भी प्राप्त कर लिया था। उसने उत्तरी अफ्रीका को वांडाल के और इटली तथा दक्षिणी स्पेन को गार्थों के चंगुल से मुक्त किया। वह विद्या-प्रचार भी करना चाहता था। उसने एक विश्वविद्यालय कायम किया। किन्तु यहाँ उसने अपनी संकीर्णता का भी परिचय दिया। अपने विश्वविद्यालय की उन्नति के लिये उसने एथेन्स के प्राचीन विद्यालय को जो शिक्षा और विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका था, बन्द कर दिया। उसने अपनी राजधानी में संत सोफिया के प्रसिद्ध गिरजाघर का भी निर्माण कराया। किन्तु उसके मरते ही अधिकाश गौरव जाता रहा।

जस्टीनियन के मरने के ३०० वर्ष बाद पूर्वी साम्राज्य का पुनः सितारा चमका। मेसिडन का एक राजवंश लगभग २०० वर्षों तक (८६७-१०५६ ई०) इस साम्राज्य का स्वामी बना रहा। इस वंश के राज्य काल में खूब उत्थान हुआ। साम्राज्य की सीमा का विस्तार हुआ। सायप्रस, क्रीट, बलगेरिया इसमें सम्मिलित कर लिये गये। सभ्यता एवं संस्कृति का भी विकास हुआ। लेकिन समय-समय पर पूर्वी रोमन साम्राज्य को युद्ध में भी भाग लेना पड़ा। ७वीं सदी में ईरानी राज्य के साथ दीर्घकालीन युद्ध हुए। धर्म-युद्ध होने पर पूर्वी साम्राज्य के शासक ने भी उसमें सक्रिय भाग लिया। इन युद्धों के कारण उसकी शक्ति दुर्बल होने लगी थी। १४५३ ई० में तुर्कों ने इस पर आक्रमण कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

पूर्वी रोमन साम्राज्य की महत्ता

जब पश्चिमी रोम साम्राज्य बर्बर जातियों का शिकार हुआ और ४७६ ई० में उसकी नींव उखड़ गई, तब भी पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्षों तक सुदृढ़ कायम रहा। उसकी शक्ति और सत्ता का इसी से परिचय मिल जाता है कि बर्बर जातियों की लोलुप दृष्टि उस पर भी पड़ी किन्तु सफलता नहीं मिली। अरब और तुर्क उसको हड़पना चाहते थे। लेकिन साम्राज्य ने उनका भरपूर सामना किया। इस प्रकार पूर्वी साम्राज्य ने उनका सामना कर यूरोप के नवीन राज्यों की रक्षा की। आगे चलकर ये राज्य स्वयं उनका मुकाबला करने के योग्य बन गये। इस तरह यूनान ने, फारस के विरुद्ध और रोम ने

कार्थेज के विरुद्ध युद्ध कर यूरोप की बड़ी सेवा की, वैसे ही पूर्वी रोमन साम्राज्य ने अरबों तथा तुर्कों का विरोध कर यूरोप की महत्वपूर्ण सेवा की।

विधि—विधान के क्षेत्र में भी पूर्वी रोमन साम्राज्य की अद्भुत देन रही है। जस्टीनियन के विधान-संग्रह के ही आधार पर बाद की पीढ़ियों ने कानून सम्बन्धी ग्रन्थों को रचा है।

रोमन साम्राज्य के पतन के कारण

रोमन साम्राज्य के पतन के कई कारण हैं। जिन बुराइयों ने जनतन्त्र के पतन होने में सहायता की थी, वे तो अभी भी वर्तमान थीं। जैसे, दासों की प्रचुरता और उनकी बेगारी, गरीबों और भुक्खड़ों की राजधानी में भीड़, धनी-गरीब के बीच मतभेद, प्रान्तों की लूट-खसोट आदि। इन सभी बुराइयों के सिवा साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित अन्य कारण थे—

(१) रोमवाले साम्राज्य में एकता स्थापित करने में व्यस्त थे। उद्देश्य की पूर्ति में उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की उपेक्षा की। गेटिल के शब्दों में "यूनानियों ने बिना एकता के लोकतन्त्र की उन्नति की, रोमवालों ने बिना लोकतन्त्र के एकता स्थापित की थी।"

(२) शासन-प्रबन्ध में व्यवस्था को प्रधानता दी गई और नैतिक सिद्धान्तों के प्रचार पर ध्यान नहीं दिया गया। अतः उच्च श्रेणी के लोगों तथा शासनवर्ग में भ्रष्टाचार का समावेश हो गया। इससे उन्होंने सर्वसाधारण की सहानुभूति खो दी। समाज में इस विषम वर्गीकरण के कारण देशभक्ति तथा राष्ट्र की भावनाओं का समुचित विकास नहीं हो सका।

(३) साम्राज्य की आर्थिक उन्नति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। संघ के आन्तरिक मामले में शासन का हस्तक्षेप होने लगा। अतः आर्थिक स्थिति कमजोर पड़ गई और शासन में अनेकों बुराइयाँ आ गईं। जनता करों के बोझ से दबी हुई थी। निर्धनता तथा बेकारी का प्रकोप बढ़ता ही जाता था।

(४) उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं था। अतः अन्त में शक्ति-सिद्धान्त को आश्रय दिया गया और जब शासक की शक्ति का ह्रास होने लगा तो प्रजा को विद्रोह करने का प्रोत्साहन मिलने लगा। गृह-युद्ध होने लगे, आन्तरिक एकता नष्ट होने लगी।

(५) रोम-सम्राज्य का प्रधान आधार-स्तम्भ सेना थी। ऐसा राज्य स्वाभाविक ही टिकाऊ नहीं होता क्योंकि इसे प्रजा की सदेच्छा प्राप्त नहीं होती। दूसरे, सैन्यशक्ति कमजोर होने से आधार-स्तम्भ और भी हिलने-डुलने लगता है। कालान्तर में रोमन सेना की शक्ति भी नष्ट होने लगी थी। सैन्यशक्ति के सिवा साम्राज्य अमीरों की शक्ति पर आधारित था, जनशक्ति पर नहीं जो व्यक्तियों की शक्ति से कई गुना दृढ़ होती है।

(६) साम्राज्य बहुत विशाल हो गया था। इसका उचित प्रबन्ध करना एक समस्या बनती जा रही थी। इसके लिये बहुमुखी प्रतिमा वाले व्यक्ति की आवश्यकता थी। किन्तु उत्तरकालीन शासक तो अधिकतर साधारण योग्यता के थे या बिलकुल अयोग्य। साम्राज्य का दो भागों में विभाजन, राजनीतिक अदूरदर्शिता का द्योतक है। इससे साम्राज्य को शक्ति को छिन्न-भिन्न होने में प्रोत्साहन मिला। उत्तरदायित्व बँट गया और सीमान्त प्रदेशों की रक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हो सका। अतः जब सीमान्त प्रदेश और दूसरे राज्य स्वतन्त्र होने लगे तो रोम की स्थिति बिगड़ने लगी क्योंकि उसके विकास का एक प्रमुख साधन रहा था—अधीनस्थ राज्यों का शोषण।

(७) रोमनों के शासनकाल के अन्त में यूरोप में भयंकर महामारी (प्लेग) का प्रकोप हुआ था जिसमें हजारों व्यक्ति काल के गाल में चले गये।

(८) ईसाई धर्म के अभ्युदय ने साम्राज्य की जड़ खोद डाली। कालक्रम में ईसाई धर्म में भी मतभेद पैदा हो गया और विरोधी दलों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना फैलने लगी जिससे वातावरण विषाक्त होने लगा था।

(९) उपर्युक्त कारणों से राज्य की नींव कमजोर हो गई। वह भीतर से खोखला हो गया। ऐसी ही स्थिति में उत्तर से बर्बर जातियों का आक्रमण हुआ। असन्तुष्ट जनता ने आक्रमणकारियों का स्वागत किया और शासक को सहयोग नहीं दिया। आक्रमणकारी युद्धकला में भी निपुण थे। उनके सामने जीवन-मरण का प्रश्न ही उपस्थित था। अतः वे निर्भय हो जी-जान से लड़ रहे थे।

रोमन सभ्यता एवं संस्कृति

भूमिका

रोमनों और अंगरेजों में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। अंगरेजों के समान रोमन लोग भी वीर, लड़ाकू और कुशल राजनीतिज्ञ होते थे। आधुनिक काल में साम्राज्य-विस्तार और संगठन में अंगरेज अद्वितीय हैं। ब्रिटिश साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था भी स्थापित रही और ऐसे वातावरण में तरह-तरह की प्रगति हुई है। ऐसे ही साम्राज्य-विस्तार तथा संगठन की दृष्टि से प्राचीन काल में रोमनों का कोई समकक्ष नहीं था। फारसवासियों ने भी साम्राज्य-विस्तार तो किया था, किन्तु साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों को संगठित एवं सुव्यवस्थित करने में वे पूरे असफल रहे थे। बृटिश साम्राज्य के समान रोमन साम्राज्य में २०० वर्षों तक शान्ति एवं व्यवस्था एक रूप से बनी रही और विभिन्न क्षेत्रों मे प्रगति हुई थी। केवल रोम तथा इटली में ही प्रगति नहीं हुई, अन्य देशों में भी इसका प्रचार हुआ।

रोम सभ्य तथा असभ्य दोनों प्रकार के देशों के बीच स्थित था। इसके दक्षिण-पूर्व में मिश्र, कार्थेज, यूनान, एशिया माइनर तथा सीरिया जैसे सभ्य देश और उत्तर-

पश्चिम में जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस तथा स्पेन जैसे असभ्य देश स्थित थे। उत्तर-पश्चिम के सभी देशों पर रोमन सभ्यता का प्रभाव पड़ा लेकिन जर्मनी पर कोई असर नहीं पड़ा। इसका कारण था कि जर्मन अभी जंगली थे और रोमनों के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रोम यूनान से पीछे रह गया था। एथेन्स के नगर-राज्य ने एक सदी में जितनी उन्नति की, रोम के विशाल साम्राज्य ने ४०० वर्षों में भी उतनी उन्नति नहीं की। उल्टे इस काल में एथेन्स की महत्ता जाती रही और सिकन्दरिया के गौरव का भी अंत हो गया। इसका कारण यह था कि रोम साम्राज्य विस्तार और सैन्य प्रसार में ही अधिकतर व्यस्त रहा। रोम के समाज और राज्य का आधार यूनान की भाँति स्वतंत्रता नहीं बल्कि भय तथा दबाव था। अतः रोम में प्रजा की कामनायें कुचल दी जाती थीं और वहाँ स्वतंत्र विचारों के फूलने-फलने के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव था। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के लिये रोम यूनान के ही प्रति ऋणी रहा। इस प्रकार विजित यूनान ने अपने स्वामी रोम को भी जीत लिया और यूनानी गुलाम भी रोमनों के शिक्षक थे। वास्तव में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता का ही नवीन संस्करण था। फिर भी रोमन सभ्यता एवं संस्कृति की प्रगति बिलकुल महत्वहीन ही नहीं थी। रोमनिवासी व्यवहार-कुशल थे। अतः उन्होंने भी यूनानी सभ्यता में आवश्यकतानुसार परिवर्तन ला दिया। जहाँ भारतीयों ने सभ्यता के आध्यात्मिक पक्ष को और यूनानियों ने सांस्कृतिक पक्ष को सबल बनाया वहाँ रोमनों ने इसके व्यावहारिक आधार को सुदृढ़ किया। अब इसके विभिन्न पहलुओं का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

शासन तथा साम्राज्य संगठन

रोम में सर्वप्रथम राजतंत्र-प्रणाली स्थापित हुई। लेकिन ५०० ई० पू० के लगभग प्रजातंत्र स्थापित हुआ। यह प्रणाली ५०० वर्षों तक कायम रही। इसके शासन-विधान की विस्तृत चर्चा पहले ही की जा चुकी है। दो कौंसल सीनेट तथा असेम्बली के सहयोग से शासन का कार्यक्रम सँभालते थे। कौंसल का सैनिकों के द्वारा वार्षिक निर्वाचन होता था। सैनिकों में अधिक उच्च वर्ग का ही प्रतिनिधित्व था। अतः कौंसल भी इन्हीं के वास्तविक प्रतिनिधि होते थे। वे एक दूसरे के लिये अवरोध स्वरूप थे और दोनों में कोई भेद होने पर सीनेट उसका निर्णय करती थी। कुछ काल के पश्चात् सामान्य वर्ग के अधिकारों के रक्षार्थ ट्रिब्यून नाम के कर्मचारी नियुक्त हुए। संकट काल में अधिनायक की नियुक्ति होने लगी थी जो प्रायः सैन्य वर्ग का ही कोई व्यक्ति होता था।

रोम की नीति तथा स्थिति सैन्य शक्ति पर ही आधारित थी। लीजियन इसका प्रधान अंग था। इसमें रोम के नागरिक सैनिक थे और सरदारों के हाथ में इसका

नेतृत्व था। इसमें २० वर्ष तक काम करना पड़ता था। इसके बाद सहायक सेना का स्थान था। पदाति और अश्वारोही इसमें सम्मिलित थे। साम्राज्य की रक्षा का भार इसके ऊपर था। सम्राट के रक्षक के रूप में रोम में एक सेना बराबर ही रहती थी। सम्राट के युद्ध में जाने पर यह सेना भी उनके साथ रहती थी। इसे प्रीटोरियन गार्ड भी कहा जाता था।

संसार के इतिहास में रोम प्रथम प्रजातंत्र राज्य था जिसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। प्रांतीय शासन के लिये एक गवर्नर होता था। केंद्र से हस्तक्षेप नहीं होता था। गवर्नर ने धीरे-धीरे अपना अधिकार बहुत बढ़ा लिया। साम्राज्य में अधिकांश लोगों को नागरिकता के अधिकार प्रदान कर दिये गये थे। लेकिन रोम के साम्राज्य का शासन प्रधानतः केंद्रीय था जिसमें सर्वसाधारण के वास्तविक अधिकार बहुत सीमित थे।

३१ ई० पू० में राजतंत्र प्रणाली फिर स्थापित हो गई। किन्तु प्रजातंत्र का शासन-विधान अभी कुछ काल तक कायम रहा। लेकिन किसी भी दशा में सम्राट की इच्छा सर्वोपरि थी। उसकी शक्ति क्रमशः बढ़ती गई और वह राज्य का सर्वेसर्वा बन बैठा। समय गति के साथ लोकतंत्र का बाहरी ढाँचा भी जाता रहा। कल्पना और वास्तविकता में समता पाई जाने लगी। साम्राज्य का संगठन सुदृढ़ होता गया, पूर्ण केंद्रीयकरण स्थापित हुआ और सर्वत्र नौकरशाही की धाक जम गई। मनोनयन के द्वारा नियुक्ति होने लगी और प्रिवी-कौंसिल के सामने सीनेट भी फीकी पड़ गई। इस प्रणाली के परिणामस्वरूप सारे साम्राज्य में कानून, नागरिकता और व्यवस्था आदि में एकरूपता स्थापित थी। पहली और दूसरी सदी में रोमन सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में भी अद्भुत उन्नति हुई, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है।

नगर-राज्यों के ही समय में विधान को लिखने की परिपाटी चली थी। ४५० ई० पूर्व के लगभग १० विद्वानों की एक समिति ने कानूनों का संग्रह कर काँसे की १२ पट्टियों पर अंकित कर दिया। साम्राज्य-विस्तार और उद्योग-धंधों के विकास के साथ-साथ नये-नये कानूनों के निर्माण में सम्राटों, न्यायाधीशों तथा विधान विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त था। जूलियस सीजर ने सभी कानूनों का संग्रह कर एक विधान-संहिता लिखने की कोशिश की लेकिन उसे पूरी सफलता नहीं मिली। इस क्षेत्र में सम्राट् जस्टीनियन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने सभी कानूनों का संग्रह कर एक विधानपुस्तक तैयार कराई। यह जस्टीनियन कोड के नाम से प्रसिद्ध है। बाद की पीढ़ियों के लिये यह पुस्तक नमूने का कार्य करती रही है। यूरोप के कई देशों ने इसी के आधार पर अपने कानूनों का निर्माण किया है।

अब रोम राज्य की कुछ बुराइयों का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। दण्ड-विधान बड़ा ही कठोर था। प्राण-दण्ड साधारण बात थी। सामान्य नागरिकों की दशा

समुन्नत नहीं थी। महामारी और भुखमरी की शिकायत थी। प्रांतों में लूट और घूस का बाजार बड़ा ही गर्म था।

उद्योग-धंधे

विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधों के विकास के लिये रोमन साम्राज्य में उपयुक्त वातावरण उपलब्ध था। सम्पूर्ण साम्राज्य में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित थी और अच्छी सड़कों की भरमार थी। पहले भूमध्यसागर चोर, डाकुओं का अड्डा था; किन्तु अब उनके दिन भी लद चुके थे। अतः कृषि और व्यापार दोनों क्षेत्रों में अद्भुत उन्नति हुई।

रोम के राज्य में पहले कृषि की प्रधानता थी। छोटे-छोटे कृषि के बहुत क्षेत्र थे, किन्तु समय गति के साथ इन क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया गया। बहुत से साधारण गृहस्थों ने अपने खेत धनियों के हाथ बेच दिये और स्वयं उनके अधीन काम करने लगे या नगरों में कूच कर गये। धनियों ने विशाल फार्म तथा पशुशालाओं का निर्माण किया। ये दूर देहातों में स्थित थे। अतः मालिक स्वयं नगरों में रहते थे। कर्मचारीगण इन फार्मों तथा पशुशालाओं की देख-रेख करते थे और दासों के द्वारा काम कराते थे। मालिक लोग कभी-कभी मनोरंजन की दृष्टि से देहात में चले जाते थे और वहाँ कुछ काल तक ठहर जाते थे। वहाँ उनके लिये बँगले बने रहते थे जहाँ भोग-विलास की सभी वस्तुओं का समुचित प्रबन्ध रहता था जैसे स्नानागार, सरोवर, जल-प्रपात, उद्यान आदि। लेकिन एक विचित्र बात यह है कि कृषि करने के प्राचीन ढंग और औजारों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

रोमन सम्राज्य में व्यापार की भी पर्याप्त प्रगति हुई थी। लेन-देन में सिक्कों का व्यवहार होता था। आयात-निर्यात में विशेष वृद्धि हो चली थी। साम्राज्य के अन्दर तरह-तरह के मालों का उत्पादन होता था और रूस, भारतवर्ष, चीन तथा पूर्वी द्वीप-समूह तक उनका निर्यात होता था। मदिरा, जैतून का तेल, मिट्टी के बर्तन और कुछ खनिज पदार्थ बाहर भेजे जाते थे। बदले में अन्न, कपड़े और भोग-विलास की वस्तुएँ मँगायी जाती थीं, लेकिन इतनी व्यापारिक प्रगति होते हुए भी सिक्कों का व्यवहार अभी सामान्य रूप से ही होता था। अतः रोम में बैंक आदि की व्यवस्था नहीं थी।

मजदूरों के संघ होते थे। प्रत्येक वर्ग—शिल्पी, नाविक तथा बढ़ई आदि—अलग-अलग संघ में संगठित था।

कला-कौशल

कला-कौशल की दृष्टि से यूनान रोम से आगे था। फिर भी, रोम ने जो प्रगति की वह नगण्य नहीं कही जा सकती। स्थापत्य, भास्कर और चित्र—इन तीनों कलाओं के क्षेत्रों में रोम ने शुरू में यूनान का ही अनुकरण किया। किन्तु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन

भी होता रहा। यूनानी कलाकार निःस्वार्थ भाव से अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। वे उसकी उपयोगिता की अपेक्षा सुन्दरता पर ही विशेष ध्यान देते थे। लेकिन रोमन कलाकार सुन्दरता पर ध्यान तो देते ही थे, उसकी उपयोगिता पर भी विशेष ध्यान देते थे। वे अपने हानि-लाभ के विषय में अधिक सोचते थे। अतः उनकी कृतियाँ यूनानियों की कृतियों के समान सुन्दर, चित्ताकर्षक और मनोहारी नहीं होती थीं।

रोमनों ने अनेक सार्वजनिक इमारतों का निर्माण कर अपनी व्यावहारिक बुद्धि का परिचय दिया। महत्ता तथा विशालता इनकी विशेषताएँ हैं। उन्होंने बहुत सी नालियाँ, स्नानागार, स्मारक, पुल, नाट्यशालाएँ और भवन बनाये। स्नानागार में डेढ़ हजार से अधिक लोग एक बार में स्नान कर सकते थे। वे प्रासादों के समान भव्य तथा विशाल होते थे। महान् सर्कस में लगभग ३½ लाख लोगों के बैठने का प्रबन्ध था। किन्तु वे सबसे अधिक तोरण या मेहराब, स्तम्भ और गुम्बद के निर्माण के लिये प्रसिद्ध हैं। तोरण के वे स्वयं आविष्कारक नहीं हैं, बल्कि उन्होंने इसका निर्माण एट्रूरिया के लोगों से ही सीखा था। लेकिन इसमें आवश्यक सुधार कर इसे और उपयोगी और सुन्दर बना दिया गया। भवनों के दरवाजों पर इसका प्रयोग प्रायः होता था, किन्तु पुलों तथा स्मारकों के निर्माण में भी इसका उपयोग किया जाता था। कुस्तुन्तुनिया में जस्टीनियन द्वारा निर्मित सेंट सोफिया का एक गिर्जा है। यह तोरण और गुम्बद दोनों ही के लिये प्रसिद्ध है। इसके ऊपर एक बड़ा गुम्बद है और यह अनेक तोरणों पर स्थित है। कालोसियम, पेन्थियन और सेंट-पीटर का गिर्जा भी रोमन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। मन्दिरों के निर्माण में भी गुम्बद का प्रयोग होता था। किन्तु रोम में सार्वजनिक इमारतों की अपेक्षा देवालयों का निर्माण बहुत ही कम हुआ। रोमन कला के ही आधार पर आधुनिक विश्व में अनेक सार्वजनिक भवनों का निर्माण हुआ है।

रोमन कलाकार मनुष्यों की सुन्दर मूर्तियाँ बनाते थे और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भी कुशल थे। भास्कर-कला का सर्वोत्तम नमूना एक रोमन की मूर्ति है। उसे देखने से मालूम होता है कि वह कोई सजीव चीज़ है। वे मनुष्यों के केवल सिर की भी मूर्ति बनाते थे और इसमें वे बड़े ही दक्ष थे। राजतन्त्र की अपेक्षा प्रजातन्त्र-काल में ही भास्कर-कला की विशेष उन्नति हुई थी। किन्तु ईसाई पादरियों के नेतृत्व में इस कला में फिर जान आ गई थी।

साहित्य और शिक्षा

यूनानियों की कल्पनाशक्ति रोमनों में नहीं थी, फिर भी साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने यथेष्ट उन्नति की। मुद्रण-कला के अभाव में पुस्तकें हाथ से ही लिखी जाती थीं। लिखने के लिये पेपिरस तथा पशु-चर्म प्रयोग में लाये जाते थे और उन्हें लकड़ी के डंडों पर लपेट कर रखा जाता था। प्रथम सदी ई० पू० में ही, जब रोम

अपनी प्रगति और गौरव के शिखर पर पहुँच चुका था, साहित्य की अद्भुत उन्नति हुई। लिखने-पढ़ने में लैटिन भाषा का अधिकतर व्यवहार किया जाता था। लेकिन यूनानी भाषा का भी प्रयोग होता था। पूर्वी भाग में तो यूनानी भाषा का ही अधिक प्रचलन था। मार्कस ओरेलियस ने 'मेडिटेएन्स' नाम का दार्शनिक ग्रंथ ग्रीक भाषा में ही लिखा था। साम्राज्य भर में प्रारम्भिक शिक्षा देने की व्यवस्था थी। सम्भ्रान्त परिवार के लड़के उच्च शिक्षा पाने के लिये रोम तथा एथेन्स जाते थे। विद्यार्थियों को सम्भाषण-कला सिखलाई जाती थी और कई नगरों में चिकित्सा सम्बंधी शिक्षा के लिये भी प्रबंध किया गया था।

रोमन राज्य में विभिन्न विषयों के लेखक उत्पन्न हुए। होरेस, कैटलस, ल्युक्रेशियस तथा वर्जिल रोम के सर्वोत्कृष्ट कवि थे। उनकी कविताओं में सुन्दरता तो थी ही, उनमें तत्कालीन समाज पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया था। वर्जिल तो रोम का होमर ही था। दाँते तथा ड्राइडन के लिये वह एक सर्वोत्तम कवि था। उसने आगस्टस की वंशावली का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया था। उसकी प्रसिद्ध रचना 'एनीड' नामक महाकाव्य है। होरेस तथा वर्जिल दोनों ही आदर्शवादी थे किन्तु होरेस की अपेक्षा वर्जिल विशेष आदर्शवादी था। होरेस और कैटलस गीतिकवि थे। ल्युक्रेशियस दार्शनिक कवि था। प्राचीन परंपरा और व्यक्ति का उसे अद्भुत ज्ञान था। उसके लेख नैतिक संदेश से परिपूर्ण होते थे। वह विज्ञान सम्बंधी लेख भी लिखता था। भाषा एवं भाव की दृष्टि से अंगरेज कवि मिल्टन के साथ उसकी तुलना की जा सकती है।

सिसरो (१०६-४३ ई० पू०) एक महान् वक्ता और राजनीतिज्ञ तो था ही, वह एक प्रसिद्ध लेखक भी था। वह गद्य शैली में लिखता था, और उसकी भाषा परिमार्जित तथा प्रवाहपूर्ण होती थी। उसे आधुनिक यूरोपीय गद्य-साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। उसके समय में लैटिन भाषा अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई। उसके अनेकों पत्र, लेख तथा भाषण मिले हैं। पोलिबस, सीजर, लिवी, प्लिनी, पेटरकूलस, प्लूटार्क और टेसीट्स प्रसिद्ध इतिहासकार थे। इनमें लिवी और टैसिटस विशेष प्रसिद्ध हैं जिन्होंने आधुनिक ढंग का इतिहास लिखना आरम्भ किया था। जूलियस सीजर ने अपनी 'कमेन्टरी' में कई युद्धों का वर्णन लिख छोड़ा है। प्लूटार्क ने महापुरुषों की जीवन-गाथाओं को सुन्दर ढंग से ग्रीक भाषा में अंकित किया है। लिवी ने अपने रोम के इतिहास में केवल घटनाओं का ही उल्लेख नहीं किया है; बल्कि वह एक नैतिक शास्त्र भी है जिसमें रोमनों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला गया है। टेसीट्स ने रोम-वासियों और जर्मनों का वृत्तान्त लिखा है और रोमनों के पतन के कारणों को बतलाया है। उसने अपने ससुर अग्रीकोला का सुन्दर जीवन-चरित्र भी लिखा है।

गैलेन ने तर्क तथा नैतिक शास्त्रों का सम्पादन किया है। स्पेन का निवासी सेनेका

एक विख्यात दार्शनिक था जो सम्राट नीरो का शिक्षक था। वह कई दुखान्त नाटकों का रचयिता था। क्विंटिलियन ने शिक्षा सम्बंधी उत्तम ग्रन्थ 'इन्स्टीट्यूशिओ ओरेटोरिया' लिखा जिसका आधुनिक विद्वान् भी बड़ी अभिरुचि के साथ अध्ययन करते हैं। एपिक्टेटस और मार्कस ओरेलियस भी प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक थे। बाइबिल का भी लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ। सन्त अगस्टाइन ने 'कन्फेशन्स' तथा दी 'सिटी ऑव गॉड' नामक ग्रन्थ लिखे। नाटक के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। सेनेका, प्लौटस और टेरेंस प्रसिद्ध नाटककार थे।

विज्ञान के क्षेत्र में कोई अद्भुत उन्नति नहीं हुई। प्लिनी तथा टालमी प्रसिद्ध वैज्ञानिक लेखक थे। प्लिनी ने प्रकृति सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किया है जिससे पृथ्वी, खेती, और जंगल के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। उसने अपनी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री' लिखने के लिये लगभग २००० ग्रन्थों का अवलोकन किया था। रोमन राज्य में अनेक चिकित्सक और चिकित्सालय थे। छोटे नगर में पाँच तथा बड़े नगरों में १० डाक्टरों के रहने की व्यवस्था थी। सैनिकों के लिये पृथक अस्पताल थे। किन्तु चिकित्सा-शास्त्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। रोमनिवासी ३६५ दिन का वर्ष मानते थे और उन्होंने हर चौथे वर्ष १ दिन अधिक जोड़ देने की प्रथा चलायी थी।

धर्म और समाज

प्रारंभ में रोमनिवासी ब्रह्मवादी के रूप में थे जो आत्माओं की आराधना किया करते थे। वे देवताओं को भी पूजते थे। परिवार के श्रेष्ठ और वयोवृद्ध व्यक्ति के नेतृत्व में पूजा-पाठ किया जाता था। रोमनों की सुरक्षा के लिये जेनस देवता उत्तरदायी था। अतः सभी लोग उसकी उपासना किया करते थे। जुपिटर और मार्स दोनों उनके प्रसिद्ध राष्ट्रीय देवता थे। जुपिटर न्याय के और मार्स युद्ध के देवता माने जाते थे।

रोमनों का जातीय गुण उनके धर्म में प्रतिबिम्बित होता है। वे प्रधानतः व्यावहारिक और भौतिक होते थे। अतः उनके धर्म में भी भौतिकता का प्राबल्य था। वे अपनी आवश्यकता तथा कठिनाइयों के ही समय अपने देवी-देवताओं को विशेष रूप से याद करते थे। स्वार्थसाधन के लिये विदेशी देवी-देवताओं तथा प्रथाओं को उन्हें अपनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी। वे देवताओं के लिये श्रद्धा से प्रेरित होकर मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थे, बल्कि कोई लाभ होने पर कृतज्ञतास्वरूप ही ऐसा करते थे। देवी-देवताओं के सिवा वे शान्ति और भूख जैसी कुछ सूक्ष्म चीजों की भी आराधना करते थे। प्रारम्भ में तो वे ऐसी ही चीजों की उपासना किया करते थे।

सहिष्णुता रोमवालों का एक प्रधान गुण था जिसके कारण उनके विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न लोगों का वास हो सका था। वे विजित देश के देवताओं को अप-

नाने लगे थे। यूनान और रोम के देवी-देवताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। मिनर्वा एथीना के, जुपिटर जियस के और मार्स आर्स के ही प्रतीक माने जाने लगे थे। मिश्र के इसीस और फारस के मित्र की भी पूजा होने लगी थी। रोमनों ने धर्म और नीति, राज्य और चर्च में भी घना सम्बन्ध कायम कर दिया। कोई काम शुरू होने के पहले देवताओं से स्वीकृति ली जाती थी। इस अंधविश्वास के कारण कई दिनों तक सार्वजनिक काम रुका रहता था। कभी-कभी सीनेट अधिवेशन और न्यायालय का कार्यक्रम स्थगित रहता था। युद्ध-क्षेत्र में जाने के पूर्व सेनाध्यक्ष भी देवताओं के आशीर्वाद ले लेते थे और किसी युद्ध में विजयी होने पर जुपिटर और मार्स की वेदी पर पहले प्रसाद चढ़ाये जाते थे। धार्मिक मामलों को देखने के लिये पुरोहितों की एक समिति कायम की गई थी। इसका प्रधान 'पौन्टीफेक्स मैक्सीमस' कहा जाता था और सम्राट भी इस पदवी को धारण करने लगे थे।

राजतन्त्र-काल में सम्राट को भी ईश्वरीय प्रतिनिधि मानकर उपासना होने लगी थी। किन्तु यहूदियों और ईसाइयों ने इस प्रथा का घोर विरोध किया। इसी समय से असहिष्णुता और धार्मिक अत्याचार का प्रारम्भ होता है।

रोम की सामाजिक दशा सन्तोषजनक नहीं थी। समाज में कई बुराइयाँ घुस गई थीं। सामान्य और उच्च वर्ग के बीच बड़ी गहरी खाई थी जिससे दोनों वर्गों में सहयोग और सदेच्छा का पूर्ण अभाव था। रोमन सभ्यता कुछ मुट्ठी भर अमीरों और धनियों की सभ्यता थी जो भोग-विलास की गोद में आलस्यमय जीवन बिताते थे। वे सुख की नींद सोते थे, किन्तु उनके भोग-विलासमय जीवन में असंख्य जनता-जनार्दन का कष्ट छिपा हुआ था। सर्वसाधारण को अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता था। वे कर के बोझ से दबते जा रहे थे, किन्तु धनिक धन का ढेर लगाते जाते थे। वे इतने निर्दयी और संकीर्ण होते थे कि जनता के दिल-दर्द से उनमें दया का लेशमात्र भी सचार नहीं होता था। मंदबुद्धि होने से वे यह भी नहीं समझ सकते थे कि इस दिल-दर्द में विस्फोट का बीज छिपा हुआ है जो किसी दिन उनके नाश का कारण बनेगा।

इस दुख-दर्द की कहानी जनता तक ही नहीं सीमित थी। रोम के राज्य में दासों की भरमार थी। इसे दास-राज्य कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। ये दास समाज में विभिन्न सेवाओं को प्रदान करते थे; किन्तु इनके साथ बड़ा ही अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। वे पशुओं की भाँति अपने मालिकों की सम्पत्ति थे और वैसे ही उनका क्रय-विक्रय होता था। रात में वे जंजीर में बाँध दिये जाते थे और उनके सिर के बाल का कुछ हिस्सा काट दिया जाता था ताकि वे भाग नहीं सकें और यदि कभी भाग भी जायँ तो आसानी से उनकी पहचान हो जाय। उनके साथ और भी अनेक अत्याचार किये जाते थे। उन्हें कभी-कभी हिंसक जानवरों से युद्ध भी करना पड़ता था जिसे देखकर

उनके मालिक मनबहलाव करते थे। कभी-कभी कुछ स्वामी उन्हे नदियों में फेंक देते थे। कालान्तर में उनकी दशा में कुछ सुधार हुआ और उनको कुछ अधिकार प्रदान किये गये। वे अपने स्वामी के विरुद्ध न्यायालय में जा सकते थे। फिर भी उनकी दशा में शीघ्र ही महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ।

यह बात याद रखनी चाहिये कि खेत में काम करनेवाले दासों की अपेक्षा घरेलू दासों की दशा अच्छी थी। किन्तु जो स्वतंत्र कार्यकर्ता थे उनकी दशा दूसरे मजदूरों की अपेक्षा सन्तोषजनक थी। यह भी प्रथम दो सदियों मे ही। उनके काम करने के घण्टे लम्बे नहीं होते थे। उन्हे त्योहारों और खेलों के दिन छुट्टियाँ मिल जाया करती थीं। कार्य के उपरान्त अवकाश मिलने पर वे स्नानागारों मे खूब जी भर स्नान करते थे।

रोम निवासियों के सामाजिक जीवन का एक और अंग था। वह था आमोद-प्रमोद और मनोरंजन का। वे नृत्य, तमाशे और सरकस के बहुत ही प्रेमी थे। निश्चित समय पर कुछ प्रतियोगितायें और द्वंद्व-युद्ध हुआ करते थे। इनमें भाग लेनेवाले ग्लैडियेटर कहलाते थे। दो समान व्यक्तियों या हिंसक पशुओं में युद्ध कराया जाता था। दासों को आपस में लड़ने या भयानक जानवरों से संघर्ष करने के लिये विवश किया जाता था। मृतकों का बड़े ही उल्लास के साथ प्रदर्शन कराया जाता था। ये युद्ध एक विशाल अखाड़े में हुआ करते थे जो कोलोजियम कहलाता था। इसमें लड़ने के लिये सैकड़ों गुलाम एक साथ छोड़ दिये जाते थे। इन उत्सवों में रोमनिवासी 'बहुत अभिरुचि दिखलाते थे और ऐसे मौके पर उनकी अपार भीड़ इकट्ठी होती थी। फिर भी वहाँ शान्ति बनी रहती थी। यदि कोई वीर घायल होता था तो वह दर्शकों की ओर अंगुली से संकेत कर दया की भीख माँगता था। उसकी मृत्यु चाहनेवाले दर्शक अपने अंगूठे से अपनी छाती की ओर संकेत करते थे जिसका तात्पर्य था कि उसका प्रतिद्वंद्वी उसके सीने में 'तलवार डाल दे। जो उसकी रक्षा चाहते थे वे अपने अंगूठे से भूमि की ओर इशारा करते थे जिसका मतलब था कि विरोधी अपनी तलवार रख दे। यह था क्रूरता का नग्न नृत्य और अमानुषिकता का सार्वजनिक प्रदर्शन। इन खेल-तमाशों का प्रारम्भ २६४ ई० पू० में ही हुआ था और समय-गति के साथ इनकी प्रगति होती रही। साम्राज्य काल में इनकी संख्या और खर्च में पर्याप्त वृद्धि ही हुई थी। साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों से जीव-जन्तु मँगाये जाते थे। अफ्रीका से सिंह, एशिया से बाघ और यूरोप से भालू आते थे। इन जंगली जानवरों के खेल और युद्ध बड़े ही लोकप्रिय थे।

रोमन लोग ओलिम्पिया के खेल-कूदों से अपरिचित थे और ग्रीकों के समान नाटक और रंग-मच से उन्हें विशेष शौक नहीं था। ५५ ई० पू० तक रोम में स्थायी रंग-मंच

का अभाव था और द्वन्द्व-युद्ध तथा घुड़दौड़ के सामने नाटक की उपेक्षा की जाती थी। ५५ ई० पू० में पोम्पी ने एक स्थाई थियेटर का सर्वप्रथम निर्माण कराया था।

रोमन सभ्यता की देन

मानव-समाज को रोम की बहुत देन है। रोमवालों ने लगभग ५०० वर्षों तक पश्चिमी प्रदेशों में और १५०० वर्षों तक पूर्वी प्रदेशों में राज्य किया। इस दीर्घकाल में उन्होंने मानव-समाज की कई प्रकार से सेवा की।

(१) रोमन साम्राज्य प्रथम सुव्यवस्थित, सुसंगठित और सुदृढ़ साम्राज्य था। यह एक सार्वभौम साम्राज्य की भाँति था—विश्व-राज्य के सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप था। साम्राज्य-संगठन की दृष्टि से असीरिया तथा फारस भी असफल हो चुके थे किन्तु रोम ने अद्भुत सफलता प्राप्त कर ली। एथेन्स और फिनिशिया की भाँति इसने भी अनेक उपनिवेश बसाये। कुछ विजित प्रदेश बिल्कुल रोमन साँचे में ढाल दिये गये। रोम की लैटिन भाषा का प्रचार हुआ। इस भाषा ने यूरोप की मानसिक शक्ति को उन्नत किया। वर्तमान समय मे भी स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इटली और रूमानिया लैटिन देश कहे जाते हैं, क्योकि इन देशों के निवासी लैटिन से मिली-जुली हुई भाषा का व्यवहार करते हैं। मिश्र जैसे कुछ भू-भाग साम्राज्य के अंगस्वरूप थे। रोम के उदाहरण से ही प्रभावित और प्रोत्साहित होकर उत्तरकालीन सम्राट् इससे भी अधिक विशाल साम्राज्य की स्थापना या विश्वविजय का ही स्वप्न देखने लगे। अधिक से अधिक सभ्य देशों को एक ही सम्राट के अधीन संगठित करने का विचार पैदा हुआ। शार्लमेन तथा महान् ओटो ने इसके लिये कोशिश की। १६वीं सदी तक पवित्र रोमन साम्राज्य कायम रखा गया जो प्राचीन रोमन साम्राज्य का प्रतिरूप था यद्यपि इसमें वास्तविकता नहीं थी। रोमन शब्द इम्परेटर से एम्परर का निर्माण हुआ। एम्परर कहलानेवाले अभी कायम हैं पर इनके भी दिन अब लद चुके हैं। सीजर से कैसर तथा जार की उपाधियाँ प्रचलित हुई हैं। कैसर और जार कहलाने वाले अब विश्व के रंग-मंच से ओझल ही हो गये हैं।

(२) रोम के इस विशाल वैभवशाली साम्राज्य में २०० वर्षों तक पूर्ण शान्ति बनी रही। सर्वत्र 'पैक्स रोमाना' का प्रसार था। अतः विभिन्न भागों और जातियों में व्यापार तथा विचारों का विनिमय होता था। इस प्रकार रोम साम्राज्य की ही बदौलत यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार हो सका और मानव-समाज इससे समुचित लाभ उठा सका।

(३) रोमन लोग व्यावहारिक और अनुशासनप्रिय थे। आज्ञापालन करना उनकी एक बड़ी विशेषता थी और उनकी सफलता का एक रहस्य भी था। रोमनों के अधीन शासन, व्यवस्था, कानून और भाषा का खूब ही विकास हुआ। इन चीजों के लिये-यूरोप रोम के प्रति ऋणी है। आधुनिक युग में भी ये सभी बातें परिवर्तित रूप

में पाई जाती हैं। विधान-निर्माण और बहुमत द्वारा निर्णय रोम ने ही अगली पीढ़ियों को सिखलाया है। १८वीं सदी में अमेरिकन स्वातन्त्र्य संग्राम और फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के समय प्रजातंत्र के समर्थक रोम के जनतन्त्र को भी याद करते थे। अंगरेजी भाषा में लैटिन शब्दों की बहुलता है। रोम की विधि और भाषा ने मानव-समाज के बौद्धिक जीवन को बहुत उन्नत किया है।

(४) प्रारम्भ में रोमवालों ने यूनानियों का ही राष्ट्रीय विचारों में अनुकरण किया, किन्तु वे यूनानियों से बहुत आगे निकल गये। रोमनों ने नैतिक नियम को राजनैतिक नियमों से अलग कर दिया और पारिवारिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया। उन्होंने नागरिक राज्य के स्थान पर जातीय राज्य स्थापित किया, किन्तु नागरिकों का अन्तिम उद्देश्य राज्य की उन्नति करना ही रहता था। रोमवालों ने ही सर्वप्रथम नागरिक नियमों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को भी बनाया।

(५) धार्मिक क्षेत्र में भी रोम का अमिट प्रभाव है। ईसाई धर्म का प्रवर्तक, पोषक और प्रचारक होने का गौरव इसी को प्राप्त है। महात्मा ईसा की जन्मभूमि फिलिस्तीन रोमन साम्राज्य का ही एक अंग था। रोमन सम्राटों ने ही दमन और हिंसात्मक नीति के द्वारा ईसा और उनके अनेक अनुगामियों को शहादत की टोपियाँ पहनाकर उन्हें तथा ईसाई धर्म को अमर बना दिया। ईसा तो मानव समुदाय के प्रियपात्र हो कर उसके हृदय में विराजमान हो गये। हजारों नर-नारी, बालक, युवा तथा वृद्ध ईसाई धर्म के अनुयायी और समर्थक हो गये। वस्तुतः रोमनों ने ईसाई धर्म को विश्व-धर्म के पद पर बैठा दिया।

अध्याय १५

आलोक-प्रसार—ईसाई धर्म

भूमिका

वर्तमान काल में समय का ज्ञान कराने के लिये संसार में अनेक सन्-संवत् चल पड़े हैं। लेकिन वे सभी देशीय हैं जिनका प्रचार भिन्न-भिन्न देशों में हुआ है। काल गणना के लिये इस्वी सन् का सर्वप्रमुख स्थान है। ईसवी पूर्व या ईसवी पश्चात् कोई संख्या कहकर काल निर्णय किया जाता है। यह एक सार्वदेशिक संवत् है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। यह ईसा के नाम पर प्रचलित है और इन्हीं का चलाया हुआ धर्म ईसाई धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

ईसा का जन्म

यहूदियों के धर्म-ग्रन्थ प्राचीन इंजील में लिखा है कि मानव-समाज में एक रक्षक या मसीहा का जन्म होगा। यहूदियों को इस बात में पूरा विश्वास था और उनका ख्याल था कि वह ईश्वर का प्रियतम व्यक्ति होगा जो उनके दुखों को नष्ट कर देगा। बहुत लोगों का मत है कि ईसा के रूप में उस मसीहा का विश्व में प्रादुर्भाव हुआ। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व, रोम के प्रथम सम्राट आगस्टस के राज्यकाल मे जुडिया के बेथलहम नगर में ईसा का जन्म हुआ था। वह सोलोमन के ही वंश में उत्पन्न हुआ था। उसके माँ-बाप—मरियम तथा यूसुफ—साधारण श्रेणी के यहूदी बढ़ई थे और ईसा का जन्म एक अश्वशाला में हुआ था। उसकी जन्म-तिथि के विषय में विद्वानों के बीच मतभेद है। उसके जन्म दिवस से तो ईसवी सन् के नाम से काल-गणना की ही जाती है किन्तु अधिकांश विद्वानों के मतानुसार उसकी जन्म-तिथि ४ ई० पू० में २५ दिसम्बर को है।

ईसा की आवश्यकता

मानव-समाज को एक सुयोग्य त्राणकर्त्ता या महान् पथ-प्रदर्शक की नितान्त आवश्यकता थी और ईसा के जन्म ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। मानव-समाज अनेक प्रकार के कुसंस्कारों तथा भ्रमात्मक प्रथाओं से भरा हुआ था। मानवता अंधविश्वास के गड्ढे में बढ़ती जा रही थी। तड़क-भड़क, कर्मकाण्ड और मूर्तिपूजा का प्रसार हो रहा था और देवालयों तथा वेदियों की भरमार। इनसे मनुष्य को किसी प्रकार की आन्तरिक शान्ति नहीं मिलती थी और न तो कोई भौतिक उन्नति ही होती थी। यहूदी समाज तो और भी भ्रष्टाचार से परिपूर्ण था। मन्दिरों में बलिदान के हेतु पशुओं का तोंता लगा

रहता था। सुधार के लिए कहीं से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। सर्वत्र अंधकारमय दीख पड़ता था। जुडिया फिलस्तीन देश में स्थित था जिसपर रोमनों का आधिपत्य था। फिलस्तीन में उनका एक गवर्नर प्रतिनिधित्व करता था और जुडिया में उसके अधीन एक यहूदी सरदार राज्य-प्रबन्ध करता था। शासन-कार्य बड़ा मनमाने ढंग से होता था और यहूदी गुलामी की जंजीर में जकड़े हुए थे। अतः वे राजनीतिक दृष्टि से भी बड़े ही अधीर तथा दुखी हो रहे थे। ऐसी ही विषम परिस्थिति में ईसा का प्रादुर्भाव हुआ। उसका आगमन प्यासे के लिये जल तथा भूखों के लिये अन्न के समान सिद्ध हुआ।

जीवन-चरित्र

ईसा के बचपन काल का हाल इतिहासकारों को ठीक मालूम नहीं। इसके सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं; किन्तु युवावस्था के पदार्पण तक कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई होगी। ईसा के जन्म के समय उनके माँ-बाप को जनसंख्या की गणना करने के लिए राज्य की ओर से बेथेलहम भेजा गया था; किन्तु तत्कालीन यहूदी सरदार हेरोड के भय से उन्होंने अपने बच्चे को लेकर वहाँ से शीघ्र कूच कर दिया। नजारेथ नगर में वे बढ़ई का कार्य करते थे और ईसा भी अपनी किशोरावस्था तक वहीं बपौती पेशे का काम करता रहा।

लगभग २० वर्षों के बाद ईसा भ्रमण और अपने उपदेशों का प्रचार करने लगा। लोगों की नसनस में नव-जीवन का संचार हो चला। एक नई स्फूर्ति, नवीन उत्साह का प्रादुर्भाव हुआ। वह यहूदियों के धर्म-गुरुओं का छिद्रान्वेषण करने लगा और अपने को ईश्वर का प्रत्यक्ष अंश या पुत्र ही कहने लगा। कितने यहूदी उससे भड़कने लगे और उसके प्रति ईर्ष्या-द्वेष की भावना रखने लगे। अल्पकाल में ही वातावरण में सरगर्मी छा गई और शासकों का माथा ठनकने लगा। वे ईसा से छुटकारा पाने के लिये अनेकों जाल रचने लगे। उस पर अभियोग लगाया गया कि वह नवयुवकों को बिगाड़ रहा है और स्वय यहूदियों का सिरमौर बनना चाहता है। बस, अब क्या था। जूडिया के रोमन शासक पौन्टियस पाइलेट की आज्ञा से उसे पकड़ कर बन्दीगृह में भेज दिया गया और उसे प्राणदण्ड की सजा दी गई। इस समय उसकी अवस्था ३३ वर्ष की थी। उसे पकड़वाने में उसके शिष्य जुडास का विशेष हाथ था। उसने घूस खाकर अपने गुरु के साथ विश्वास-घात किया। फाँसी पर लटकते समय ईसा ने अद्भुत शान्ति दिखलाई और भगवान् से प्रार्थना की कि "हे प्रभु, लोग नहीं समझते हैं कि क्या किया जा रहा है, इन्हें क्षमा कर देंगे।" यह दिन शुक्रवार का था और तभी से यह 'गुड फ्राइडे' के नाम से प्रसिद्ध हो चला जिसे ईसाई अभी भी मनाते हैं और इस दिन सार्वजनिक छुट्टी रहती है। इसके पहले यूनान का सुविख्यात दार्शनिक सुकरात भी ऐसी ही क्रूरता तथा भ्रम का शिकार हो चुका था।

ईसा के उपदेश

ईसा के उपदेश क्या थे मानो अमृत; किन्तु उसके विरोधियों तथा स्वार्थियों के लिये वे विष से कम नहीं थे। उनकी धमनियों में क्रांति की लहर दौड़ रही थी; किन्तु यह हिंसात्मक क्रान्ति नहीं थी, नैतिक तथा आध्यात्मिक क्रान्ति थी। उसने अनेक प्रचलित बातों तथा प्रथाओं पर भीषण कुठाराघात किया। विश्व के अन्य धर्म-सुधारकों की तरह ईसा ने भी आचरण पर विशेष जोर दिया। वे सांसरिकता के विरोधी और नैतिकता के महान् समर्थक थे। उनका कहना था कि ईश्वर की दृष्टि में स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, राजा-रंक सभी मनुष्य एक समान हैं। किसी प्रथा की प्राचीनता मात्र ही उसकी उपयोगिता का द्योतक नहीं है; बल्कि समयानुसार उसमें परिवर्तन अवश्य होना चाहिये। बौद्ध धर्म के समान उनके उपदेश में अहिंसा का प्रमुख स्थान था। कुछ अन्य बातों में भी समानता थी। कुछ लोग अनुमान करते हैं कि ईसा कभी बौद्ध धर्मावलम्बियों के सम्पर्क में आये थे। इसमें कोई विशेष आश्चर्य भी नहीं किया जा सकता। ईसा के जन्म के पहले ही पश्चिमी एशिया के कुछ भागों में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के उपासक रहते थे। अल्बरूनी के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है। बाल गंगाधर तिलक के मतानुसार[1] बौद्ध भिक्षुकों के प्रभाव से ही यहूदी धर्म ईसाई धर्म में परिवर्तित हो गया जिसमें सन्यास प्रथा को प्रधानता रही है। यहूदी पुरोहितों को भला-बुरा सुनाते हुए उन्होंने घोषणा की कि "प्रेम, विश्वास व भक्ति के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है, किसी अन्य साधन द्वारा नहीं। केवल महान् व्यक्ति या पुजारी ही होने से कुछ नहीं होगा, कर्म के द्वारा ऊँचा उठनेवाला ही अमरत्व प्राप्ति के लिये अधिकारी हो सकेगा।" संक्षेप में, दया, प्रेम परोपकारिता, सहनशीलता, लोकसेवा आदि मानवोचित गुणों का विकास ही इनकी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था। वे सचमुच एक महान् व्यक्ति थे जिनका हृदय समुद्र के समान विशाल था और जो अपने सिद्धान्तों में चट्टान की भाँति दृढ़ थे।

ईसा के उपदेशों का संग्रह बाइबिल में पाया जाता है जो ईसाइयों का सर्वप्रधान धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। यहूदियों का धर्म-ग्रन्थ इञ्जील प्राचीन बाइबिल कहलाता है। इसके द्वितीय भाग में ईसा के सन्देशों का उल्लेख है जो नवीन बाइबिल के नाम से प्रसिद्ध है।

ईसाई धर्म का प्रसार

ईसा के मरते ही ऐसा लगा कि उनके उपदेशों की भी इतिश्री हो गई और उनके अनुयायियों का भी अन्त हो चला। उनकी निर्दयतापूर्ण फाँसी से सर्वत्र आतंक-सा फैल

---

[1] गीता रहस्य

गया। उनके कितने शिष्य, उपदेशों के प्रचार की बात तो दूर रही, उनसे शिष्य कहलाने में भी भयभीत होने लगे। किन्तु यह स्थिति अल्पकालीन थी। सत्य-शोधक तो ऐसी ज्योति प्रज्वलित करते हैं जो दूषित वातावरण में मन्द भले ही हो जाय, कभी बुझ नहीं सकती। शरीर का अन्त होता है, आत्मा का नहीं; व्यक्ति मरता है, व्यक्तित्व तो उसके पीछे रह जाता है। मनुष्य को प्राण-दण्ड दिया जा सकता है; लेकिन उसके विचारों का हनन नहीं किया जा सकता। ईसा तो मरे किन्तु ईसाइयत जीवित रह गयी। जो ईसा फिलस्तीन के एक सामान्य निवासी थे वे अब मानव-समाज के प्रियपात्र हो गये और उन्होंने मानव-हृदय में अपना घर कर लिया।

ईसा के कुछ ऐसे शिष्य थे जो उनके बहुत ही निकट रहते थे। कुछ काल के पश्चात् उन्होंने उनके उपदेशों के प्रचार का बीड़ा उठा लिया। जुडिया और समीपवर्ती देशों में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ। शुरु में इसके माननेवाले अधिकतर यहूदी थे और वे भी साधारण श्रेणी के। कालान्तर में संत पाल नाम के एक प्रभावशाली ईसाई का रंग-मंच पर आगमन हुआ। उसने उच्च वर्ग के लोगों के बीच अपने गुरु के सन्देश का प्रचार किया। उसके भाषण सुनने के लिये चारों ओर से सर्वसाधारण टूट पड़ते थे और वे हजारों की संख्या में ईसा के अनुयायी बनने लगे। कुलीन वर्ग पर उसका जादू-सा प्रभाव पड़ा। इस तरह रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में वह कई वर्षों तक ईसाई मत का प्रचार करता रहा। अंत में ६२ ई० में वह राज्यशक्ति के चंगुल में फँसा और रोम नगर में फाँसी के तख्ते पर झुला दिया गया। लेकिन उसकी विचारधारा अबाध गति से प्रवाहित होती रही।

ईसाई धर्म तथा रोमन साम्राज्य

प्रारम्भिक अवस्था में तो रोमन साम्राटों ने ईसाइयों की उपेक्षा की, किन्तु उनकी उत्तरोत्तर प्रगति और लोकप्रियता के साथ-साथ सम्राटों के भी नाक में दम भरने लगा और उनके सिर पर शंका तथा भय का भूत सवार होने लगा। वे इस बात पर विशेष जोर देने लगे कि सभी लोग सम्राटों को ही देवतुल्य मानकर उन्हीं की आराधना किया करें और ईसा की ओर से अन्यमनस्क हो जायँ। परन्तु कौन किसकी सुनता था। सम्राटों के कथन का कोई प्रभाव न पड़ा और यह अरण्यरोदन सिद्ध हुआ। यहूदी तो बहुत पहले से ही उन्हें परेशान किये हुए थे, अब ईसाई भी उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने लगे। ईसाइयों ने तो सेना में भरती होना भी त्याग दिया क्योंकि हिंसा करना धर्म-निषिद्ध था। इसका भयंकर परिणाम हुआ। बेचारे ईसाई सम्राट की शक्ति तथा सत्ता के शिकार हुए। अब सम्राटों के खून खौलने लगे थे और उनमें प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो उठी थी। वे हजारों की संख्या में ईसाइयों को पकड़कर जेल भेजने लगे, अग्नि में झोंकने लगे और फाँसी के तख्ते पर झुलाने लगे। कुछ सम्राटों ने संगठित रूप से उनका

पीड़ा किया और अपूर्व अमानुषिक व्यवहार का परिचय दिया। किन्तु ये सत्ताधारी मदान्ध सम्राट बड़ी भूल और मूर्खता कर रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि व्यक्तियों के कुचलने से कोई संस्था नहीं कुचली जा सकती; क्रांतिकारियों को प्राण-दण्ड देने से क्रांति की धारा नहीं रुकती। उल्टे, शहीदों के खून से वह संस्था और भी अधिक फूलने-फलने लगती है—क्रान्ति के प्रवाह में विशेष शक्ति उत्पन्न होने लगती है और अंत में दमनकारी स्वयं उस धारा में प्रवाहित हो जाते हैं या मर मिट जाते हैं।

तीसरी सदी से ईसाई धर्म का विकास तीव्र गति से होने लगा और सैकड़ों तथा सहस्रों की संख्या में नर-नारी, बालक-बालिका, धनी-निर्धन, युवा तथा बूढ़े इस धर्म के अनुयायी बनने लगे। अब सम्राटों की भी आँखें खुलीं और उनके विचार में भी परिवर्तन हुआ। राज्य-शक्ति को लोक-शक्ति के सामने, पाशविक शक्ति को नैतिक शक्ति के सामने झुकना पड़ा। चौथी सदी में सम्राट गैलेरियस ने ईसाइयों पर अत्याचार बन्द कर देने के लिये आज्ञा निकाली। कौन्सटैन्टाइन ने ईसाइयों को विशेष स्वतन्त्रा दी, राज्य की ध्वजा पर गिद्ध के बदले क्रॉस (+) को स्थान दिया और स्वयं ईसाई धर्म का अनुयायी बनकर इसे राज्य-धर्म होने का गौरव-प्रदान किया। अब तो ईसाई धर्म का सितारा चमक उठा और अविराम गति से इसका प्रचार सारे साम्राज्य में होने लगा। सम्राट थ्योडोसियस ने पादरियों को अनेक सुविधाएँ प्रधान की थीं और चर्च को कर-भार से मुक्त कर दिया था।

सफलता के कारण

विभिन्न प्रकार की बाधाओं के होते हुए भी ईसाई धर्म की गौरवपूर्ण विजय हुई। इसके कई कारण थे। (१) रोमन साम्राज्य के धर्मों में जनता की गहरी भक्ति तथा श्रद्धा नहीं थी; क्योंकि वे जटिलतापूर्ण थे। (२) बौद्ध धर्म की भाँति ईसाई धर्म भी सरल और सुबोध था। इसमें वर्ग-विभेद का भी अभाव था। इसमें ईश्वर को परमपिता और मनुष्य मात्र को बन्धु कहा गया था। अतः सर्वसाधारण इसके प्रति स्वभावतः ही आकर्षित हुए। (३) ईसाई पादरी दूरस्थ देशों में जाकर धर्म का प्रचार करते थे और इसके लिये वे कोई कसर उठा नहीं रखते थे। (४) वे प्रायः बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करते थे और लैटिन की अपेक्षा यूनानी भाषा विशेष प्रचलित थी। ईसाई यूनानी भाषा के ही माध्यम से प्रचार का कार्य करते थे। (५) रोमन साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत था और कई सदियों तक इसमें शान्ति स्थापित रही थी। अतः प्रचारकों के मार्ग में विघ्न-बाधाओं का अभाव था। (६) ईसाइयों में सचाई व सच्चरित्रता, त्याग व तपस्या की भावना थी। वे अपने धर्म के लिये प्राणों की बाजी लगाये बैठे थे। साम्राज्य के भ्रष्टाचार से असन्तुष्ट सभी लोग इस ओर आकृष्ट हुए थे। सम्राटों की दमनकारी नीति ने अग्नि में घी का काम किया। दमन की वृद्धि के साथ-साथ ईसाइयों की नैतिक शक्ति बढ़ती गई, उनमें बलिदान की भावना जाग्रत होती गई और ईसाई धर्म का तीव्र गति से प्रचार होता

गया। जिस चीज को दबाने की कोशिश की जाती है उसकी ख्याति बढ़ जाती है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस चीज के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये लोगों में उत्सुकता उत्पन्न होने लगती है। तब, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, उत्सुकता या भावना को कुचलना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव कार्य है। (७) सम्राट कौन्सटैन्टाइन ईसाई धर्म का आश्रयदाता बन गया और उसने इसे राज्य-धर्म के पद पर बैठा दिया।

ईसाई संघ का संगठन

ईसा ने अपने जीवनकाल में अपने उपदेशों के प्रचार लिये किसी मन्दिर या गिरजे का निर्माण नहीं किया था। अतः ईश्वर तथा सर्वसाधारण के बीच पुरोहितों के रूप में मध्यस्थों की भी आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु धर्म-गुरुओं के मरणोपरान्त अनुयायियों के प्रयास से संघों का निर्माण हो ही जाता है। ईसाई धर्म अपवाद स्वरूप नहीं है। क्रमशः ईसाई लोग भी चर्च या संघ के रूप में संगठित होने लगे। सर्वप्रथम जेरुजलम में एक चर्च स्थापित हुआ। पहली सदी के मध्य के लगभग क्लोडियस के राज्यकाल में रोम में चर्च स्थापित हुआ। सभी संघों या गिरजों को सामूहिक रूप से कैथोलिक चर्च कहा जाता था।[1] चर्च के प्रबन्ध का भार साधारण श्रेणी के पादरियों के हाथ में रखा गया था। प्रत्येक नगर में एक बिशप रहता था और पादरी उसके अधीन होते थे। सभी बिशपों के अधिकार समान थे। लेकिन रोम नगर के बिशप का स्थान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। वह कैथोलिक चर्च का सर्वोच्च अधिकारी था और पोप[2] की उपाधि से विभूषित था। राजनीतिक क्षेत्र में रोम की ख्याति तो थी ही, ईसा के दो महान् शिष्य संत-पीटर तथा पाल का भी वहाँ शुभागमन हुआ था। रोम में ही उन्हें शहादत का मुकुट भी पहनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

ईसाई धर्म का प्रभाव

तत्कालीन समाज पर ईसाई धर्म का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उस समय समाज में श्रमिकों की कोई स्थिति नहीं थी और वे घृणा तथा उपेक्षा के पात्र समझे जाते थे। अमीर और कुलीन लोग गुलाम तथा नौकर रखते थे और दोनों श्रेणियों के बीच एक गहरी खाई बन गई थी। प्रथम श्रेणी के लोग लक्ष्मीपात्र थे और अपने को सौभाग्यशाली मानते थे। उनका काम था आज्ञा देना। द्वितीय श्रेणी के लोग निर्धन और भाग्यहीन थे और उनका एकमात्र काम था अपने स्वामियों की आज्ञा का पालन करना। ईसाइयों ने समानता के सिद्धान्त का प्रचार कर धनी और निर्धन के बीच की खाई को भरने की कोशिश की और श्रम की महत्ता स्थापित की। लोगों के सामने ईसा मसीह का ज्वलन्त

---

[1] कैथोलिक यूनानी शब्द है जिसका अर्थ होता है सार्वभौम या व्यापक।
[2] पोप शब्द पापा शब्द से निकला है जिसका मतलब है पिता।

उदाहरण वर्तमान था जिन्होंने ३० वर्ष तक बढ़ई का कार्य किया था। अब लोगों को बात समझ में आ गई कि मनुष्य की महत्ता का मापदण्ड उसका जन्म या काम नहीं है बल्कि उसका गुण है। अतः अब दोनों वर्गों के लोग अपेक्षाकृत निकट सम्पर्क में आने लगे और निम्न श्रेणी के लोगों के साथ सद्व्यवहार होने लगा।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि समाज में स्त्रियों का स्थान ऊँचा हो गया। अबतक स्त्रियाँ भी उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थीं। समाज में नैतिकता का अभाव था। विवाह एक पवित्र बन्धन नहीं समझा जाता था। यूनान तथा रोम में वे अर्द्धांगिनी के रूप में नहीं देखी जाती थीं। ईसाइयों ने इस बुराई को भी दूर किया और उनके प्रयास से स्त्रियों की दशा समुन्नत हुई। उन्होंने लोगों को बतलाया कि सामाजिक उन्नति के लिये पारिवारिक उन्नति होना अनिवार्य है।

समाज में कुछ अन्य कुरीतियों का भी जाल फैला था। यूनान और खासकर रोमन साम्राज्य में अमोद-प्रमोद के कुछ साधन बड़े ही दूषित तथा अमानुषिक थे। एक ओर मुट्ठी भर लोग भोग-विलास की गोद में सुख की नींद सोते थे तो दूसरी ओर अधिकाश लोगों की आवश्यकतायें भी पूरी नहीं हो पाती थीं। ईसाइयों ने इस विषमता को कुछ हद तक दूर किया और मनबहलाव के कठोर तथा संकटपूर्ण साधनों का क्रमशः अन्त किया।

ईसाइयों ने लोगों में सेवा की भावना को विकसित किया। सेवा-धर्म ईसाई धर्म का एक अंग था। जहाँ-तहाँ उपचारालय स्थापित किये गये थे जहाँ अनाथों, विधवाओं और अन्य असहायों को शरण दी जाती थी।

ईसाई धर्म का सांस्कृतिक विकास पर भी अमिट प्रभाव है। रोमन शैली के आधार पर अनेक भव्य इमारतों तथा गिर्जाघरों का निर्माण हुआ। चित्रकला को प्रोत्साहन मिला और बहुत से चित्र निर्मित हुए। शिक्षा का प्रचार हुआ, साहित्य की उन्नति हुई। पादरियों ने उत्तम ग्रन्थों की रचना की। ४थी सदी में जेरोम नामक एक प्रसिद्ध लेखक था जिसने हिब्रू तथा यूनानी से लैटिन भाषा में बाइबिल का रूपान्तर किया।

ईसाई धर्म ने राजनीति को भी प्रभावित किया था। मध्यकाल में धर्म तथा राजनीति के बीच गहरा सम्बन्ध हो गया था। अतः उस काल में धर्म के नाम पर राजनीतिक क्षेत्र में भी भीषण रक्तपात हुआ। लेकिन यह अमानुषिकता धर्माधिकारियों की संकीर्णता का ही परिणाम थी।

यहूदी और ईसाई धर्म

प्रारम्भ में ईसाई धर्म यहूदी धर्म था और इसका मूल स्रोत फिलस्तीन ही था। किन्तु इसका प्रचार यहूदियों के लिये कष्टदायक ही हुआ। यहूदी ईसाइयों के प्रकोप और घृणा के पात्र बन गये, क्योंकि वे उनकी दृष्टि में क्रूर और सूदखोर थे। ये यहूदियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव करने लगे। पश्चिमी तथा पूर्वी रोमन साम्राज्य के सम्राटों ने

उनके विरुद्ध अनेक कड़े कानून बना दिये। यहूदियों के पूजा-पाठ पर प्रतिबन्ध लग गया। वे किसी प्रकार के सम्मान के अधिकारी न रहे। मध्यकाल में भी ईसाई देशों में उनके साथ अमानुषिक व्यवहार होता था। आधुनिक काल में तो उनपर आपत्ति के पहाड़ ही जैसे टूट पड़े। रूस, पोलैन्ड, जर्मनी सभी देशों में यहूदी लोगों को फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे और सबों ने अपने-अपने देश से उन्हे मार भगाया और सहस्रों यहूदियों को तलवार के घाट उतार दिया।

फिर भी यहूदी जाति जीवित और जागृत है तथा सभ्यता के विकास में उसने बहुत सहयोग दिया है। उसने दुनिया के कुछ महान् व्यक्तियों को उत्पन्न किया है। लुसेटी, क्रीमियक्स, डिसरायली, मार्क्स, ट्रॉट्स्की जैसे व्यक्ति यहूदी ही थे। संसार का सुप्रसिद्ध भौतिक शास्त्रज्ञ आइन्सटीन भी यहूदी ही हैं। इनके प्रयास से विज्ञान की बहुत उन्नति हुई है और कई ग्रन्थों का यूरोपीय भाषा में रूपान्तर हुआ है।

———

मध्य कालीन युग

प्रसिद्ध इतिहास लेखक गिबन के शब्दों में रोमन साम्राज्य का पतन मानव जाति के इतिहास में सब से महान् और भयंकर दृश्य था। पाँचवी सदी के उत्तरार्द्ध में इसके पतन के साथ प्राचीन युग का सूर्यास्त हो चला और एक नये युग का उदय हुआ। यह युग मध्य कालीन युग के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में तीन प्रसिद्ध घटनाएँ हुई—जर्मनी की बर्बर जातियों के सफल आक्रमण, ईसाई धर्म का प्रचार और इस्लाम धर्म का अभ्युदय। इन घटनाओं के कारण मानव सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास में नये अध्याय प्रारम्भ हुये। इस्लाम की प्रगति के साथ तुर्क और मंगोल जैसी बर्बर जातियों का विकास हुआ और विश्व के रंग-मंच पर उनके आगमन से अनेकों लड़ाइयाँ हुई और भीषण रक्त-पात हुए। मुसलमानों की शक्ति के सामने सासानी साम्राज्य तथा पूर्वी रोमन साम्राज्य को झुकना पड़ा और एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका में उनकी विजय-पताका फहराने लगी।

इतिहास का ज्ञान किसी मनुष्य की शिक्षा का प्रधान अंग है और मानो उसके सम्पूर्ण जीवन की आँख है।

कौमेनियस।

× × ×

वास्तव में ज्ञाता वही है जो समझता है कि वह क्या जानता है और क्या नहीं जानता है।

कनफ्यूशस

× × ×

विचार केवल उन्ही लोगों की सम्पत्ति हो सकती है जो उसका स्वागत करते हैं।

इमर्सन

अध्याय १६

अन्धयुगीन यूरोप—बर्बर जातियों की विजय

रोम का पतन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बर्बर जातियों के आक्रमण ने रोमन साम्राज्य को तहस-नहस कर डाला। इनमें ट्यूटनों की जातियाँ मुख्य थीं जो जर्मनी में रहती थीं। ट्यूटन लोग आर्य वंश के थे और भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभक्त थे। बहुत दिनों से रोमन साम्राज्य पर उनकी आँखें लगी हुई थीं और वे सुअवसर की बाट जोह रहे थे। सब से पहले ३६० ई० पू० मे गालों का आक्रमण हुआ, किन्तु वे हरा दिये गये। २२५ ई० पू० में वे बड़ी संख्या में पुनः उपस्थित हुये परन्तु फिर भगा दिये गये। जुलियस सीजर ने बर्बर जातियों के निवास-स्थानों तक आक्रमण कर उन्हें दबाया, किन्तु बाद मे साम्राज्य की अवनति के साथ बर्बरों के आक्रमण में भी वृद्धि होती रही। सम्राट् मार्कस औरेलियस को ऐसे ही एक युद्ध में अपना प्राण भी गँवाना पड़ा। आक्रमणकारियों को सन्तुष्ट करने के लिये उन्हें नागरिकता के अधिकार सौंप दिये गये, फिर भी आक्रमण की प्रगति बन्द नहीं हुई। डेसियस के राज्य काल में गाथों ने उत्पात मचाया और मकदुनियाँ, थ्रेस, बाल्कन आदि राज्यों को जीत लिया। सम्राट ईलीरियन ने वाडालों को डैन्यूब पार खदेड़ दिया और गाथों को पराजित किया। थियोडोसियस ने भी उन्हें हराया किन्तु उसने अपने साम्राज्य को दो टुकड़ों में बाँट कर दो पुत्रों के हाथ में सौंप दिया (३६५ ई०)।

साम्राज्य के विभाजन से बर्बर जातियों को और भी प्रोत्साहन मिला। इस समय तक गाथ दो शाखाओं में बँट गये थे—पश्चिमी (विसी गाथ) और पूर्वी (अस्ट्रो गाथ)। इन लोगों को साम्राज्य में रहने की आज्ञा मिल गई थी। किन्तु अलारिक के नेतृत्व में पश्चिमी शाखा ने ५वीं सदी के प्रारम्भ में इटली पर धावा बोल दिया और रोम नगर को खूब ही लूटा। किन्तु उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी और साम्राज्य में अधिक उत्पात न हो सका। अन्त में वे फ्रांस तथा स्पेन में बस गये।

हूण जाति

लेकिन अभी साम्राज्य की रक्षा होने को नहीं थी। उसे हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। वे जब चीन पर चढ़ाई करने में असफल रहे तो भारत और रोम की

ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। रोम तो अवनति के मार्ग पर था ही, पहले हूणों ने गाथों को सहयोग दिया। अटिला उनका प्रधान था जो बड़ा ही वीर और भयंकर नवयुवक था। वह "ईश्वर का प्रकोप" ही समझा जाता था। ५वीं सदी के मध्य में हूणों ने फ्रांस पर आक्रमण किया। यूरोप की सभी शक्तियों ने उनका सामना किया और मार्न नदी के तट पर चेलन्स के युद्ध में वे पराजित हुए; किन्तु ४५२ ई० में अटिला ने इटली पर चढाई कर दी। मिलान, वेरोना, पेडुआ आदि नगरों में खूब ही उत्पात मचाया गया। पोप के अनुरोध से रोम नगर लूट-पाट से बच गया और हूण हंगी की ओर लौट गए। दूसरे ही साल अटिला की मृत्यु हो गयी और हूणों के जीवन में उपद्रव की प्रवृत्ति कम होने लगी।

४५५ ई० में जेनसरिक के नेतृत्व में वांडालों ने आक्रमण किया। इस बार पोप का अनुरोध व्यर्थ ही साबित हुआ और रोम नगर का खूब ही लूट-पाट हुआ। ४७६ ई० में पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अन्तिम सम्राट रोमुलस आगस्टस जर्मन नेता ओडेसर से पराजित हो राज्य छोड़ कर भाग गया और इटली में बर्बर जातियों का आधिपत्य स्थापित हो गया।

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के अवशेष पर कई मुख्य राज्य कायम हुए जैसे स्पेन में पश्चिमी गाथों का (४१० ई०), उत्तरी अफ्रीका में वांडालों का (४३६ ई०), इटली में लोम्बार्ड और पूर्वी गाथों का (४३६ ई०), उत्तरी फ्रांस में फ्रैंकों का (४८१-५११ ई०) रोन की घाटी यानी दक्षिणी फ्रांस में बरगंडियों का और इङ्गलैण्ड में ऐंग्ल, सैक्सन तथा जूटों का (४५५ ई०)। यूरोप में उनके तीन राजे प्रसिद्ध हुये—पूर्वी गाथों के बीच थियोडोरिक तथा फ्रैंकों के बीच क्लोविस और इङ्गलैण्ड में अल्फ्रेड महान्।

रोम के पतन के बाद यूरोप

४६३ ई० में पूर्वी गाथों ने कुस्तुन्तुनियाँ तक धावा बोल दिया था और समस्त इटली पर अधिकार कर लिया था। ओडेसर युद्ध में मार डाला गया। उसका नेता थ्योडोरिक महान् कहलाता था और वह बड़ा ही उत्तम तथा योग्य शासक था। उसने रैवेना में अपनी राजधानी कायम की। राज्य भर में शान्ति कायम रही, कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति हुई। वह स्वयं ईसाई था किन्तु उसकी नीति सहिष्णुता की नीति थी। यहूदियों के साथ भी वह सद्व्यवहार करता था और उसके साथ अत्याचार करने वालों को दण्ड देता था। वह १० वर्ष तक कुस्तुन्तुनियाँ में रह चुका था। अतः वह रोमन व्यवस्था का समर्थक था। वह विद्या-प्रचार में अभिरुचि रखता था और उसने कई भवनों का निर्माण किया। वह रोमन और गाथ दोनों जातियों से अफसरों को नियुक्त करता था। उसका एक परामर्शदाता केसियो डोरस था (४६०-५८५) जिसने विद्या-प्रचार के लिये सतत् प्रयास किया। थ्योडोरिक के मरने के बाद जस्टी-

नियन पूर्वी साम्राज्य का सम्राट हुआ (५२७-६५ ई०)। उसने वाडालो से उत्तरी अफ्रीका और गाथों से इटली जीत लिया। किन्तु उसके मरने पर इटली में लोम्बार्डों का प्रवेश हुआ। उन्होंने अपना आधिपत्य कायम किया किन्तु रोम, रैवेना और सिसिली सम्राट के ही अधीन रहे। उनका राज्य ५६८ से ७७४ ई० तक कायम रहा।

सबसे मुख्य फ्रैंक जाति थी। फ्रैंक लोग जर्मनी से अपना सम्बन्ध बनाये रखे। क्लोविस इनका प्रसिद्ध राजा था (४८६-५११ ई०)। ये लोग उत्तरी फ्रांस में बसे। इन लोगों ने अलम्नी और बर्गंडी जातियों को भी जीता। क्लोविस की स्त्री ईसाई धर्म का अनुयायी थी। अलम्नी जाति के विरुद्ध युद्ध के समय पत्नी ने प्रतिज्ञा की कि विजय प्राप्त होने पर उसका पति भी ईसाई बन जायगा। युद्ध में विजय प्राप्त हुई और क्लोविस ने अपने ३००० सैनिकों के साथ ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। उसके मरने पर चार लड़कों ने राज्य को आपस में बाँट लिया। मध्य यूरोप में सर्वत्र उन्हीं का बोल-बाला था। फ्रांस में विजेताओं ने विजित जाति की भाषा को अपना लिया।

छठीं सदी के अन्त तक जर्मन जातियों ने राइन और डैन्यूब को पार करके पश्चिमी रोमन साम्राज्य के सभी प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। इन जातियों को बर्बर' कह कर पुकारा जाता है किन्तु इसका यह मानी नहीं कि वे कोरी जंगली जातियाँ थीं। उनमें सभ्यता का समावेश हो चुका था। सभी जर्मन शूर वीर होते थे और स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। वे अपने नेता की आज्ञा मानते थे और प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के आधार पर अपना प्रबन्ध करते थे। किन्तु उनमें कुछ दुर्गुण भी थे। वे जुआ तथा शराब के अभ्यासी और युद्ध के शौकीन थे। विभिन्न जर्मन जातियों में सभ्यता की मात्रा में अन्तर था। कोई जाति अधिक तो कोई कम सभ्य थी। गाथ फ्रैंक से भिन्न थे और दोनों ही को वाडालों से कोई घनिष्ठता नहीं थी। किन्तु सभी शिक्षा तथा साहित्य, कला तथा विज्ञान से अपरिचित थे। अतः इन क्षेत्रों में कोई प्रगति न हुई। युद्ध और लूट-पाट की ही प्रधानता रही। नगरों की दशा बड़ी ही बुरी हो गई। सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई। अतः इस युग को इतिहासकारों ने अन्ध-युग कहा है। यह युग करीब १०वीं सदी तक कायम रहा।

किन्तु यह युग सर्वत्र और सर्वदा ही घोर अन्धकार का युग नहीं था। कहीं-कहीं पर सभ्यता की प्रकाश-किरण वर्तमान थी। यूरोप के लोगों में शक्ति की ज्वाला मन्द तो पड़ गयी थी किन्तु बिलकुल बुझ नहीं गई थी। यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने ७१७ ई० में कुस्तुन्तुनियाँ के और ७३२ ई० में टूर के युद्धों में मुसलमानों का सफलतापूर्वक सामना किया। इसके दो प्रधान कारण थे—ईसाई धर्म का विकास और फ्रांकों का प्रभाव। एक का फल हुआ पोप का अभ्युदय तथा दूसरे का रोमन साम्राज्य का कायाकल्प।

ईसाई धर्म का विकास

दो सम्प्रदाय

ईसाई धर्म के प्रारम्भिक जीवन में ही दो सम्प्रदाय हो गये—पूर्वी या यूनानी तथा पश्चिमी या लैटिन। पूर्वी सम्प्रदाय कट्टर-पन्थी था जो ईसा को ईश्वर का प्रतीक नहीं मानता था। अतः वह पोप के आधिपत्य तथा ईसा की मूर्त्ति-पूजा का विरोधी था। पश्चिमी सम्प्रदाय पोप के प्रभुत्व को स्वीकार करता था और ईसा की मूर्त्ति बना कर आराधना करने का पक्षपाती था। रोम राज्य में बसने के पहले ट्यूटन जाति की कई शाखाओं में ईसाई धर्म का प्रचार हो चुका था, परन्तु रोम के विशप का उन पर कोई प्रभाव नहीं था। वे एरियस नामक ईसाई के अनुगामी थे। ७वीं सदी के अन्त तक पश्चिमी सम्प्रदाय के भिक्षुओं, पादरियों तथा सम्राटों के प्रयास से इटली, स्पेन, ब्रिटेन तथा गाल में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ और इन देशों ने पोप के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन और गॉल के जर्मन निवासी पहले से ईसाई धर्म से परिचित नहीं थे। पोप ग्रेगरी ने आगस्टाइन के नेतृत्व मे कुछ पादरियों को ईसाई धर्म के प्रचार के लिये ब्रिटेन भेजा और इनके प्रयत्न से वहाँ यह धर्म फैला।

६६४ ई० में ह्विट्बी की सभा के निर्णय के अनुसार इंगलैंड के सभी लोग लैटिन सम्प्रदाय के समर्थक बन गये। गॉल में ईसाई धर्म के प्रचार का श्रेय क्लोविस को है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किस तरह क्लोविस ने अपनी पत्नी के प्रभाव से इस धर्म को स्वीकार किया। तत्पश्चात् उसकी प्रजा ने भी इस धर्म को मान लिया और अब राजा तथा पोप में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया। गॉल अब फ्रैंकलैंड या फ्रांस कहलाने लगा।

मठों का उत्कर्ष

ईसाई धर्म का प्रचार करने में भिक्षुओं का विशेष हाथ रहा है। ये भिक्षु उपदेशक थे जिन्हें पादरी, महन्त या मौन्क कहते हैं। ईसाई धर्म के किसी सम्प्रदाय से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। ये हिन्दू सन्यासियों के समान थे। इन लोगों के अलग विहार या मठ होते थे। बौद्ध भिक्षुओं तथा मठों के साथ ये ईसाई भिक्षु तथा मठ बहुत कुछ मिलते-जुलते थे। इन ईसाई मठों में भिक्षुणियाँ भी रहती थीं। इन भिक्षुओं के कई संघ होते थे। शुरू में तो मठों में नियम या व्यवस्था का अभाव था लेकिन क्रमशः इनमें व्यवस्था स्थापित हुई और भिक्षुओं को विशेष प्रकार के नियम मानने के लिये बाध्य होना पड़ा।

विभिन्न भिक्षु नेता

एरियस और उल्फिला की सेवाओं को भी नहीं भूलाया जा सकता। उल्फिला तो एरियस का ही अनुयायी था। इन्हीं दोनों के प्रयास से जर्मन जातियों में रोमन साम्राज्य के बसने के पूर्व ईसाई धर्म का प्रचार हुआ था। इनका भी प्रभाव पूर्वी साम्राज्य में

अधिक था। किन्तु पोप के अनुयायी इस सम्प्रदाय को नास्तिक कहते थे। चौथी सदी में एशियाई कोचक में बेसिल नाम का एक प्रसिद्ध भिक्षु हुआ। उसने अपने अनुयायियों के लिये कई विधियों को स्थापित किया और पूर्वी रोमन साम्राज्य के लोगों ने उसके नियमों को अपनाया था। इस क्षेत्र में संत बेनिडिक्ट का नाम विशेष प्रसिद्ध है। गौतम बुद्ध के समान सांसारिक भोग विलासों को तिलाञ्जली देकर वह समाज की सेवा के लिये कटिबद्ध हो गया और दक्षिणी इटली में कैसिनो पहाड़ पर उसने अपना एक मठ स्थापित किया। 'सादा जीवन, उच्च विचार' उसका आदर्श था। वह कठिन तपस्या के पक्ष मे नहीं था। वह मध्यम मार्ग और शारीरिक परिश्रम तथा उद्योग धन्धों के विकास का समर्थक था। पश्चिमी यूरोप में बेनिडिक्ट सम्प्रदाय की प्रधानता थी और इसी सम्प्रदाय ने जर्मन जातियों को कैथोलिक बनाया है तथा उनमें प्रेम का भाव उत्पन्न किया है। बेसिल तथा बेनिडिक्ट दोनों ही ने भिक्षुओं के सामूहिक जीवन और प्रार्थना तथा गरीबों और असहायों की सेवा पर विशेष जोर दिया। इन्होंने विद्या प्रचार करना भी मुख्य उद्देश्य बतलाया। बेनिडिक्ट के समान ही केसिओडोरस नामक एक और विद्वान भिक्षु हुआ था जिसका नाम पहले भी लिया जा चुका है। उसका सघ बेनिडिक्ट सम्प्रदाय से भिन्न था किन्तु उसने भी समाज की बड़ी सेवा की। उसने शिक्षा-प्रचार में महत्वपूर्ण कार्य किया। कई पुरानी पुस्तकों का सम्पादन हुआ और ग्रीक से लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ। उसने धूप और जल घड़ी भी बनाने का कार्य किया और दक्षिणी इटली में दो मठ स्थापित किये।

इस प्रकार विद्वान और तपस्वी भिक्षुओं के सद्प्रयत्न से मठों की सख्या और उत्कर्ष में बड़ी वृद्धि हुई। अन्ध युग में ये मठ शिक्षा और ज्ञान-प्रचार के केन्द्र बन गये। सर्वत्र अविद्या का साम्राज्य था, जनता अशिक्षित थी। मठों की देख-रेख मे अनेकों पाठशालाएँ स्थापित हुईं, नयी किताबें लिखी गईं, पुरानी पुस्तकों का सम्पादन और अनुवाद हुआ। धीरे-धीरे यूरोप के सभी प्रमुख देशों में इन मठों का सिक्का जम गया और मध्य-काल में यहीं से सभ्यता तथा संस्कृति की अन्यत्र प्रकाश-किरण फैली। इन्हीं पाठशालाओं के आधार पर आगे चलकर यूरोप के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

पूर्वी रोमन साम्राज्य में भी जहाँ यूनानी सम्प्रदाय की प्रधानता थी, भिक्षु संघों द्वारा सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार में पूरी सहायता प्राप्त हुई।

फ्रांक जाति का प्रभाव

भूमिका

५वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ६वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक फ्राक लोग पश्चिमी तथा मध्य यूरोप में सर्वशक्तिमान् और प्रभावशाली थे। उनके साम्राज्य में आधुनिक फ्रास, जर्मनी और आस्ट्रिया के राज्य सम्मिलित थे। रोमन साम्राज्य की दो बड़ी विशेषताएँ थीं—

एकता और संगठन। फ्रांक लोगों ने इन विशेषताओं को समूचे पश्चिमी यूरोप में स्थापित किया।

क्लोविस के उत्तराधिकारी अयोग्य और कमजोर थे। अतः मन्त्रियों के अधिकारों में बहुत वृद्धि होने लगी। मन्त्री महल के मेयर या महलनवीस कहलाते थे। चार्ल्स मार्टेल ऐसे ही एक महलनवीस था। वह बहुत ही वीर और योग्य पुरुष था। ७३२ ई० में उसी ने अरब वासियों को पराजित कर दक्षिणी फ्रांस पर अधिकार कर लिया और पश्चिमी यूरोप की रक्षा की। ७४१ ई० में चार्ल्स मार्टेल के मरने पर उसका पुत्र पिपिन राज्य का अधिकारी हुआ। फ्रांस का सम्राट् तो कठपुतला था, वास्तविक शक्ति पिपिन के हाथ में थी। अतः पिपिन सम्राट् को पदच्युत कर स्वयं गद्दी पर आरूढ़ हो गया। इस प्रकार कैरोलिजियन वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। इस कार्य में उसने पोप की भी सहमति प्राप्त कर ली थी। अतः नये वंश के राजा और पोप में मित्रता स्थापित हो गई। राजा ने भी लोम्बार्ड जाति के विरुद्ध पोप की रक्षा की। रोम से लोम्बार्डों को खदेड़ कर राजा ने पोप को दक्षिणा स्वरूप कई प्रदेश सौंप दिये। इस तरह पोप कैथोलिक चर्च का पदाधिकारी होने के साथ-साथ इटली का एक जागीरदार भी बन गया।

चार्ल्स महान् ७६८-८१४ ई०

७६८ ई० में पिपिन का पुत्र शार्लमेन का राज्यारोहण हुआ। वह चार्ल्स महान् के नाम से भी प्रसिद्ध है। उसकी महान् की उपाधि सार्थक और उचित थी। वह मध्य युग का एक महान् व्यक्ति था। वह केवल विजयी राजा ही नहीं था, बल्कि कला-कौशल तथा विद्या का भी प्रेमी था।

वह सभी जर्मन जातियों को मिलाकर एक क्रिस्तानी साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। उसे पर्याप्त सफलता भी मिली। इसमें उसे चर्च की भी सहायता मिली थी। उसने साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया। सैक्सन जाति के लोग उसे अपना सम्राट् नहीं मानते थे और प्राचीन मार्ग के ही पथिक थे। सैक्सनी में तो न कोई नगर था और न कोई अच्छी सड़क, अतः इसे जीतना आसान नहीं था। लेकिन चर्च के सहयोग से चार्ल्स ने इस पर विजय प्राप्त की। वहाँ धर्मशाला कायम किये गये और नगरों की भी स्थापना हुई। लोम्बार्डों के विरुद्ध चार्ल्स ने पोप की भी सहायता की। बेवेरिया साम्राज्य में मिला लिया गया। पूर्वी सीमा पर स्लाव जाति से और दक्षिणी सीमा पर मुसलमानों से संकट की आशंका थी। अतः सीमाओं पर छोटे-छोटे जिलों का निर्माण कर सैनिक तैनात कर दिये गये। मुस्लिम स्पेन के उत्तरी भाग में भी आधिपत्य स्थापित किया गया। इस तरह रोम सहित पश्चिमी यूरोप का अधिकांश भाग चार्ल्स के अधिकार में आ गया। पूर्वी साम्राज्य में एक कुटिला स्त्री का राज्य था और व्यवहार में सम्राट का नाम उठ गया था। अतः पोप ने २५ दिसम्बर, ८०० ई० को सन्त पिटर के प्राचीन गिरजे में राज-

मुकुट चार्ल्स के सिर पर रख दिया गया। ३२४ वर्ष के बाद फिर रोम साम्राज्य स्थापित हुआ। इस तरह पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव पड़ी जो १८०६ ई० तक कायम रहा। नेपोलियन ने इसका अन्त किया। किन्तु कई सदी पहले से इसे वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था।
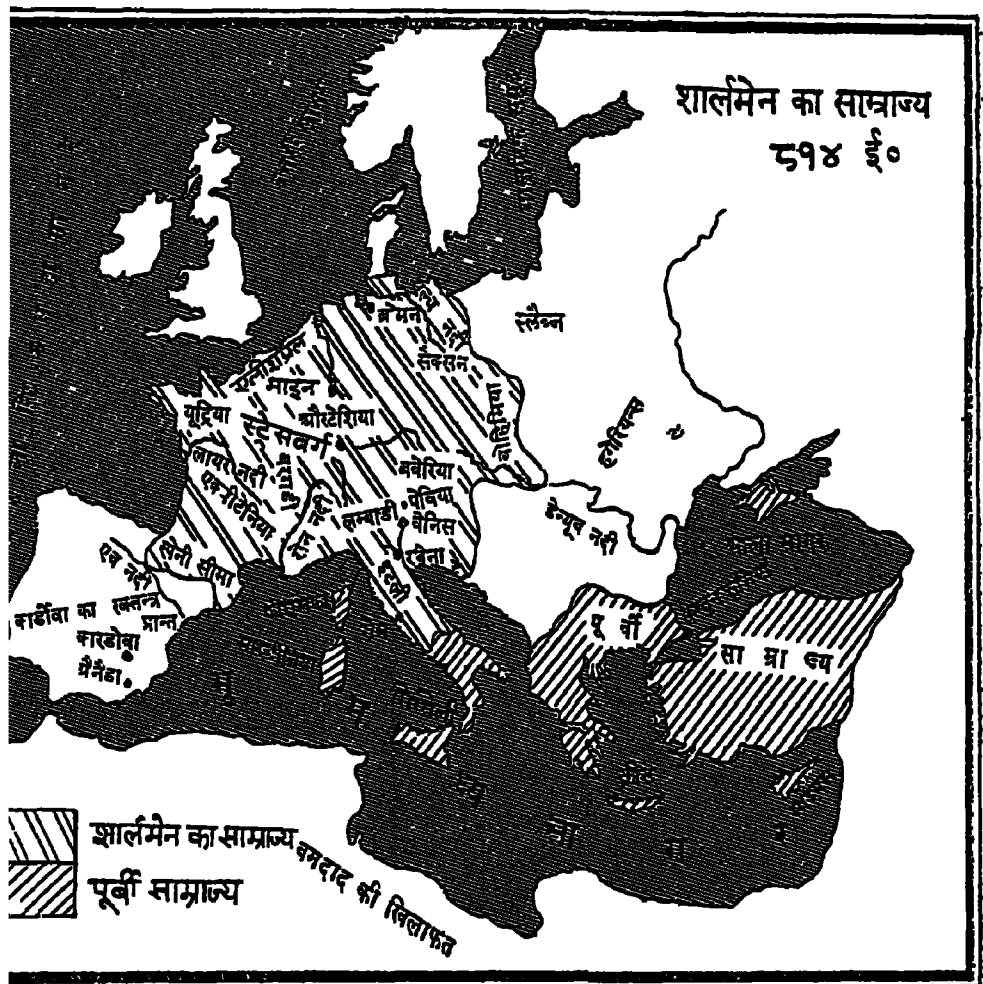
चित्र ४४

कई कठिनाइयों के होते हुये भी चार्ल्स ने इस विशाल साम्राज्य को कुशलतापूर्वक सम्हाला। कोष कम था, कर्मचारीगण स्वतंत्र होने की भावना रखते थे, कर लगाने की उत्तम व्यवस्था नहीं थी; फिर भी सम्राट ने बड़ी निपुणता से राज्य-प्रबन्ध किया। काउण्ट नाम के कर्मचारियों पर सम्राट निर्भर रहता था। राज्य में शान्ति रखना और न्याय का प्रचार करना काउण्टों का प्रधान काम था। इन पर निगरानी रखने के लिये मिसीडेमोनिक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये गये और प्रत्येक वर्ष उनका स्थान बदल दिया जाता था। हर साल बसन्त या ग्रीष्म में पुरोहितों और सरदारों की सभाएँ होती

थीं जिनमें साम्राज्य की उन्नति और दूसरे विषयों पर चर्चा होती थी। सम्राट ने कई कानून बनाये थे जो "कापी चुलरी" कहलाते हैं।

विजय तथा शासन के सिवा विद्या-प्रचार में भी चार्ल्स की विशेष अभिरुचि रहती थी। वह स्वयं तो पढ़ा-लिखा नहीं था किन्तु वह विद्वानों से सम्पर्क रखता था। विद्वानों से वह समानता के आधार पर व्यवहार करता था और उनका बहुत आदर-सत्कार करता था। लड़कों तथा लड़कियों सब के लिये उसने शिक्षा का प्रबंध किया। वह महल की पाठशालाओं का स्वयं निरीक्षण करता था और प्रतिभाशाली तथा परिश्रमी विद्यार्थियों को पुरस्कारों द्वारा प्रोत्साहित करता था। राजकुमारों की शिक्षा के लिये क्लेमेन्ट नामक आयरिश पादरी नियुक्त किया गया। मूल्यवान होने पर भी पतले चमड़े की पट्टियों (पार्चमेंट) पर पुस्तकें लिखी जाती थीं। पुरोहितों के लिये कुछ शिक्षा अनिवार्य थी। धर्म सम्बंधी सभी कार्य लैटिन भाषा में होते थे। इस तरह इस युग में वह प्रथम सम्राट था जिसने अविद्या के वातावरण में विद्या प्रचार के लिये प्रयत्न किया। उसने कई विशाल भवन, प्रासाद, गिरजाघर, पुल आदि भी बनवाये।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चार्ल्स सचमुच एक महान् सम्राट था। एक लेखक के मतानुसार "आधुनिक विश्व का निर्माण शार्लमेन के साथ ही प्रारम्भ होता है।" ८१४ ई० में उसके गौरवपूर्ण जीवन की लीला समाप्त हो गई।

साम्राज्य का विभाजन

चार्ल्स की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। ८४३ ई० में वरडून की सन्धि के अनुसार उसके ३ पौत्रों में साम्राज्य का बँटवारा हुआ। चार्ल्स को पूर्वी भाग (जर्मनी), लुई को पश्चिमी भाग (फ्रांस) और लोथेअर को दक्षिणी भाग (इटली तथा राइन की घाटी में एक संकीर्ण भू भाग) मिले। ८७० ई० में साम्राज्य का पुनः विभाजन हुआ। शासकों की कमजोरी से अराजकता फैलने लगी और जिधर-तिधर से आक्रमण होने लगे। मुसलमानों ने सिसली पर आधिपत्य जमाया और इटली तथा दक्षिणी फ्रांस में उपद्रव मचाया। पूरब में स्लाव जाति के लोग थे। इसी युग में उत्तर सेडेन, वाइकिंग तथा नार्मन लोगों के भी आक्रमण होने लगे। नार्मनों ने फ्रांस के उत्तर में और १०६६ ई० में इंगलैंड में अपना राज्य स्थापित किया। इस प्रकार सर्वत्र अव्यवस्था फैलने लगी और लोगों के धन तथा प्राण संकट में पड़ गये। ऐसे ही वातावरण में एक प्रथा का जन्म हुआ जिसे सामन्त प्रथा या क्षत्रिय राजतंत्र (फ्युडेलिज्म) कहते हैं।

अध्याय १७

मध्यकालीन यूरोप

भूमिका

यूरोप के इतिहास में ५वीं सदी से १५वीं सदी तक का काल मध्य युग कहलाता है यह काल पाँच-पाँच सौ वर्ष के दो हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम हिस्से की विशेषता रही है बर्बर जातियों के आक्रमण। इसी समय यूरोप को इस्लाम की शक्ति का भी सामना करना पड़ा था। इसी भाग को प्रधानतः यूरोप का अन्ध युग कहा जाता है। किन्तु इसी समय में ईसाई धर्म के प्रचार से पोप का अभ्युदय होने लगा था और फ्रांक जाति के उत्थान से पवित्र रोमन साम्राज्य के रूप में पुराने रोमन साम्राज्य का कायाकल्प। इन सभी घटनाओं का उल्लेख किया जा चुका है। द्वितीय भाग मे स्थिति में क्रमशः सुधार होने लगा था। चर्च तथा मठों की छत्रछाया मे विद्या एवं ज्ञान का विकास हो रहा था और सामन्तों के नेतृत्व में शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो रही थी। जहाँ-तहाँ नगरों का निर्माण हो रहा था। लेकिन इसी काल मे पोप तथा रोमन सम्राटों के बीच दीर्घ संघर्ष का सूत्रपात हुआ और यह अपनी पराकाष्ठा पर भी पहुँच गया। ऐसे ही यूरोप तथा एशिया के बीच, ईसाइयों तथा मुसलमानों के बीच जेरुजलम के अधिकार के लिये युद्ध का श्रीगणेश हुआ जो तीन शताब्दियों तक चलता रहा। यह क्रौस तथा क्रेसेन्ट के बीच युद्ध था। अत: यह इतिहास में धर्म-युद्ध या क्रूसेड के नाम से विख्यात है। अब दूसरे भाग की घटनाओं का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा।

(क) पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास

सम्राट् ओटो

शार्लमेन के पश्चात् साम्राज्य के विभाजन तथा अराजकता की चर्चा की जा चुकी है। ९१९ ई० में जर्मनी में एक बड़े ही प्रभावशाली सम्राट् का प्रादुर्भाव हुआ। वह सैक्सन जाति का था और उसका नाम ओटो प्रथम था। इस समय यूरोप में नये-नये राज्यों की स्थापना हो रही थी। ओटो ने पवित्र रोमन साम्राज्य को नव जीवन प्रदान किया। ९६२ ई० में वह रोम पधारा और शार्लमेन की तरह पोप के सहयोग से उसने राजमुकुट स्वीकार किया। पोप इसलिये सहयोग देता था कि सम्राट् उसकी सत्ता बढ़ाने मे सहायता करेगा। सम्राट् भी अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये पोप के सहयोग को आवश्यक समझता था। कुछ समय तक तो दोनों में मित्रता चली, किन्तु जब पारस्परिक स्वार्थ की पूर्ति में धक्का पहुँचने लगा तो संघर्ष अनिवार्य हो गया।

सम्राट् तथा पोप में संघर्ष

सम्राट् और पोप के बीच संघर्ष के कई कारण थे। यह प्रसिद्ध कहावत है कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं। वैसे ही एक राज्य में दो शक्तिशाली व्यक्तियों का शान्तिपूर्वक रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही प्रतीत होता है। यह एक विकट प्रश्न उठा कि दोनों में बड़ा कौन है? कौन किसके अधीन है? दोनों अपने-अपने क्षेत्र में तो बड़े थे ही—पोप धार्मिक जगत का अधिष्ठाता था तो सम्राट् भौतिक राज्य का स्वामी था। किन्तु दोनों इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। बल्कि वे एक दूसरे पर रोब गाँठना चाहते थे। पोप की प्रतिष्ठा और शक्ति सम्राट् से कहीं अधिक थी। सर्वसाधारण के दिल और दिमाग पर धर्म का बहुत प्रभाव पड़ता है और पोप तो उसका धार्मिक गुरु था तथा वह धर्म और समाज सम्बन्धी सभी बातों का निर्णायक था। इसमें भी पोप रोम का निवासी था और रोम का नाम गौरवपूर्ण था। वह सन्त पीटर के शिष्यों में सर्वप्रिय व सर्वप्रधान था। इटली में उसके अपने प्रदेश थे जिनका प्रबन्ध वह मनमाने ढंग से करता था। ईसाई धर्म के प्रचार के साथ पोप की प्रभुता में और भी अधिक वृद्धि हुई। वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिरूप समझा जाता था। सम्राट् के भी अधिकार तो दैवी माने जाते थे और उसका विरोध करना अपराध समझा जाता था। किन्तु पोप तो सम्राट् से भी श्रेष्ठ था क्योंकि पोप के ही आशीर्वाद से शार्लमेन तथा ओटो गौरवपूर्ण पद पर आरूढ़ हुये थे। पोप के हाथ में दो प्रभावकारी अस्त्र थे। वह अपने विरोधियों को धर्म से पदच्युत घोषित कर देता था और उनके प्रदेश में धार्मिक संस्कारों को स्थापित कर सकता था। इस तरह पोप का शक्ति अपार थी, किन्तु सम्राट् भी तो राज्य का स्वामी था और वह पोप को अपना जागीरदार मानता था क्योंकि पीपिन और शार्लमेन ने उसे जागीर दी थी।

संघर्ष

ग्रेगरी सप्तम् (१०७३-१०८० ई०) एक बड़ा ही योग्य पोप था। उसने सम्राट् और पोप के अधिकारों की व्याख्या की और बतलाया कि ये दोनों क्रमशः चन्द्र तथा सूर्य की भाँति हैं। कहने का तात्पर्य यह था कि पोप सम्राट् से श्रेष्ठ है। उसने घोषणा की कि चर्च के सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति केवल पोप के द्वारा ही होगी और राजा का इसमें कोई हाथ नहीं होगा। हेनरी चतुर्थ ने इस घोषणा का विरोध किया और पोप को पदच्युत कर दिया। पोप ने क्रुद्ध हो हेनरी को धर्म-बहिष्कृत कर दिया। हेनरी के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठने लगा। भयभीत हो हेनरी ने क्षमा के लिये पोप के पास शीतकाल में प्रस्थान किया और आल्प्स पर्वत को लाँघकर कनोसा पहुँचा। वहाँ ३ दिन तक नंगे पैर प्रतीक्षा करना पड़ा। आखिरकार पोप ने क्षमा प्रदान कर दिया।

लेकिन कुछ काल के बाद हेनरी ने उस पर पुनः धावा बोल दिया और उसे निर्वासित कर डाला। निर्वासन में ही महान् ग्रेगरी का अन्त भी हो गया।

हेनरी पंचम के समय ११२२ ई० में कनकोर्डेट ऑफ वर्म्स के द्वारा झगड़ों का निर्णय हुआ। राजा चर्च के अधिकारियों के चुनाव में हस्तक्षेप नहीं करने की प्रतिज्ञा की किन्तु जागीरदार की हैसियत से वे राजा के भी अधीन होंगे। फ्रेडरिक प्रथम (बार बेरोसा) जब सम्राट् हुआ तो झगड़ा फिर शुरू हो गया। उसने ३८ वर्षों (११५२-९० ई०) तक शासन किया और वह सीजर, शार्लमेन तथा ओटो का उत्तराधिकारी अपने को कहता था। उसने पोप की उपेक्षा की। लेकिन उसने कई भूलें कीं। उसने इटली के उत्तरी नगरों की स्वतंत्रता कम करनी चाही। अतः उन नगरों ने उसका विरोध करने के लिये लोम्बार्ड सङ्घ कायम किया। अंत में फ्रेड्रिक ने उनकी स्वतंत्रता मान ली। फिर उसने दक्षिणी राज्यों में भी हस्तक्षेप किया। अतः पोप ने उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया। उसने धर्म युद्ध में भाग लिया और ११९० ई० में उसके प्राण पखेरू उड़ गये। इसके बाद भी चर्च और साम्राज्य का संघर्ष जीवित रहा। पोप ने फ्रेडरिक द्वितीय (१२१२-५० ई०) को भी पदच्युत किया और सिसली उससे लेकर फ्रांस के चार्ल्स अंजू को दे डाला। जर्मनी के सम्राट् आंतरिक मामले में ही बुरी तरह फँसने लगे। अतः उनके नेतृत्व में रोमन साम्राज्य के गौरव को पुनर्जीवित करने के प्रयत्न में सफलता की आशा जाती रही।

१४वीं सदी के मध्य से पोप की शक्ति भी घटने लगी। उसके चरित्र में अनेकों दोष आ गये। वह लोभी, विषयी और अहंकारी बनने लगा। फ्रांसीसी सम्राट् का उसपर विशेष प्रभाव था और क्लीमेंट पंचम दक्षिणी फ्रांस में (अविग्नन) रहने लगा था। तब इटालियनों ने एक दूसरे पोप को चुन लिया। इस तरह कैथोलिक चर्च में दो भाग हो गया। दोनों पोपों में पारस्परिक शत्रुता थी। स्पेन, पुर्त्तगाल और स्कॉटलैंड फ्रांस के पोप को तथा उत्तरी यूरोप के देश और इंगलैंड रोम के पोप को मानते थे। अब पोप का प्रभाव जाता रहा। वह धर्म युद्ध में भी सफल नेतृत्व नहीं कर सका और धर्म सुधार तथा पुनरुत्थान आन्दोलनों के कारण उसकी शक्ति में पर्याप्त ह्रास हो गया।

फ्रेडरिक द्वितीय के बाद पवित्र रोमन साम्राज्य की शक्ति में भी घटती होने लगी थी। किन्तु इसका नाम तो बाद में भी बना रहा। १८०६ ई० में नेपोलियन ने इसका अन्त कर दिया।

पवित्र रोमन साम्राज्य की विशेषताएँ

पवित्र रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष तक कायम रहा किन्तु विचित्रता यह थी कि यह न तो पवित्र था, न रोमन और न साम्राज्य। वाल्टेयर ने ऐसा ही कह कर इसकी हँसी उड़ाई थी। पोप तथा सम्राट् के पारस्परिक स्वार्थों की पूर्त्ति के लिये इसका निर्माण

हुआ था। इसका प्रधान सम्राट् था जो धार्मिक व्यक्ति नहीं था। अतः इसे पवित्र कहना कोई अर्थ नहीं रखता। साम्राज्य को रोमन की अपेक्षा जर्मन कहना अधिक उपयुक्त था, क्योंकि जर्मन प्रदेशों पर ही सम्राट् का अधिकार था, इटली में उसकी सत्ता नहीं थी। साम्राज्य का विभिन्न भाग एकता के सूत्र में आबद्ध नहीं था। इटली और जर्मनी दोनों पृथक् थे और साम्राज्य में सामन्तों का बोलबाला था। अतः ठीक अर्थ में यह साम्राज्य भी नहीं था।

फिर भी मध्यकालीन यूरोप में शान्ति स्थापना के लिये कई साधनों में पवित्र रोमन साम्राज्य भी एक उपयुक्त साधन था, सम्राटो ने सामन्तों की शक्ति को दबाये रखा और राज्य में अव्यवस्था तथा विद्रोह फैलने से रोका। सामन्तशाही युग युद्ध तथा शूर वीरता का युग था। इस समय विकेंद्रिय शक्ति अधिक प्रभावशाली थी। किन्तु फ्रेडरिक प्रथम और द्वितीय जैसे सम्राटों ने कई नियम प्रचलित किये और सभी सामन्तों ने उन नियमों का यथोचित पालन किया। इस तरह राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनी रही।

(ख) धर्म-युद्ध [क्रूसेड]

कारण

मध्य युग में ईसाइयों तथा मुसलमानों के बीच भीषण युद्ध हुआ। १०७६ ई० में सेल्जुक तुर्कों ने जेरुजलम को अपने आधिपत्य में कर लिया। यह फिलिस्तीन में स्थित था और ईसाइयों का पवित्र स्थान था। प्रतिवर्ष ईसाइयों के झुण्ड यहाँ तीर्थ करने के हेतु आते थे और खलीफों के शासन काल में उन्हें अनेक सुविधाएँ दी जाती थीं। किन्तु तुर्क तो उनपर अत्याचार करने लगे। उनके गिरजाघर अस्तबल में परिणत होने लगे। उनके ऐसे तुच्छ कार्यों से ईसाइयों की धार्मिक भावनाओं को बड़ी ठेस लगी और वे जेरुजलम को उनके हाथों से मुक्त करने के लिये कटिबद्ध हो गये। यही युद्ध का प्रधान कारण था। किन्तु कुछ अन्य कारण भी थे। मध्यकाल में शूरवीरता का प्रदर्शन करने की प्रथा थी और युद्ध-स्थल इसके लिये उपयुक्त स्थान था। अतः अनेकों शूर-वीर युद्ध के लिये उत्सुक थे। फिर, एशियाई कोचक में तुर्कों के आधिपत्य से पूर्वी रोमन साम्राज्य के लिये संकट उत्पन्न होने की आशंका थी। उनके प्रभुत्व के कारण यूरोप के वाणिज्य-व्यवसाय को भी धक्का पहुँच रहा था। अतः व्यापारी वर्ग इसकी सुरक्षा के लिये उत्सुक थे। ऐसी ही स्थिति में १०६५ ई० में फ्रांस के क्लरमोंट नगर में एक चर्च समिति बुलाई गई जिसमें पोप अरबन द्वितीय ने बड़ा ही जोशीला भाषण दिया। इससे ईसाई उत्तेजित हो उठे और उनके खून खौलने लगे। सन्त पीटर ने पोप के सन्देश का और भी अधिक प्रचार किया। अब ईसाई यूरोप में क्रान्ति की लहर फैल गई। १०६५ ई० में युद्ध का श्रीगणेश हो ही गया।

यह धर्म युद्ध तीन सदियों तक १०९५ से १२७२ ई० तक चलता रहा जिसमें कुल आठ युद्ध हुए।

प्रगति

सन्त पीटर ने प्रथम धर्म युद्ध का नेतृत्व किया और इसमें सर्वसाधारण की प्रधानता थी। बहुत मार-काट, खून-खतरे के बाद ईसाइयों ने १०९९ ई० में जरुजलम पर अधिकार कर लिया। ११४७ ई० में तुर्कों ने ३०००० ईसाइयों को मौत के घाट उतार दिया, किन्तु लाभ कुछ नहीं हुआ। ११८७ ई० में मिश्र का मुस्लिम शासक सलाउद्दीन ने जेरुजलम पुनः जीत लिया। तीसरे धर्म युद्ध में इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी के सम्राटों ने भाग लिया; लेकिन कोई सफलता नहीं मिली। १२१२ ई० का धर्म युद्ध 'बच्चों के धर्म युद्ध' के नाम से विख्यात है। ४० हजार बच्चों का जत्था निकला था। इनमें कितने तो मार्ग में काल के गाल में चले गये, कितने को व्यापारियों ने दास के रूप बेच डाला। जो कुछ बच गये उन्हें पोप ने घर लौटा दिया। इस प्रकार आठ धर्म युद्ध हुए किन्तु उद्देश्य पूरा न हुआ। जेरुजलम मुसलमानों के ही हाथ में रह गया।

परिणाम

अभी कहा गया कि धर्म युद्ध के प्रधान उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धन और जन का पर्याप्त मात्रा में दुरुपयोग हुआ। हजारों की संख्या में मनुष्यों की जानें गईं और अपार धन-दौलत नष्ट हुआ। एक फ्रांसीसी दर्शक के शब्दों में 'जेरुजलम की मस्जिद के नीचे घुटनों तक रक्त बह रहा था। घोड़े की बाग तक सड़कों पर खून दीख पड़ता था।' किन्तु फिलस्तीन मुसलमानों के ही अधिकार में रहा और १११८ ई० तक इस पर उनका प्रभुत्व बना रहा। उनकी शक्ति में भी कोई पर्याप्त क्षति नहीं हुई। फिर भी धर्म युद्ध के कई महत्वपूर्ण परिणाम हुए। बिजेन्टाइन साम्राज्य को कुछ काल के लिये संकट से मुक्ति मिल गई। पोप और चर्च के अधिकारों में वृद्धि हुई। किन्तु ईसाई सम्प्रदाय की बदनामी हुई और इनसे धर्म की श्रेष्ठता जाती रही क्योंकि खून-खतरे के साथ इसका सम्बन्ध हो गया।

धर्म युद्ध के कारण यूरोप की सभ्यता व संस्कृति मुस्लिम सभ्यता व संस्कृति से बहुत ही प्रभावित हुई। भौगोलिक ज्ञान का विस्तार हुआ। यूरोप और एशिया में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ जिससे जेनोआ तथा वेनिस के व्यापारियों ने बहुत आर्थिक उन्नति की। मार्को पोलो नाम के एक वेनिस-निवासी ने लम्बी यात्रा की और वह चीन तक पहुँचा। पूर्वी देश की कितनी चीजें यूरोप में प्रचलित हुईं जैसे पेड़-पौधे, फूल-फल, मशाले, रेशम, सुगन्ध आदि। यूरोप की भाषा में अरबी भाषा के कई शब्द मिल गये। बारूद, कुतुबनुमा, बीजगणित और अंकों का प्रयोग यूरोप के लोगों ने अरब वासियों से सीखा।

इस तरह अरबों के सम्पर्क से एक नई विचार-धारा का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीन भाषाओं का विशेष अभिरुचि तथा गहनता के साथ अध्ययन होने लगा। समाज ३ श्रेणियों में विभक्त हो गया—उच्च, मध्यम और निम्न। राजनीतिक क्षेत्र में भी धर्म युद्धों का प्रभाव पड़ा। मध्यम वर्ग के उत्थान से भूमिपतियों का महत्त्व कम होने लगा और बहुत से भूमिपति तो नष्ट ही हो चुके थे। इससे केन्द्रीय शासन में दृढ़ता आने लगी थी जिससे राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण में विशेष सुविधा मिल गई। इसके सिवा धर्म युद्ध यूरोप के राष्ट्रों तथा जातियों की पूरब में बढ़ने की उत्सुकता का प्रतीक तथा प्रारम्भ था। आगे चलकर इस प्रवृत्ति का क्रमशः विकास हुआ।

अतः सारांश यह निकलता है कि धर्म युद्ध के कारण असंख्य धन और जन का शत प्रतिशत दुरुपयोग ही नहीं हुआ बल्कि उनसे कुछ लाभ भी हुए।

(ग) सामन्तवाद

उत्पत्ति के कारण

पवित्र रोमन साम्राज्य तथा चर्च की भाँति समान्तवाद भी अराजकता के युग में शान्ति-स्थापना का एक उपयोगी साधन था। इसे जागीरदारी प्रथा और क्षत्रिय राजतन्त्र भी कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में यह "फ्यूडेलिज्म" कहा जाता है। उत्तर कालीन मध्य युग में इसी प्रथा का पश्चिमी यूरोप में बोलबाला था। पश्चिमी यूरोप के सभी देशों में यह प्रथा प्रचलित थी। शर्तों में यदि कहीं कुछ विभिन्नता भी थी तो सिद्धान्त सर्वत्र एक ही सा था। यह राजा, साम्राट् या किसी व्यक्ति विशेष के प्रयास का फल नहीं था, बल्कि विषम परिस्थितियों का स्वाभाविक उत्पादन था। यह समय की उचित माँग का समुचित उत्तर था। लेकिन यह बिलकुल नवीन प्रथा नहीं थी, यह पूर्ण मौलिक नियम नहीं था। इसका आधार पुराना था; इसका मूल अतीत में था। यह रोमन तथा ट्यूटन प्रथाओं का मिश्रण था।

रोमन साम्राज्य के प्रान्तों में खेती का कार्य किसान करते थे जिन्हें कलनी कहा जाता था। अराजकता के समय उनके प्राण और धन दोनों ही पर संकट उपस्थित हो गया। ऐसी दशा में सुरक्षा के लिये वे किसी स्थानीय भूमिपति के अधीन हो जाते थे। ऐसे ही ट्यूटनों में एक प्रथा चल पड़ी थी जिसके द्वारा लोग सुरक्षा के लिये अपने को सरदार के अधीन सौंप देते थे। सरदार उनकी रक्षा करता और वे सरदार की सेवा करते थे।

इसी प्रकार नवीं और दशवीं सदी में यूरोप में संकटपूर्ण अव्यवस्था का साम्राज्य फैला था। असभ्य तथा बर्बर जातियों के आक्रमण हो रहे थे। अराजकता का लगाम ढीला हो गया था। सर्वत्र छीना-झपटी, लूट-पाट, मार-काट का बाजार गर्म था। शंका तथा भय का वातावरण था। एक ओर बाहरी आक्रमण का भूत लोगों के सिर पर सवार था तो दूसरी ओर पारस्परिक फूट के कलंक का टीका लगा हुआ था। लोगों के जान-

माल, मान-मर्यादा सब संकट में पड़ गये थे। कोई शक्तिशाली और लक्ष्मी का पात्र भले ही था, लेकिन अकेले अपनी रक्षा करना कठिन ही नहीं, असम्भव प्रतीत होता था। सभी को अपने बलवान सहायक की आवश्यकता थी। ऐसी ही विषम तथा दूषित परिस्थिति में सामन्तवाद का उदय हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में पहले भी चर्चा की जा चुकी है।

सामन्तवाद के स्वरूप तथा आधार

सामन्त प्रथा एक मिश्रित सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठन थी। सेवा तथा भूमि के आधार पर इसकी नींव खड़ी की गई। धनी और गरीब, उच्च और नीच सभी को रक्षा की आवश्यकता थी। अतः इसकी अवस्था ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दोनों ही प्रकार की थी। धनी लोग अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को जमीन देते थे और इसके बदले में असामी को अपने स्वामी की सेवा करने के लिये प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इस प्रकार जो जमीन ली जाती थी उसे फीफ कहा जाता था और इसी शब्द से फ्यूडेलिज्म का निर्माण हुआ है। फीफ पाने वाला उन्हीं शर्तों पर अपनी भूमि का कुछ भाग दूसरों को दे कर स्वयं स्वामी बन जाता था। इस तरह लगातार जमींदार तथा असामी या स्वामी तथा सेवक का ताँता बँध गया। कभी-कभी साधारण भूमिपति अपनी जमीन किसी बलवान जमींदार को सौंप देते और पुनः फीफ के तौर पर उसे ले लेते थे।

सामन्त प्रथा का संगठन एक सीढ़ी के समान था। सबसे ऊपर राजा था और सिद्धान्ततः वही सर्वोच्च भूमिपति माना जाता था। वह स्वामी था किन्तु सेवक नहीं, जमींदार था किन्तु असामी नहीं। सबसे नीचे दास थे जो केवल सेवक व असामी थे परन्तु स्वामी नहीं। राजा और दास के बीच में जो लोग थे वे स्वामी और सेवक दोनों ही थे। वे अपने से ऊपर के व्यक्तियों के सेवक और नीचे के व्यक्तियों के स्वामी थे। इसका फल यह हुआ कि स्वामी के हाथ में भूमि नाममात्र के लिये ही रह गई, सारी भूमि असामियों के हाथ में हो गई। जमींदारों के हाथ में उनसे सेवा कराने का ही अधिकार रह गया।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिये कि जो फीफ दी जाती थी वह केवल असामी के जीवन भर तक के लिये नहीं दी जाती थी बल्कि वह उसके वंश में पैतृक सम्पत्ति मानी जाती थी। जब तक उसके वंशज शर्तों का पालन करते तब तक फीफ को उनके हाथ से कोई नहीं ले सकता था। इस तरह सामन्त-प्रथा क्रमशः रूढ़िगत बन गई।

जमींदार और असामी के कर्त्तव्य

ऊपर बताया गया है कि फीफ लेने वाले को अपने स्वामी की सेवा करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। भूमि लेने के लिये असामी को मालिक के पास जाना पड़ता था। वहाँ मालिक के सामने घुटने के बल बैठकर अपना हाथ उसके हाथ में रखकर प्रतिज्ञा

करनी पड़ती थी कि "इस भूमि के लिये आपका सेवक होता हूँ और सर्वदा सच्चे भाव से मैं आपकी सहायता करूँगा" तत्पश्चात् स्वामी उसकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा करता हुआ, उसे जमीन से उठाकर खड़ा करता था। सेवाएँ कई प्रकार की थीं। युद्ध काल में सैनिक सहायता करनी पड़ती थी और शान्ति काल में स्वामी के खेत में कुछ निश्चित काल के लिये काम करना पड़ता था। कुछ विशेष अवसरों पर आर्थिक सहायता भी देनी पड़ती थी जैसे मालिक के बन्दी होने पर, बड़े पुत्र के नाइट बनने पर तथा बड़ी पुत्री के विवाह के अवसर पर।

न्याय

मालीक की जमींदारी को मेनर कहा जाता था जिसमें उसके अपने किले, सैनिक तथा न्यायालय होते थे। मालिक न्यायाधीश का भी काम करता था और इन न्यायालयों में असामियों का मामला देखा जाता था। धार्मिक क्षेत्र के सिवा सर्वोच्च कानून की प्रथा नहीं थी। सामाजिक या राजकीय मामलों में आर्डियल तथा युद्ध के द्वारा अपराध की जाँच की जाती थी। आर्डियल दो प्रकार के होते थे अग्नि तथा गर्म जल सम्बन्धी। आग और गर्म जल को हाथ पर रखा जाता था। कोई घाव नहीं होने पर या कुछ निश्चित काल में घाव अच्छा हो जाने पर अपराधी निर्दोष समझा जाता था। अपराध जाँच करने और सजा देने की यह प्राचीन परम्परा थी। दो अपराधियों में द्वन्द्व-युद्ध भी कराया जाता था और विजेता को निर्दोष तथा विजित को अपराधी माना जाता था।

नाइट तथा किसान

मध्य युग में नाइट की पदवी गौरव एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक समझी जाती थी। अतः राजा तथा धनी-मानी लोग भी अपने पुत्रों को नाइट की पदवी देते थे। इससे विभूषित होने के लिये उत्साह व वीरता का प्रदर्शन आवश्यक था। नाइट युद्ध-कला में बड़े ही निपुण होते थे। ये विशेष प्रकार के सैनिक थे जो अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो घोड़े पर सवारी करते थे। सर्वत्र प्रत्येक नाइट के साथ एक सेवक भी रहता था। शूर-वीर होना उनका प्रधान गुण था। मध्य युग में टूर्नामेन्ट की प्रथा प्रचलित थी। यह युद्ध के समान था। दो नाइटों या व्यक्तियों के समूहों में युद्ध होता था। नाइट कवच पहनकर घोड़ों पर सवार हो युद्ध करते थे। यह प्रथा यूनानी खेल-कूद तथा रोमन सर्कस की प्रणालियों का याद दिलाती है।

कृषकों का काम था जमीन जोतना और फसल उपजाना। ये दो श्रेणियों में विभक्त थे—स्वतन्त्र कृषक (फ्री होल्डर) और परतन्त्र कृषक (सर्फ तथा गुलाम)। प्रथम श्रेणी के कृषकों की दशा साधारणतः अच्छी थी। उन्हें जागीरदार को केवल रुपया देना पड़ता था और वे अपनी इच्छा से उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकते थे। उन्हें राजा के न्यायालय में अपील करने का भी अधिकार प्राप्त था। किन्तु परतन्त्र कृषकों को ये सभी सुविधाएँ

नहीं प्राप्त थीं। लेकिन इनमें दासों की अपेक्षा सर्फों की दशा अच्छी थी। सर्फों को नकद और उपज का कुछ भाग मालिक को देना पड़ता था। किन्तु स्वामी स्वामी-स्वेच्छानुसार दासों की तरह उनकी खरीद बिक्री नहीं कर सकता था। दासों का तो क्रय-विक्रय होता था और उनसे कड़ा काम तथा अनेक प्रकार की बेगारी ली जाती थी जैसे बाग-बगीचों का लगाना, गड्ढों का खोदना आदि।

इस प्रकार जागीरों के निवासी दो पृथक् श्रेणियों में विभक्त थे—धनी और गरीब। दोनों के जीवन-स्तर में बहुत बड़ा अन्तर था। धनियों का जीवन आशा, उत्साह, भोग-विलास तथा आलस्य से परिपूर्ण था तो गरीबों का निरुत्साह, संघर्ष, कष्ट और कार्य-भार से। धनियों के घर में समय पर उत्सव त्यौहार आदि होते रहते थे किन्तु निर्धनों को इन चीजों के लिये अवसर का नितान्त अभाव था। वे अपने मालिकों के ही घर जाकर ऐसे अवसरों पर मन बहलाव कर लेते थे और अपने दिल को शान्ति दे लेते थे।

सामन्त प्रथा के गुण-दोष

सामन्त प्रथा के अनेक गुण थे। इसने समय की बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी की। दुर्बल केन्द्रीय शक्ति तथा अराजकता के युग में इसके द्वारा शान्ति एवं व्यवस्था कायम रही। राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक सभी दृष्टियों से यह प्रथा बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई। कार्य तथा अधिकार का विभाजन हो गया। न्याय का कार्य तीव्र गति और उचित तरीके से होने लगा। आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करने में सुविधा हो गयी। लोगों को राजनीतिक अनुभव होने लगा। कृषि का काम सुचारु रूप से होने लगा। स्वेच्छाचारी केन्द्रीय शासन की नींव कमजोर पड़ गयी। इसी प्रथा के फलस्वरूप भूमिपतियों ने संगठित होकर इंगलैण्ड के राजा जौन से मैग्नाकार्टा स्वीकृत कराया। लोगों में शूर-वीरता की भावना विकसित हुई और चरित्र उन्नत हुआ।

सामन्त प्रथा के गुणों पर विचार करने के पश्चात् इसके अवगुणों का अवलोकन करना चाहिये। इसका सबसे महान् दोष यह था कि इससे अराजकता तथा विद्रोह की भावना को प्रोत्साहन मिलता था। वैधानिक नियमों की अपेक्षा हिंसात्मक तरीकों की प्रधानता थी। केन्द्रीय शक्ति कमजोर थी। राजा या सम्राट और जनता के बीच कई खाइयाँ थीं जिन्हें पार करना आसान नहीं था। एक देश के अन्दर एक राजा के बदले कई राजा थे और कमजोर राजा के रहने पर अधीनस्थ राजा विद्रोह कर देता था। इससे शक्तिशाली और राष्ट्रीय राज्य का उत्थान संभव नहीं था। इंगलैंड इसके अपवाद स्वरूप था। वहाँ प्रथम नार्मन राजा ने यह नियम बना डाला कि सभी लोग, चाहे वे राजा से भूमि लिये हों या नहीं, उसके प्रति राजभक्ति की शपथ लें। इस तरह वहाँ सुदृढ़ शासन स्थापित हुआ। फिर भी कई सदियों तक भूमिपतियों का बोलबाला रहा था और शासन को उन्होंने विशेष प्रभावित किया था। सामन्त प्रथा ने युद्ध की प्रवृत्ति को भी जाग्रत

किया और इससे युद्ध-कला का विकास हुआ। इस प्रथा ने धनी तथा निर्धनों के बीच गहरी खाई खोदी और कालान्तर में कटुता की भावना उत्पन्न की।

सामन्त प्रथा का पतन

लगभग १५वीं सदी से सामन्त प्रथा का अंत होने लगा। इसके कई कारण थे। राज्य का सर्वप्रधान राजा था। काल क्रम के साथ लोगों की श्रद्धा उसमें बढ़ती गयी और वह शक्तिशाली होने लगा। सामन्त राज्य के कर्मचारी के रूप मे परिवर्तित होने लगे जिनका काम था राज्य के कानूनों और राजाज्ञाओं को कार्यान्वित करना। बारूद का आविष्कार हुआ था। यह राजाओं के ही अधिकार में था। इसके आविष्कार से राजा की शक्ति में वृद्धि हो गई और भूमिपतियों के किलों का महत्व जाता रहा। धर्म सुधार तथा पुनरुत्थान के आन्दोलनों से भी इसे बहुत गम्भीर धक्का लगा। वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति के साथ-साथ नवीन नगरों का निर्माण हुआ और नगरों में मध्यम वर्ग का उत्थान हुआ। इस वर्ग के लोग योग्य और शिक्षित होते थे और वे अधिकार प्राप्त करने के लिये उत्सुक थे। अतः इसके लिये वे राजा को धन देने लगे। इससे भी राजा की शक्ति में वृद्धि हुई। वह अपनी स्थायी सेना रखने लगा जिससे अब अपने अधीनस्थ भूमिपतियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता जाती रही। वाणिज्य व्यापार की उन्नति से अब भूमि के ही रूप में धन सीमित नहीं रहा बल्कि वह दूसरे रूपों में भी पाया जाने लगा। राज-शक्ति की वृद्धि को देखकर चर्च ने राजाओं का साथ दिया। कितने पादरी तो स्वयं सामन्त थे अतः राज्यपक्ष की ओर उनके चले जाने से सामन्त प्रथा में कमजोरी उत्पन्न होना स्वाभाविक था। सामन्त आपस में लड़ाई-भिड़ाई भी करते थे। गुलाबों का युद्ध इसका एक बड़ा उदाहरण है। इस तरह के पारस्परिक युद्ध के कारण कितने पुराने सामन्त मर मिटे। इस प्रकार सामन्त प्रथा का सूर्यास्त हो चला।

(घ) चर्च तथा मठ

मध्य युग में चर्च की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी और यह साम्राज्य से भी टक्कर लेने लगा था। आजकल के भारतीय मन्दिरों के समान चर्च (गिरजा घर) केवल पूजा पाठ का ही स्थान नहीं था बल्कि एक उपयुक्त शिक्षालय भी था। चर्चों में शिक्षित एवं विद्वान् रहते थे और लैटिन के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। राज्य में भी पादरी बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त होते थे। टामस बेकट, वूल्जे आदि जैसे राजनीतिज्ञ पादरी ही थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किस तरह अन्ध-युग में चर्च ने विद्या-प्रचार का कार्य कर प्रकाश-किरण को फैलाया। इसी के प्रभाव से सामन्त-युग में निर्दयता की भीषणता कुछ दबी सी रही। इसी की छात्र-छाया में दैविक क्षणिक सन्धि स्थापित की जाती थी और इस काल में सबों को शान्ति के नियम का पालन करना अनिवार्य कर्त्तव्य था।

हर एक नगर में कई चर्च पाये जाते थे। गाँवों में भी गिरजाघरों का अभाव नहीं

था। ये निर्माण-कला के उत्तम उदाहरण थे। धार्मिक तथा शिक्षा केन्द्र के सिवा ये सामाजिक केन्द्र भी थे। जन्म-मरण, विवाह-शादी सभी उत्सवों से चर्च का सम्बन्ध था। अतः लोगों के जीवन को प्रभावित करने में चर्च का विशेष हाथ था।

चर्च के समान मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे। एक लेखक के शब्दों में "मठ, विद्यालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, छापाखाना, साहित्यिक केन्द्र तथा मध्य काल के कार्य घर थे।" वेनिडिक्ट सम्प्रदाय की चर्चा की जा चुकी है। यह सम्प्रदाय दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता रहा और यूरोप में इसने अपना सिक्का जमा लिया। इसी सम्प्रदाय के २४ पोप हुये थे और लगभग ४½ हजार विशप तथा आर्क विशप। इस सम्प्रदाय ने हजारों की संख्या में लेखक भी उत्पन्न किया। मठ, विधवाश्रम तथा अनाथालय भी थे जहाँ गरीबों, अनाथों और आहतों को शरण मिलती थी। मठ सराय भी थे जहाँ यात्रियों को विश्राम के लिये सभी सुविधाएँ दी जाती थीं।

१३वीं सदी के प्रारम्भ में दो और वैरागी सम्प्रदायों का उदय हुआ—फ्रांसिस्कन तथा डोमिनीकन। पहले का संस्थापक सन्त फ्रांसिस नाम का एक इटालियन था और दूसरे का संत डोमिनीक नाम का एक स्पेन निवासी। पोप तृतीय ने दोनों सम्प्रदायों को स्वीकार कर लिया था। जब चर्च के गौरव का ह्रास होने लगा था उसी समय इन दोनों सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। अतः इन दोनों का एक प्रधान उद्देश्य था चर्च की रक्षा करना। किन्तु फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय अधिक शांतप्रिय था और दीन दुखियों की सेवा करने में ही इसकी विशेष अभिरुचि थी। रोगियों तथा कोढ़ियों की सेवा की जाती थी। डोमिनीक सम्प्रदाय में लड़ाकू प्रवृत्ति अधिक पायी जाती थी लेकिन दोनों में बड़े-बड़े विद्वान् भी पाये जाते थे। मध्य युग के विद्वान् रोजर वेकन फ्रांसिस्कन था और टामस एक्वीनस डोमिनीकन।

कालान्तर में गिरजाघरों तथा मठों में अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं और उनके विरुद्ध आवाज उठने लगी। वे सांसारिकता तथा भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गये। पादरी तथा महन्त भोग-विलासपूर्ण कुत्सित जीवन व्यतीत करने लगे और अब उनका प्रभाव जाता रहा। गिरजों तथा मठों में लोगों की श्रद्धा जाती रही और वे मूल सादगी, सरलता तथा पवित्रता पर जोर देने लगे। कितने सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ। लेकिन अधिकारियों ने "मरता क्या नहीं करता" वाली कहावत चरितार्थ की। जब उनके स्वार्थों में भीषण धक्का लगने की आशंका हुई तो उन्होंने चट विकराल सैनिक रूप धारण किया। वे विरोधियों के प्रति क्रूर तथा अन्यायी बन गये और पशु-पक्षियों की भाँति उनका शिकार करने लगे। उनके विरुद्ध धर्म युद्ध का श्रीगणेश हुआ। इन्क्विजीशन नामक न्यायालय स्थापित हुये जो किसी फौजी अदालत से कम नहीं थे। विरोधियों को फाँसी के झूलों पर झुलाया जाता; उन्हें अग्नि में झुलसाया और जलाया

जाता। हज़ारों की संख्या में नर-बलिदान हुए। धर्म के नाम पर इस घोर अमानुषिकता का प्रदर्शन हो रहा था। लेकिन शक्ति तथा सत्ता से मदांध अधिकारी वर्ग यह नहीं समझता कि विनाश-काल में विपरीत बुद्धि हो जाती है। वे यह नहीं समझ पाते कि जो कार्य भक्ति से हो सकता है वह शक्ति के सहारे नहीं हो सकता; किसी के शरीर पर अधिकार किया जा सकता है, उसके दिल-दिमाग़ पर नहीं; किसी व्यक्ति को प्राण दण्ड दिया जा सकता है, उसके सिद्धान्तों का गला नहीं घोंटा जा सकता है। अतः अधिकारियों के घोर दमन से विरोध की ज्वाला मन्द तो हुई लेकिन बुझी नहीं और समय पाकर शहीदों के खून से वह और भी प्रज्ज्वलित हो उठी। विरोधियों में अंग्रेज पादरी जॉन विकलिफ (१३२०-८४ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसके अनुयायी लोलार्ड के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हे कुचलने का भरपूर प्रयत्न किया गया किंतु उन्हें दबाने का प्रयत्न क्या था मानो विष का बीज बोना था जो धर्म-सुधार (रिफॉर्मेशन) आन्दोलन के रूप में प्रतिफलित हुए। विकलिफ लूथर के मार्ग निर्देशक सिद्ध हुए और उसे "धर्म सुधार के प्रभात-तारा" की उपाधि से विभूषित तथा सम्मानित किया गया।

(ङ) नगर निर्माण

भूमिका

मध्यकालीन यूरोप में नगरों का विकास हुआ, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि इसके पहले यूरोप में नगर था ही नहीं। रोमन साम्राज्य में कई नगर स्थापित हुए थे लेकिन उसके पतन के बाद बर्बर जातियों के आक्रमण के कारण उनका ह्रास होने लगा। १०वीं सदी के बाद से जब वे जहाँ-तहाँ बस गये, प्राचीन नगरों का पुनरुत्थान होने लगा और नवीन नगरों की स्थापना होने लगी।

कारण

मध्ययुग में नगरों की उन्नति होने के कई कारण थे। सामन्तों के दुर्गों या मठों के निकट नगर बस गये। जनसंख्या की वृद्धि होने से उनके विकास में मदद मिली। सड़क के चौराहों, नदियों के तटों, बन्दरगाहों, तीर्थ स्थानों, मेलों तथा बाजारों के आस-पास नगर बस गये। जहाँ राजधानियाँ थीं वहाँ स्वाभाविक ही नगर स्थापित हो गये। कई जगहों में रक्षा के हेतु नगर बसाये गये। जो स्थान व्यापार तथा कला-कौशल के केन्द्र थे वे भी नगरों में परिणत हो गये। बर्बर जातियों में क्रमशः सभ्यता का विकास होने लगा था जिससे नगरों के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण उत्पन्न हो गया था।

नगरों के प्रकार

नगरों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। परतंत्र तथा स्वतंत्र। परतंत्र नगर किसी सामन्त यानी राजा, सम्राट्, काउन्ट, ड्यूक या बिशप की जागीर में स्थित थे। अतः उन

पर सामन्तों का अधिकार था और नगर-वासियों को उन्हें कई प्रकार के कर देना पड़ता था। स्वतंत्र नगरों को सामंत या सम्राट की ओर से नगर-वासियों को एक चार्टर दिया जाता था जिसमें उनके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का विशद वर्णन रहता था।

नगर-विकास के स्वरूप

नगरों के विकास के दो स्वरूप थे। बाह्य दृष्टि से नगरों का लक्ष्य था व्यापार का समुचित प्रसार और आन्तरिक दृष्टि से विभिन्न पेशों का संघों के रूप में सुदृढ़ संगठन।

मध्यकाल में वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में अनेकों कठिनाइयाँ थीं। आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का सर्वथा अभाव था। थल और जल दोनों ही मार्ग असुरक्षित थे। सड़कें अच्छी नहीं थीं और समुद्र लुटेरों से भरा हुआ था। सिक्कों का अभाव था और सूद पर लेन-देन करना भी मना था। केवल यहूदी लोग सूद पर रुपया चला सकते थे किन्तु वे बहुत कड़ा सूद लेते थे। १३वीं सदी में कुछ इटली निवासी आर्थिक लेन-देन का काम करने लगे थे। वे सूद तो नहीं लेते थे किन्तु निश्चित काल पर रुपया नहीं मिलने से जुर्माना लेते थे। जगह-जगह पर चुंगी चुकानी पड़ती थी।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी वाणिज्य-व्यवसाय तथा कला-कौशल के क्षेत्रों में अद्भुत प्रगति हुई। नगरों में बहुत वस्तुओं का निर्माण होने लगा और बहुत-सी चीजें बाहर से मँगायी जाने लगीं। इस तरह अनेक चीजों का आयात-निर्यात होने लगा। व्यापार तथा उद्यमों की रक्षा के हेतु संघ स्थापित होने लगे थे जिन्हें व्यापार संघ तथा उद्यम संघ कहते हैं। प्रत्येक नगर में इन संघों का ताँता बँध गया। दोनों प्रकार के संघों का कार्य क्षेत्र पृथक् था। साधारणतया नगर के व्यापार की देखभाल करना व्यापार संघ का काम था और किसी खास उद्योग के कार्य-कर्ताओं के स्वार्थों की रक्षा करने का भार उद्योग संघ पर रहता था। किन्तु दोनों प्रकार के संघों में कोई संघर्ष नहीं था बल्कि वे एक दूसरे के पूरक स्वरूप थे। एक संघ के सदस्य दूसरे संघ के भी सदस्य थे और कई जगहों में उद्योग संघ व्यापार संघ की शाखाओं के रूप में स्थित थे। यदि कहीं द्वेष था तो यह अपवाद स्वरूप था।

व्यापार संघ वस्तुओं की खरीद बिक्री पर नियंत्रण रखता था और सभी व्यापारिक कुरीतियों को रोकने का प्रयत्न करता था। किन्तु यह वर्त्तमान व्यापार संघों से भिन्न था। इसमें केवल स्वामी या केवल कर्मचारी ही नहीं रहते थे बल्कि यह मालिक तथा कार्यकर्ता दोनों ही का संयुक्त संघ था। दूसरी बात यह है कि केवल आर्थिक दृष्टि से ही व्यापार संघ की महत्ता नहीं थी, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण था। संघ सामाजिक केन्द्र था जो आमोद-प्रमोद का साधन था। संघ के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना थी। यदि किसी आकस्मिक घटना से किसी सदस्य की क्षति होती थी तो संघ की ओर से उसे सहायता दी जाती थी। बहुमूल्य स्वतंत्रता

की रक्षा करना भी संघ का उद्देश्य था। सामंतों और सम्राटों को दुर्ग बनाने या युद्ध करने के लिए जब धन की आवश्यकता पड़ती थी तो व्यापारियों से धन लेकर वे उन्हें कुछ अधिकार दे देते थे। अतः वे इस तरह की खरीदी हुई स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिये विशेष रूप से जागरुक थे और वे इसमें न तो किसी का हस्तक्षेप होने देना चाहते थे, और न किसी बाहरी व्यक्ति का हाथ बटने देना। संघ के प्रसिद्ध कर्मचारी नगर के कर्मचारी थे और संघ-भवन नगर-भवन में बदल गया जहाँ नगर-सभा का कार्य संचालन होने लगा।

प्रत्येक प्रमुख उद्योग के लिये अलग-अलग उद्यम संघ था और व्यापार संघ के समान ही यह भी संगठित था। सोनार, जुलाहे, हलवाई, कसाई आदि सभी वर्गों के अपने-अपने संघ थे। प्रत्येक संघ में तीन प्रकार के लोग होते थे। सबसे नीचे नवसिख थे जो बिना वेतन पाये मालिक के यहाँ रह कर काम करते थे। तत्पश्चात् वे "जर्नीमेन" होते थे जब उन्हें कुछ वेतन पर काम करना पड़ता था। अन्त में पूर्ण शिक्षित होने पर वे स्वयं मालिक बन सकते थे। व्यापार संघ के समान उद्यम संघ भी सामाजिक केन्द्र था और संघ की ओर से असहायों तथा गरीबों को सहायता दी जाती थी। संघ की देख-रेख में विद्यालय स्थापित थे और मध्यकाल में नाटक के विकास के लिये भी उसे श्रेय प्राप्त है।

नगरों में प्रतिद्वन्द्विता की भावना काम कर रही थी किन्तु कई नगर पारस्परिक स्वार्थों की रक्षा और बाहरी आक्रमण से बचने के लिये एक संघ में सम्मिलित हो गये थे। इस तरह इटली में लोमबार्ड संघ तथा जर्मनी में हेन्सियाटिक संघ का निर्माण हुआ। हेन्सियाटिक संघ बहुत ही प्रसिद्ध था। हेन्सियाटिक "हेन्स" शब्द से बना है जिसका अर्थ जर्मन भाषा में संघ या संयोग होता है। इसमें ८० से अधिक नगर सम्मिलित थे और इसका प्रभाव रूस में नवगोरोड से लेकर लंदन तक फैला था। १३५० से १४५० ई० तक के काल में यह संघ अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। बाल्टिक तथा उत्तरी सागर के समूचे व्यापार पर इसे एकाधिकार सा प्राप्त था और रूस, डेनमार्क आदि समीपवर्ती देशों में इसकी फैक्टरियाँ खुली थीं। इसके अधीन एक विशाल जहाजी बेड़ा था जिससे समुद्री डाकुओं का सफलतापूर्वक सामना किया जाता था। संघ की शक्ति का परिचय इसी से मिल जाता है कि इसने डेनमार्क से युद्ध कर उसे पराजित किया था।

नगरों की स्थिति

यों तो पश्चिमी यूरोप के प्रायः सभी देशों में नगरों की स्थापना हुई थी किन्तु इटली तथा जर्मनी के नगर अधिक प्रसिद्ध और उन्नतिशील थे। इटली में जेनेवा, वेनिस तथा फ्लोरेन्स बड़े नगर थे जो भूमध्यसागर में व्यापार के प्रधान केन्द्र बन गये। स्पेन

तथा फ्रांस के नगरों का उत्तरी अफ्रीका के अरबों के साथ और इटली के नगरों का पूर्वी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। १५वीं सदी में वेनिस यूरोप के व्यापार का प्रधान केन्द्र बन गया। चीन, भारत, ईरान अरब आदि देशों से माल पहले वेनिस में पहुँचता था और वहाँ से यूरोप के विभिन्न देशों में भेजा जाता था। इसके अधीन एक विशाल जहाजी बेड़ा भी रहता था। दक्खिनी जर्मनी में नूरेमबर्ग और ऑग्सबर्ग के नगर प्रसिद्ध थे क्योंकि वेनिस से भेजा हुआ माल इन्हीं नगरों से होकर उत्तरी यूरोप में जाता था। इंगलैंड तथा बाल्टिक समुद्र के साथ व्यापार होने से हैम्बर्ग, ब्रमेन आदि नगर स्थापित हुए। राईन नदी के तट पर कोलन अधिक प्रसिद्ध था। नीदरलैंडस् में घेंट तथा ब्रुजेश मुख्य नगर थे।

सांस्कृतिक महत्त्व

नगर बराबर ही सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्र होते हैं। इसके कई कारण हैं। नगरों में हर प्रकार के लोग रहते हैं जिनमें अधिकाश पढ़े-लिखे तथा धनी-मानी होते हैं। अनेक विद्यालय तथा वाचनालय पाये जाते हैं। यातायात की सुविधा रहती है। तरह-तरह के वाणिज्य व्यवसाय होते हैं। विचार विनिमय होता रहता है। उत्तर कालीन मध्ययुग में भी नगर सभ्यता व संस्कृति के केन्द्र थे। बर्बरता की मरुभूमि में वे शाद्वल स्थान के तुल्य थे। समाज, राजनीति तथा कला-कौशल के क्षेत्रों में इनका व्यापक प्रभाव पड़ा। वाणिज्य व्यापार की उन्नति से नगरों में मध्यम् वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्ग शिक्षित तथा धनी था। अतः राजा, सरदार या पादरी सभी लोग इसे सम्मान की दृष्टि से देखते थे और इसकी सहायता के लिये उत्सुक रहते थे। समाज में इस वर्ग के लोगों का सिक्का जमने लगा और ये विभिन्न अधिकारों की माँग करने लगे। उनके रगों में प्रजातांत्रिक भावना भरी थी। इससे सामन्त प्रथा की नींव हिल गई और लोक प्रतिनिधि प्रणाली का उदय हुआ। शिक्षा तथा कला के विकास पर नगरों का अपूर्व प्रभाव पड़ा। निर्माण जगत् में गोथिक शैली का विकास हुआ। विशाल मेहराब, ऊँची मीनारें, पत्थरों पर खुदाई, सुन्दर चित्र इस शैली की कुछ विशेषतायें थीं। इस शैली में अनेकों भवन तथा गिरजा-घर बने। इसका सर्वोत्तम उदाहरण कोलन का गिरजाघर है। संगीत तथा चित्रकारी में भी खूब उन्नति हुई। कला तथा विद्या के विकास के लिये फ्लोरेन्स नगर का विशेष महत्व है। इससे पाठक के मानसपट पर प्राचीन एथेन्स का चित्र उपस्थित हो जाता है। माइकेल एंजेलो, लियोनार्डो, वेरोशियो तथा बटिशेली यहाँ के सुविख्यात कलाकार थे।

त्रुटियाँ

यह पहले ही कहा गया है कि नगरों में पारस्परिक द्वेष की भावना वर्त्तमान थी और वे प्राचीन नगरों के समान प्रायः आपस में लड़ाई-भिड़ाई किया करते थे। प्रत्येक नगर

का निवासी अपने को ही सब कुछ समझता था। उनमें स्थानीय प्रेम की प्रधानता थी और देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण अभाव था। एक नगरनिवासी दूसरे नगर में विदेशी समझा जाता था। उदाहरणार्थ जेनेवा का निवासी अपने को वेनिस या इटली का निवासी नहीं समझता था। प्राचीन नगरों की भाँति मध्यकालीन नगरों को भी स्वायत्त शासन प्राप्त था। प्रत्येक नगर-राज्य की व्यवस्था अलग-अलग थी। उपर्युक्त कथन अन्य देशों की अपेक्षा इटली तथा जर्मनी के नगरों के लिए विशेष रूप से लागू थे। इन देशों में स्थानीय स्वार्थ की इतनी प्रधानता थी कि १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही राष्ट्रीयता जैसी भावना का विकास सम्भव हो सका। अतः अधिक काल तक नगर राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण में बाधक सिद्ध हुए। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो संकीर्ण वातावरण प्रचलित था वही सांस्कृतिक विकास के लिये उपयुक्त साबित हुआ।

दूसरी बात यह स्मरणीय है कि मध्यकाल में नागरिक जीवन आजकल की उपेक्षा कम सुखमय था। सड़कें तथा गलियाँ संकीर्ण होती थीं और प्रकाश तथा जल के लिये कोई समुचित प्रबन्ध नहीं था। स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन करने के लिए कोई कड़ा प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। शासक एवं प्रजा दोनों ही स्वच्छता की ओर अन्य-मनस्क थे। अतः नाना प्रकार की बीमारियों का जाल सा बिछा रहता था। अग्नि का भी समय समय पर प्रकोप होता रहता था। चोर, लुटेरों, गुण्डों तथा शराबियों की भी कोई कमी नहीं थी। बाजारों में शोरगुल का साम्राज्य था। रात्रि में सुरक्षा के अभाव से भद्र पुरुष अपने घर से बाहर नहीं निकल सकते थे। लेकिन इन सभी असुविधाओं के होते हुए भी नागरिक जीवन ग्राम्य जीवन की तुलना में अधिक सुखमय था। साधारण बुद्धि तथा स्थिति का व्यक्ति भी आसानी से उन्नति कर सकता था। नगरनिवासियों को नागरिकता का अधिकार मिलता था और उन्हे नागरिक कर्त्तव्य के पालन का अभ्यास कराया जाता था। नगर में यातायात तथा आमोद-प्रमोद के साधन भी अधिक होते थे।

(च) राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण

प्राक्कथन

अब तक नगर-राज्यों के विषय में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है किन्तु राष्ट्रीय राज्यों से पाठक अभी तक अनभिज्ञ रहे हैं। यों तो राष्ट्रीय राज्य का निर्माण आधुनिक-युग की एक प्रमुख विशेषता है किन्तु मध्यकाल में भी इसका श्रीगणेश हो चुका था। राष्ट्रीय राज्य की सीमा नगर-राज्य की सीमा की उपेक्षा अधिक विस्तृत होती है जिसके अन्दर पर्याप्त संख्या में लोग बसते हैं। ये सभी लोग प्रायः एक भाषा, धर्म और परम्परा के मानने वाले होते हैं और राज्य में एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित रहता है।

१०वीं सदी तक यूरोप में ऐसे राज्यों का सर्वथा अभाव था किन्तु उसके बाद इटली तथा जर्मनी को छोड़ कर पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीय राज्य का विकास होने लगा था।

यह पहले बताया जा चुका है कि इटली तथा जर्मनी में राष्ट्रीय राज्यों के विकास में नगर-राज्य बड़े बाधक थे। इन देशों में पवित्र रोमन सम्राट् का प्रभाव था और उसकी कमजोरी से लाभ उठाकर नगर राज्य स्वतंत्र होने लगे थे। सामंत प्रथा भी राष्ट्रीय राज्य के विकास में रुकावट थी। इससे केन्द्रीय शासन में दुर्बलता आती थी। जर्मनी में सम्राट की अपेक्षा उसके अधीनस्थ सरदार अधिक शक्तिशाली थे। वहाँ सैकड़ों अधिकारी थे जो नाम के लिये सम्राट के अधीन थे, किन्तु व्यवहार में उससे स्वतंत्र थे। साधारण नाइट भी अपने को स्वतंत्र मानते थे और लूट-पाट के जरिये अपनी जीविका चलाते थे। एक कथित राष्ट्रीय सभा थी जो राजधानी के अभाव में जहाँ तहाँ बैठक करती थी। इसका नाम "डायट" था। इसके निर्णय का सर्वत्र पालन नहीं होता था।

इटली में भी अनेक अधिकारी थे। उत्तरी प्रदेश पवित्र रोमन साम्राज्य का अंग था और दक्षिण में नेपुल्स तथा सिसली के राज्य थे। सेवाय तथा मिलान में दो ड्यूकों का शासन था और कुछ प्रदेश पोप के अधीन थे। कुछ स्वतंत्र नगरराज्य थे।

इस प्रकार जर्मनी तथा इटली चिरकाल तक केवल भौगोलिक संकेत के रूप में ही स्थित रहे। आस्ट्रिया में भी राष्ट्रीयता का अभाव था। चार्ल्स पंचम (१५२०-१५५६ ई०) एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी तो था, किन्तु उसका शासन सफल नहीं था। वह तुर्कों का भी सामना न कर सका और उनके सामने उसे झुकना पड़ा।

लेकिन पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में राष्ट्रीय-राज्यों का विकास हुआ। इसके कई कारण थे। सामंत-प्रथा की त्रुटियों से राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना में भी सहायता मिली। कई जगहों में सामन्त स्वयं स्वार्थी तथा शोषक बन गये। लोगों के दिल में अपनी सुरक्षा के विषय में शंका उत्पन्न हो गयी। अतः वे सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की आवश्यकता अनुभव करने लगे। ईसाई धर्म के प्रचार और चर्च के संगठन से लोगों में एकता की भावना जाग्रत हुई। धार्मिक एकता के बाद राजनीतिक एकता स्थापित करना आसान कार्य था। मध्यकाल में रोमन कानून तथा नियमों का प्रयोग होता था और इनके द्वारा सम्राट की शक्ति के विकास के लिए विशेष प्रोत्साहन मिलता था क्योंकि वे सम्राट के ही अधिकार का समर्थन करते थे। इन सभी कारणों से सर्वत्र शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न होने लगा। इसका अर्थ था शक्तिशाली सम्राट का शासन। अतः पहले प्रायः सभी देशों में राजतंत्र-प्रणाली का उदय होने लगा। १६वीं सदी के लगभग जब सम्राट या राजा स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करने लगे तो यूरोप में निरंकुश शासन-प्रणाली स्थापित हुई। जब उनकी स्वेच्छाचारिता सीमा का उल्लंघन करने लगी तो १८वीं तथा १६वीं सदी में उनके विरुद्ध विद्रोह की

अग्नि भड़कने लगी और क्रान्ति का शंखनाद होने लगा। इसके परिणामस्वरूप जहाँ तहाँ नियमानुकूल और गणतंत्र-शासन-प्रणालियाँ स्थापित होने लगीं।

इंगलैंड

ब्रिटेन से रोमनों के हटने के बाद ऐंगल, सैक्सन तथा जूट जातियाँ जर्मनी से जाकर वहाँ बस गईं और ब्रिटेन का नाम इंगलैंड पड़ा। सैक्सन जाति के सम्राट एग्बर्ट तथा अल्फ्रेड महान् के राज्य-काल में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की ओर प्रथम कदम उठाया गया। ११वीं सदी के प्रारम्भ में कैन्यूट नाम के डेन के समय में राज्य का और भी अधिक संगठन किया गया।

१०६६ ई० में नार्मण्डी के विलियम ने इंगलैंड पर विजय कर नार्मन वंश का राज्य चला गया। उसने पहले की अपेक्षा सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित किया। उसने प्रत्येक व्यक्ति की हैसियत का विवरण तैयार कर पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दिया और सलिस्बरी की शपथ के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के लिये राजभक्ति की शपथ लेना अनिवार्य कर दिया। जर्मन जातियों और नार्मनों के मिश्रण से एक शक्तिशाली राष्ट्र तथा भाषा का निर्माण हुआ। १२०४ ई० में जब नार्मण्डी अंगरेजों के हाथ से निकल गया तो राष्ट्रीय भावना और भी अधिक जाग्रत हुई। हेनरी तृतीय के समय में पोप के अधिकार का विरोध होने लगा और राष्ट्रीय शासन का प्रयत्न सामंतों तथा पादरियों के प्रतिनिधियों के सिवा नगर तथा काउण्टी के भी प्रतिनिधि बुलाये जाने लगे। निर्वाचन प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। एडवर्ड प्रथम के समय में राष्ट्रीय राज्य तथा राष्ट्रीय शासन स्थापित करने का विशेष प्रयत्न हुआ। यहूदी देश से निकाले गये, सामंत दबाये गये, चर्च पर प्रभाव कायम किया गया, वेल्स को जीता गया और स्कॉटलैंड पर आक्रमण किया गया। तत्पश्चात् फ्रांस के साथ सौ वर्षीय युद्ध हुआ जो राष्ट्रीय भावना का ही एक परिणाम था। इसके फलस्वरूप फ्रांस से अंगरेजों का बहिष्कार हो गया। उसके बाद भीषण गृह-युद्ध हुआ जिसमें सामन्तों की शक्ति का बहुत ही ह्रास हुआ। अतः ट्यूडर वंश के राजाओं के अधीन (१४८५-१६०३ ई०) शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। अब चर्च का राष्ट्रीयकरण हो गया और मध्यम वर्ग को कई अधिकार प्राप्त हुए। अब देशभक्ति की भावना जाग्रत होने लगी और अंगरेज इंगलैंड की व्यापारिक प्रगति के लिये बाहर प्रस्थान करने लगे।

फ्रांस

इंगलैंड की अपेक्षा फ्रांस में राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने में विशेष समय लगा। इसका कारण फ्रांस में सामन्त प्रथा का जोर था। यहाँ सम्राट की शक्ति कमजोर थी और सामंत बड़े ही शक्तिशाली थे। १०वीं सदी के अंत में शार्लमेन के वंशजों के शासन

के समाप्त होने पर ह्यू ग कैपेट नामक एक सरदार सम्राट नियुक्त हुआ और वह तथा उसके वंशज सैकड़ों वर्ष तक फ्रांस में राज्य करते रहे।

१२वीं सदी के अंत तक फ्रासीसियों में राष्ट्रीयता की भावना पनपने लगी थी और इसका विशेष श्रेय फिलिप आगस्टस या द्वितीय को है। वह फ्रास का एक महान् भूमिपति बन बैठा उसने और अन्य सामंतों को दबाया। सामंती कर्मचारियों को पदच्युत कर सरकारी कर्मचारियो को नियुक्त किया। उसने इंगलैंड के सम्राट जान को हराकर उसका फ्रासीसी साम्राज्य अधिकृत कर लिया। उसने फ्लैंडर्स के काउन्ट तथा बर्गन्डी के ड्यूक के अधीन संगठित विरोधियों को पराजित किया। इस तरह उसने ४३ वर्षों (११८०-१२२३ ई०) के अपने शासनकाल में फ्रास को सुदृढ़ राज्य बना डाला। नवें लूई के समय (१२२६-१२४०) राज्य का और भी अधिक संगठन हुआ। वह धार्मिक विचार का व्यक्ति था उसने केन्द्रीय न्यायालय की प्रधानता स्थापित की।

लूई का पौत्र फिलिप चतुर्थ बड़ा ही प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने २६ वर्षों तक (१२८५-१३१४ ई०) शासन किया। वह बहुत ही योग्य तथा उत्साही व्यक्ति था। उसने फ्रांस में सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के लिये कमर कस ली थी। अतः उसने पादरियों पर कर लगाया और उनके मामलों को देखने के लिये राजकीय न्यायालयों को अधिकार दिया। इस पर पोप बोनीफेस अष्टम् ने क्रुद्ध हो उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया। फिलिप ने जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये पार्लियामेण्ट बुलाई। पार्लियामेंट ने पोप को कर नहीं देने के प्रस्ताव का समर्थन किया। बोनीफेस का उत्तराधिकारी फिलिप का मित्र था और वह १३०५ ई० से दक्षिणी फ्रांस में आकर रहने लगा। इससे चर्च के गौरव में धब्बा लगा और सम्राट की शक्ति में वृद्धि हुई। किन्तु फ्लैडरों ने सम्राट के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। फिलिप ने साहसपूर्वक उनका सामना किया और इसमें कितने सामंतों ने अपने प्राणों से हाथ धो दिये। इससे सम्राट का हाथ मजबूत ही हुआ।

फिलिप के मरने के बाद इंगलैंड तथा फ्रांस में युद्ध शुरू हुआ। यह १३३८ ई० से १४५३ ई० तक चलता रहा और शतवर्षीय युद्ध के नाम से इतिहास में विख्यात है। पहले तो अंगरेज विजयी हो रहे थे और फ्रासीसियों का भविष्य अन्धकारमय मालूम होता था। परंतु जोन आफ आर्क नामक एक कृषक लड़की के प्रयास से युद्ध की गति में परिवर्त्तन हो गया और अंगरेजों की फ्रास से विदाई हो गयी। उनका फ्रासीसी साम्राज्य सम्राट के अधीन हो गया। इस युद्ध से फ्रासीसी राष्ट्रीयता को विशेष प्रोत्साहन मिलता था। युद्ध में सैकड़ों और हजारों की संख्या में सामंतों ने अपनी जान गँवायीं। सम्राट के विरुद्ध पेरिसवासियों ने भी सर उठाया था किन्तु उन्हें दबा दिया गया। लूई ११वें ने बर्गेंडी के ड्यूक के विरुद्ध स्विसों को भड़का कर उसे दुर्बल बनाया। चार्ल्स अष्टम् ने

(१४८३-१४९८ ई०) एक स्वतंत्र सेना का निर्माण किया और राजकुमारी से व्याह कर अंतिम जागीर ब्रिटेनी को राज्य में मिला लिया। इस तरह १५वीं सदी के अंत तक फ्रांस में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य का निर्माण हो गया। १७८९ ई० तक सम्राट अबाध गति से फ्रांस में शासन करता रहा।

मध्य यूरोप के राज्य

केवल इंगलैंड तथा फ्रांस में ही राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण नहीं हुआ, पोलैंड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, स्पेन, पुर्तगाल, स्विटजरलैंड आदि देशों में भी ऐसे राज्यों का उदय हुआ। स्पेनी प्रायद्वीप में तीन ईसाई राज्य थे—अरागन, केस्टील तथा पुर्तगाल। ११४० ई० में पुर्तगाल के काउण्ट ने राजा की पदवी ग्रहण कर अपनी स्वतंत्रता घोषित की। अरागन और केस्टील वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा एक राज्य में मिल गये और सम्मिलित शक्ति के आधार पर उन्होंने १४९२ ई० में ग्रेनेडा से मुसलमानों को खदेड़ दिया। अब स्पेन एक राष्ट्रीय राज्य में परिणत हो गया और यूरोप के शक्तिशाली राज्यों में उसकी गिनती होने लगी। किंतु १६वीं सदी में ही अवनति के भी चिन्ह दीख पड़ने लगे थे। इसके दो कारण थे। इंगलैंड की शत्रुता जिससे नयी दुनिया में स्पेन की सत्ता पर संकट पैदा हुआ और उसकी अपनी असहिष्णुता जिससे नीदरलैंड उसके हाथ से निकल गया। स्विटजरलैंड का उत्थान विस्मय का विषय है। १३वीं सदी में इस नाम का कोई देश नहीं था। १२९१ ई० में ३ कैंटनों के हैप्सवर्ग मालिकों ने रक्षा के हेतु एक संघ कायम किया। १४वीं सदी के मध्य तक ५ और कैंटन संघ में मिल गये और संघ की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। १५वीं सदी के अंत तक स्विसों ने साम्राज्य के चंगुल से अपने को मुक्त कर लिया।

रूस

पूरबी यूरोप में रूस में भी एक स्वतंत्र राज्य की नींव पड़ी। यह मंगोल साम्राज्य का एक अंग था किंतु इवान तृतीय ने (१४६२-१५०५ ई०) एक नवीन राज्य की स्थापना की। मास्को में उसकी राजधानी थी। उसके उत्तराधिकारियों के समय में साम्राज्य का विस्तार हुआ और स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली कायम हुई। ईवान चतुर्थ (१५३३-१५८४) के समय में ही साइबेरिया के अधिकांश भागों पर रूस का अधिकार हो गया और उसने जार (सीजर) की उपाधि ग्रहण की। इस प्रकार आधुनिक रूस साम्राज्य की नींव पड़ी।

(छ) मध्यकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

भूमिका

अब तक मध्यकालीन यूरोपीय सभ्यता के विषय में बहुत चर्चा हो चुकी है। अतः

यहाँ सभ्यता पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुये संस्कृति का विशद वर्णन प्रस्तुत किया जायगा।

अब तक मध्यकालीन यूरोप के विषय में जितना अध्ययन हो चुका है उससे यही सारांश निकलता है कि उस समय राजनीति, धर्म और समाज में घना सम्पर्क था। दो संस्थाओं की प्रमुखता थी—चर्च और साम्राज्य। एक का मानव आत्मा पर और दूसरे का मानव शरीर पर नियंत्रण था। किंतु मध्ययुग में राजनीतिक व्यवस्था में कहीं समानता नहीं थी। यूरोप छोटे-बड़े सैकड़ों राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक देश में अनेकों राजनीतिक विभाजन थे। कहीं पर सम्राट का शासन था, कहीं पर प्रजा-तंत्र था तो कहीं पर उच्चकुल-तंत्र; किंतु सामंत प्रथा सभी जगह प्रचलित थी और राज्य व्यवस्था इसी के अनुसार की जाती थी। छोटे-छोटे राज्य काउण्ट या ड्यूक के अधीन थे और काउण्टी याडची कहलाते थे। कालान्तर में सम्राटों ने उन्हें जीतकर राष्ट्रीय राज्यों की नींव खड़ी की। इन राज्यों में नगर राज्यों की दाल न गल सकी और उन्हें केन्द्रीय शासन के अधीन रहना पड़ा। इंगलैंड और स्पेन में तो राष्ट्रीय चर्च कायम हो गये। किंतु इटली और जर्मनी, नीदरलैंड्स और आस्ट्रिया में नगर-राज्यों ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखा। इन देशों में स्थानीयता दीर्घकाल तक जीवित रही और राष्ट्रीयता की भावना सुषुप्त। एक समय में जर्मनी, इटली, नीदरलैंड आस्ट्रिया आदि सभी देश पवित्र रोमन साम्राज्य के गर्भ में चले गये थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि शासक निरंकुश नहीं थे। लोग उन पर नियंत्रण रखना चाहते थे और कानून को सर्वोपरि माना जाता था।

चर्च भी राजकीय क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से बाज नहीं आता था। चर्च का समाज में व्यापक प्रभाव था। पादरी शिक्षित होते थे और वे भूमिपति भी थे। वे सामंतों के समान अपना संगठन करते थे। जब उनकी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हो गई तो वे साम्राज्य पर प्रभुत्व स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे। इसका परिणाम हुआ पोप तथा सम्राट के बीच दीर्घकालीन संघर्ष।

यह भी देखा जा चुका है कि मध्य यूरोप में नगरों का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ और वे विभिन्न उद्योग धन्धों तथा वाणिज्य-व्यापार के केन्द्र थे। वे शिक्षा और कला के भी केन्द्र थे। व्यापारी और शिल्पकार सभी संघ में संगठित थे।

समाज में निर्धनों और गुलामों की दशा अच्छी नहीं थी। स्त्रियों की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। असहाय और दीन स्त्रियाँ चर्च की शरण में चली जाती थीं। सामंतों के घर स्त्रियों का जीवन सुखमय था।

मध्यकालीन सभ्यता पर सरसरी निगाह डालने के पश्चात् अब सांस्कृतिक विकास पर दृष्टिपात करना चाहिये।

शिक्षा तथा साहित्य

पूर्वकालीन मध्ययुग में शिक्षा प्रधानतः धार्मिक होती थी। विद्यार्थियों को ईसाई धर्म के सिद्धान्तों से अवगत कराया जाता था। किन्तु काल क्रम के साथ विचारों में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। धीरे-धीरे आर्थिक तथा राजनीतिक समस्यायें उत्पन्न होने लगीं और उन्हें हल करने के हेतु धार्मिक पुस्तकों के सिवा अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की भी आवश्यकता हुई। अतः प्रायः सभी विषयों की पढ़ाई पर क्रमशः जोर दिया जाने लगा। पाठ्यक्रम में कृषि और शिल्पकला की प्रमुखता रहती थी। प्रायः ग्राम के लड़कों को खेती सम्बन्धी और शहर के लड़कों को शिल्प सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी।

चित्र ४५—लैटिन अक्षर

दो प्रकार के विद्यालय थे—व्याकरण विद्यालय और प्राथमिक विद्यालय। प्राथमिक विद्यालय नगरों तथा ग्रामों में व्यवसायी संघों तथा सामन्तों की देख-रेख में चलते थे। इन विद्यालयों में प्रादेशिक भाषाओं के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। गाने, पढ़ने तथा लिखने का साधारण ज्ञान कराया जाता था। व्याकरण विद्यालय गिरजों तथा मठों से सम्बन्धित थे। नाम से यह न समझ लेना चाहिये कि इन विद्यालयों में विशुद्ध व्याकरण की ही पढ़ाई होती थी। उनमें उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था और व्याकरण के अतिरिक्त विधान, विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य आदि विषयों में शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का माध्यम था लैटिन भाषा।

जो विद्यार्थी विद्वता प्राप्त करना चाहते थे वे विश्व विद्यालयों में पहुँचते थे। मध्य-कालीन यूरोप में कई विख्यात विश्वविद्यालय स्थापित थे। आजकल जिस तरह एक ही विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कई विषयों की शिक्षा दी जाती है उस समय ऐसी व्यवस्था नहीं थी। प्रत्येक विश्वविद्यालय एक-एक विषय में विशेष अध्ययन कराता था। पेरिस (फ्रांस) का विश्वविद्यालय दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी, सेलर्नो (इटली) का विश्वविद्यालय चिकित्सा शास्त्र सम्बंधी और बोलगना (जर्मनी) का विश्वविद्यालय विधान सम्बंधी शिक्षा देता था। पेरिस विश्वविद्यालय आदर्श माना जाता था और इसे "विश्वविद्यालय की जननी" की उपाधि से विभूषित किया गया था। ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय भी इसी समय स्थापित हुये। लैटिन भाषा के ही माध्यम से विश्वविद्यालयों में शिक्षा दी जाती थी। वे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ थीं जहाँ दूर-दूर के देशों से भी विद्यार्थी पढ़ने के लिये आते थे। विद्यार्थी हजारों की संख्या में इकट्ठे होते थे। आधुनिक काल के जैसा उस समय पुस्तकों की अधिकता नहीं थी। अतः शिक्षा अधिकांश रूप में मौखिक होती थी और विद्यार्थी दत्तचित्त होकर शिक्षकों के भाषण को सुनते और लिखते थे।

मध्ययुग के उदयकाल में यूरोप में शिक्षा की बड़ी कमी थी किन्तु इसके अस्तकाल तक इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो गई। सर्वसाधारण में भी शिक्षा फैल चुकी थी। किन्तु इस क्षेत्र में पादरियों की सेवा नहीं भुलायी जा सकती। मठ और गिरजे तो शुरू से ही शिक्षा केन्द्र थे। पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में अध्यापकों के पदों को वे ही अधिकतर सुशोभित किये हुए थे और लेखक होने का उन्हीं को विशेष श्रेय प्राप्त था। पीटर अबलार्ड, अलबर्टस मेगनस और रोजर बेकन उस समय के सुविख्यात दार्शनिक थे।

स्त्री-शिक्षा के लिये कोई समुचित प्रबन्ध नहीं था। कहीं-कहीं चर्च से सम्बन्धित कन्या पाठशालाएँ स्थापित थीं। प्रायः घर के अन्दर ही स्त्रियों को व्यावहारिक शिक्षा मिल जाती थी।

आधुनिक युग में अंगरेजी भाषा का जो स्थान है प्रायः वही स्थान मध्ययुग में लैटिन भाषा को प्राप्त था। यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन गई थी और इसका ज्ञान अनिवार्य सा हो गया था। ११वीं सदी तक साहित्य की रचना इसी भाषा में हुई। किन्तु धीरे-धीरे प्रादेशिक भाषाएँ भी साहित्य के उपयुक्त समझी जाने लगीं। पादरियों ने धर्म ग्रंथों का अनुवाद इन्हीं भाषाओं में करना शुरू किया। इन्हीं भाषाओं में शासक कानून बनाने लगे और लेखक तथा कवि अपने भावों को व्यक्त करने लगे।

पहले काव्य की प्रधानता थी किंतु १२वीं तथा १३वीं सदियों में कहानियाँ लिखी जाने लगीं जिनमें महापुरुषों के जीवन का उल्लेख होता या विनोदार्थ हास्यपूर्ण दृश्यों का वर्णन। दांते (१२६५-१३२१ ई०) पेट्रार्क (१३०४-१३७४ ई०) तथा चौसर (१३४०-१४०० ई०) उस समय के प्रसिद्ध लेखक थे। दांते इटली में फ्लोरेन्स नगर का निवासी था। उसकी रचना "डिवाइन कमेडी" विश्व के उत्तम काव्यों में एक स्थान रखती है। पेट्रार्क भी इटली का रहने वाला था और उसे सोनेट लिखने का शौक था। चौसर तो इंगलैंड का निवासी था और "कैण्टरबरी टेल्स" उसकी अमर कृति है।

कला तथा संगीत

मध्यकाल में विभिन्न कलाओं का समुचित विकास हुआ। व्यवसाय और व्यापार की उन्नति के साथ नगरों में धन-दौलत की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही थी। इससे कलाओं की उन्नति में भी विशेष प्रोत्साहन मिला। निर्माण कला के सर्वोत्तम उदाहरण तत्कालीन गिरजाघर हैं। इनके निर्माण के लिये मानों राज्यों के बीच एक होड़ सी लग गयी थी। इनके निर्माण में दो शैलियाँ अपनायी गईं—रोमन तथा गोथिक रोमन शैली का केन्द्र इटली था और इसका उत्कृष्ट उदाहरण पीसा नगर का गिरजाघर है। इसकी विशेषताएँ थीं—सरलता तथा स्वाभाविकता। गोथिक शैली का केन्द्र फ्रांस

था और पश्चिमी यूरोप में इसका पूरा प्रचार था। इसकी विशेषताएँ थीं—सुन्दरता, विशालता और सुदृढ़ता। सजावट, तड़क-भड़क पर विशेष जोर दिया जाता था। भवनों के भीतर तथा बाहर भिन्न-भिन्न रंगों में चित्र खींचे जाते थे जो बड़े ही सुन्दर, आकर्षक और मनोहारी होते थे। चित्रकला का भी अधिक विकास हुआ था और कुशल चित्र-कारों में इटली के निवासी गिओटो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह दाते का सम-कालीन था।

मध्ययुग में संगीत कला ने भी उन्नति की। चर्च तथा मठों में बड़े-बड़े संगीतज्ञ रहते थे। कई जगहों में संगीतशालाएँ भी स्थापित की गई थीं जहाँ वाद्य यंत्रों की शिक्षा दी जाती थी। भाट तथा चारण भी घूम-घूम कर गाया करते थे। धार्मिक तथा भौतिक अनेक विषयों पर गाने गाये जाते थे।

विज्ञान

मध्यकाल में विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप वालों ने कोई विशेष मौलिक प्रगति नहीं की। वे जादू-टोना, जंत्र-मंत्र में अधिक विश्वास करते थे। वे अंधविश्वास के पुजारी थे और अरस्तू आदि कतिपय विद्वानों को अचूक समझते थे। उनमें उत्सुकता तथा तार्किक शक्ति का अभाव था। फिर भी वैज्ञानिक प्रगति शून्यवत् नहीं है बिलकुल उपेक्षणीय नहीं है। विज्ञान के अनेक ग्रंथों का अरबी तथा यूनानी भाषा से लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ। सर्वप्रथम इटली में अरबी विज्ञान का प्रचार हुआ और अंकों का प्रयोग किया गया। तत्पश्चात् अन्य भागों में विज्ञान का प्रचार हुआ। रोजर बेकन प्रसिद्ध वैज्ञानिक था। रसायन तथा चिकित्सा शास्त्र में विशेष उन्नति हुई। भौगोलिक ज्ञान का भी प्रसार हुआ। कागज निर्माण, दिशा सूचक यंत्र तथा बारूद उस समय के कुछ प्रसिद्ध आविष्कार हैं।

पश्चिम पर पूर्व का प्रभाव

पूर्व दिशा में सूर्योदय होता है और इसके साथ ही प्राकृतिक तिमिर का विनाश हो सर्वत्र प्रकाश का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। ठीक ऐसे ही सभ्यता तथा संस्कृति का सूर्योदय एशियायी भूमि पर हुआ और वहाँ से इसकी प्रकाश-किरण यूरोप के देशों में पहुँची और अज्ञान का अंधकार दूर हुआ। इस विषय पर यत्र-तत्र दृष्टिपात किया जा चुका है। इसके पहुँचाने के सबसे उपयुक्त साधन अरबवासी थे। उन्होंने भारत तथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों से बहुत कुछ सीखा, संस्करण तथा परिवर्द्धन के द्वारा उनका विकास किया और उन्हें यूरोप वालों को प्रदान किया। अतः यूरोप की मध्य-कालीन सभ्यता पर एशियायी सभ्यता की स्पष्ट छाप है। निरंकुश पोपवाद में शिथिलता उत्पन्न हुई। और समाज में समानता की भावना फूलने-फलने लगी। केन्द्रीय सरकार की स्थिति में दृढ़ता आई। वाणिज्य व्यापार की उन्नति हुई और व्यापारियों तथा कारी-

गरों ने अपने-अपने संघ बनाये। कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि अरबों से बहुत ही प्रभावित हुए। उन्हीं के बदौलत यूनान की प्राचीन संस्कृति का ज्ञान प्राप्त हो सका। मंगोलों ने भी एशिया तथा यूरोप के बीच निकट सम्पर्क स्थापित कर विचारों के आदान-प्रदान में सहयोग दिया। 'मार्कोपोलो की यात्रा' नामक पुस्तक ने यूरोपीय पाठकों के मस्तिष्क में क्रांति पैदा कर दी जिसके फलस्वरूप भौगोलिक खोजों के लिये बहुत प्रोत्साहन मिला। चीन में कागज, बारूद तथा मुद्रण के आविष्कार हुए और यूरोप के नव-जागरण में एशिया का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यदि एशिया में सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभात नहीं हुआ रहता तो यूरोप में सम्भवतः इसका प्रकाश नहीं पहुँच पाता और मानव समुदाय का इतिहास कुछ भिन्न होता।

विश्व को मध्यकालीन यूरोप की देन

आज की दुनिया पर यूरोपीय सभ्यता का गहरा प्रभाव है। आधुनिक यूरोप मध्य कालीन यूरोप की ही संतान है। लेकिन अभी देखा जा चुका है कि यूरोप की सभ्यता पर पूरब की कितनी स्पष्ट छाप है। फिर भी संवर्द्धन तथा परिवर्द्धन की रीतियों से मध्यकालीन यूरोप ने कई क्षेत्रों में विशेष उन्नति की और कई अंशों में आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का मूल मध्यकालीन यूरोप में ही पाया जाता है। वस्तुतः मध्यकालीन सुदृढ़ नींव पर ही आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की बड़ी इमारत खड़ी हुई है।

विश्व को मध्यकालीन यूरोप की निम्नलिखित देन हैं

(१) राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना का बीजारोपण मध्यकाल में ही हो चुका था यद्यपि यह भावना अभी धुँधली सी थी। इंग्लैंड तथा फ्रांस जैसे राज्यों का राष्ट्रीय एवं स्वेच्छाचारी राजतंत्र के ढंग पर निर्माण होना प्रारम्भ हो चुका था। आगे चलकर इन भावनाओं का अधिक विकास हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में इन भावनाओं के सिवाय कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी सूत्रपात हुआ। जैसे प्रतिनिधित्व शासन प्रणाली, अधिकारों की रक्षा के हेतु लिखित चार्टर या विधान का प्रयोग, किसी के अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने का लौकिक अधिकार, मानसिक स्वतंत्रता, हिंसा की निरर्थकता आदि सिद्धान्तों या विचारों का जन्म मात्र हुआ था, इनका पूरा विकास आधुनिक काल में हुआ।

(२) मध्यकाल में शिल्पकारों तथा व्यापारियों के संघ होते थे। संघ का संगठन बड़ा ही सुदृढ़ था और इससे संघ के सभी सदस्यों को समुचित लाभ होता था। नफा करना ही प्रधान उद्देश्य नहीं था। वस्तुओं की बारीकी और समाज-हित पर भी ध्यान दिया जाता था। स्वार्थ एवं शोषण की भावना का अभाव था।

(३) समाज का विभाजन चार श्रेणियों में हो चुका था—कुलीन, पुरोहित, किसान और मध्यम वर्ग। मध्यम वर्ग में नगर के निवासी थे। जो नगरों में रह कर

विभिन्न पेशा करते थे। कुलीनों तथा किसानों के बीच इनका स्थान था। आधुनिक युग में कुलीनों के विरुद्ध संघर्ष में इसी वर्ग ने नेतृत्व किया और प्रजातंत्र की स्थापना में सहयोग दिया।

(४) मध्यकालीन यूरोप में धर्म की बड़ी महत्ता थी। यद्यपि इसके नाम पर अनेक बुराइयाँ हुईं, खून-खतरे हुए, फिर भी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के ऊपर धर्म का विशेष प्रभाव था। गिरजाघर और मठ शिक्षा, कला, साहित्य आदि के प्रधान केन्द्र थे और स्कूल, कालेज इनकी शाखा मात्र थे। संस्कृति तथा धर्म के प्रचार में ईसाइयों ने बहुत बड़ा भाग लिया और मानव सेवा के आदर्श का भी विकास किया। मध्यकालीन नींव पर ही आधुनिक पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों का निर्माण हुआ है।

(५) मध्यकाल के विद्वानों का प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ जिसका परिणाम हुआ सांस्कृतिक आंदोलन। साथ ही प्रादेशिक भाषाओं की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई। संस्कृत की भाँति लैटिन विद्वानों की भाषा थी। अतः बोल-चाल की भाषाओं को भी प्रोत्साहित किया जाता था। इस तरह अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं का क्रमशः विकास हुआ।

अध्याय १८

अरब—इस्लाम की जन्मभूमि

भूमिका

जर्मनी की बर्बर जातियों ने यूरोप में रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया और पश्चिमी भाग में उसे समाप्त कर दिया। अरब निवासियों ने पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में रोमन साम्राज्य की जड़ उखाड़ दी। इस तरह भूमध्य सागर के तटीय प्रदेश जो रोमन साम्राज्य में सम्मिलित थे दो भागों में विभक्त हो गये और प्रत्येक भाग में विभिन्न सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार हुआ।

इस्लाम के पूर्व का अरब

अरब के लोग सेमेटिक जाति के थे। वेबीलोनियन, यहूदी तथा फिनीशियन आदि इसी शाखा के लोग थे जिन्होंने प्राचीनकाल में सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में विशेष रूप से हाथ बँटाया था। किन्तु, ६०६ ई० पू० में निनवे तथा ५३७ ई० पू० में वेबीलोन के पतन के साथ उनका प्राचीन उत्कर्ष जाता रहा। सन् ६२२ ई० तक अरब निवासियों में शिथिलता ने घर कर लिया था और वे चुप बैठे रहे। वे बद्दू कहलाते थे। उनमें न तो राजनीतिक एकता थी, न धार्मिक। वे खानाबदोशी जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने न तो कभी अन्य देशों को जीतने की कोशिश की और न कभी दूसरों को अपने यहाँ शरण दी। उपयुक्त यातायात का सर्वथा अभाव था। ऊँट, घोड़े तथा गधे इनके परम प्रिय साथी थे। वे गिरोहों में बँटे रहते थे जिनका आधार पितृ-प्रधान था। प्रत्येक गिरोह का एक सरदार होता था। वे अनेकों देवी-देवताओं की आराधना भी करते थे। लगभग ४०० मूर्तियों की पूजा की जाती थी।

किन्तु प्रकृति बड़ी ही रहस्यपूर्ण और समय परिवर्तनशील है। मानव समुदाय का जो वर्ग इतने दीर्घकाल तक सुषुप्तावस्था में पड़ा था वही शीघ्र जागृत हो उठा और उसके उत्साह तथा पराक्रम को देखकर सारी दुनिया आश्चर्य के समुद्र में गोता लगाने लगी। वस्तुतः दुनिया के इतिहास में अरबों का उत्थान एक महान् तथा अद्भुत घटना है।

लेकिन यह बिलकुल आकस्मिक घटना नहीं थी। इसके लिये वातावरण अनुकूल था। अरबवासी कोरे जंगली और असभ्य नहीं थे। मरुस्थल भाग के निवासी अव्यवस्थित जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु तटीय भाग के निवासी नगरों तथा ग्रामों में रहते थे और खेती तथा व्यापार भी करते थे। व्यापार के हेतु विदेशों से इनका सम्पर्क रहता था और इनके जहाज विदेशी मालों से भरे रहते थे। मक्का तथा मदीना व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र

थे। वे उत्तम श्रेणी के सैनिक होते थे और आस-पास के देशों की सेनाओं में भरती होते रहते थे। मक्का के काबा में सबों का एक-सा विश्वास था जो एक प्रकार की एकता का द्योतक था। अधिकांश अरबवासी यहूदी तथा ईसाई धर्म से भी प्रभावित हुये थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी रगों में भी सेमटिक वंश का रक्त प्रवाहित हो रहा था जिस वंश ने पश्चिमी एशिया के अन्य भागों में उत्तम कोटि की सभ्यताओं का निर्माण किया था।

इस्लाम का जन्म

अरब निवासियों को एकराष्ट्र बनाने का श्रेय मुहम्मद साहब को है। मुहम्मद उनके धार्मिक एवं राजनीतिक नेता और धर्म-राज्य (थ्योक्रेसी) के संस्थापक थे। इनका जन्म
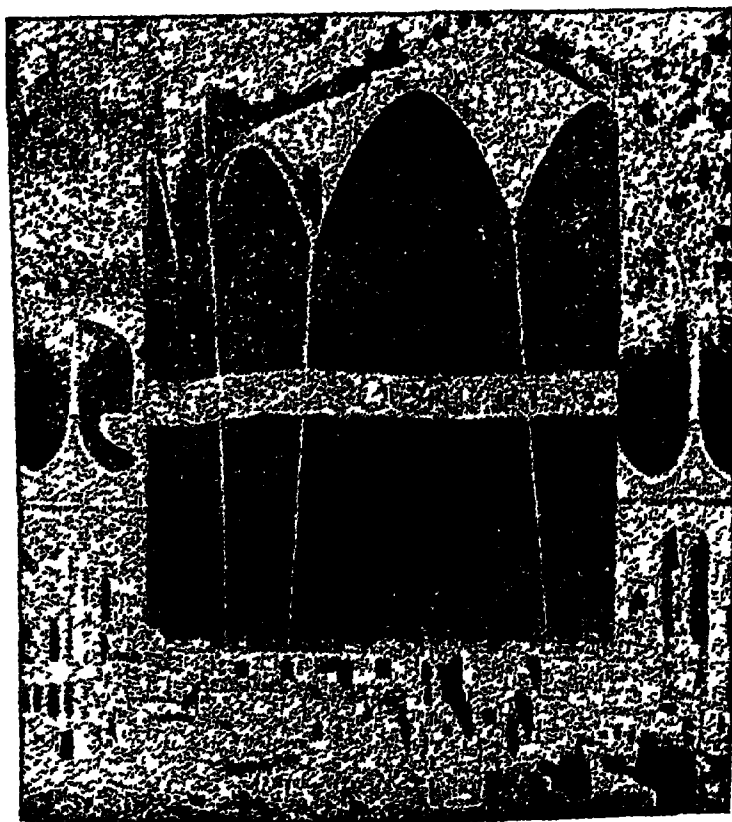
चित्र ४६—काबा

५०० ई० में मक्का में हुआ था। इनके माँ-बाप मध्यमश्रेणी के थे और इनका परिवार कुरेशी कहलाता था। यह पुजारियों का परिवार था। मक्का निवासी मूर्तिपूजक थे। वहाँ पर एक धार्मिक (काबा) स्थान था जहाँ एक काले रंग का घनाकार प्रस्तर खंड था। अरब वासियों का ख्याल था कि यह पत्थर का टुकड़ा आकाश से गिरा था और यह स्थान "काबा" के नाम से विख्यात था। वर्ष में एक बार अरब के हर भाग से पारस्परिक ईर्षा-द्वेष को भूलकर लोग यहाँ इकट्ठे होते थे और पूजा-पाठ किया करते थे। यह भीड़

यूनान के ओलीम्पियन भीड़ के समान थी। ४० वर्ष की उम्र तक मुहम्मद के जीवन में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। उसी साल उन्होंने खादिजा नाम के एक धनी विधवा से विवाह किया। तदुपरान्त मुहम्मद को ऐसा अनुभव होने लगा कि जिब्रायल के द्वारा ईश्वर ने उनके पास कुछ सन्देश भेजा है जिसका सार है—"अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।" इस प्रकार मुहम्मद ने इस्लाम धर्म की स्थापना की। मक्का-वासियों ने इस्लाम का विरोध किया और मुहम्मद की जान पर तुल गये। ६२२ ई० में मुहम्मद येथ्रिब भागकर चले गये जहाँ उनका और उनके धर्म का स्वागत हुआ। इसी समय से हिजरी सम्वत् का प्रारम्भ हुआ क्योंकि मुहम्मद के पलायन को "हिजरत" कहते हैं। उसके साथी अंसार के नाम से पुकारे जाते थे। येथ्रिब अब मदीना के नाम से विख्यात हुआ। मदीना की सहायता से ६३० ई० में मक्कानिवासी भी पराजित हुये मुहम्मद अब राजनीतिक नेता भी बन गये। इसके दो वर्षों के बाद वे स्वर्गलोक सिधार गये।

इस्लाम की शिक्षा

मुहम्मद की मृत्यु के समय तक अरब में इस्लाम धर्म का व्यापक प्रचार हो चुका था। उन्हें उत्तरकालीन जीवन में सदा ही ईश्वरीय प्रेरणायें मिलती रही थीं। उनकी मृत्यु के बाद उनके उपदेशों तथा लेखों को एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया जो कुरान के नाम से प्रसिद्ध है। गीता या बाइबिल के समान मुसलमानों का यह धार्मिक ग्रन्थ है। उनका एक और पवित्र ग्रन्थ है जिसका नाम हदीस है। इस्लाम शब्द का अर्थ है—ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित शिक्षाएँ प्रमुख हैं :—(१) ईश्वर एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है। (२) प्रत्येक मुसलमान को दिन में पाँच बार एकान्त रूप से और शुक्रवार को सामूहिक रूप से नमाज पढ़नी चाहिये। (३) रमजान के मास में प्रति दिन सूर्योदय से सूर्यास्त तक उपवास करना चाहिये। (४) गरीबों को दान देना चाहिये और (५) प्रत्येक मुसलमान को जीवन में एक बार मक्का अवश्य जाना चाहिये। माता-पिता के समान सभी व्यक्तियों के साथ सद्व्यवहार, युद्ध में स्त्रियों तथा बच्चों की रक्षा सम्बन्धी बातें बतलाई गयीं हैं। मद्यपान पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। इस धर्म में नीतिवाद पर भी जोर दिया गया था।

इस्लाम की विशेषतायें

यह धार्मिक जटिलताओं से मुक्त था। इसमें विविध विधि-विधानों का अभाव था। इसके अतिरिक्त इसमें मन्दिर तथा मूर्त्ति, पुजारी तथा पुरोहित के लिये स्थान नहीं था। यह पैगम्बरी धर्म था जिसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं थी। इसकी सबसे बड़ी खूबी है—मुसलमानों में "अछूत" जैसी कोई चीज नहीं है। धन या जन्म के आधार पर उसमें वर्गीकरण नहीं है बल्कि सभी समान हैं। हाँ, प्रायः सभी धर्मों के जैसा उनमें भी

दो सम्प्रदाय हैं। मुहम्मद के मरने के बाद उत्तराधिकार की समस्या पैदा हुई एक दल उनके दामाद तथा दत्तकपुत्र अली का समर्थक था जो शिया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा दल निर्वाचन का पक्षपाती था जो सुन्नी कहलाया। दूसरा ही दल विजयी हुआ और मुहम्मद के मित्र अबूबकर निर्वाचित हुये। फारस शिया सम्प्रदाय के और अरब सुन्नी सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र रहे हैं।

इस्लाम की प्रगति

संसार के इतिहास में अरबों की विजय एक अपूर्व घटना है। उन्होंने उस समय की लगभग आधी दुनिया पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मुहम्मद साहब का आदेश था कि इस्लाम धर्म का खूब प्रचार किया जाय। उनके अनुयायियों ने इस आदेश का बड़े उत्साह तथा उल्लास के साथ पालन किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी खलीफा कहलाने लगे। वे अरबों के धार्मिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार के नेता थे। उनके योग्य तथा सफल नेतृत्व में अरबों ने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में अद्भुत विजयों के द्वारा एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। साम्राज्य का प्रसार इतनी तीव्र गति से हुआ कि हिजरी की प्रथम सदी में ही यानी ७२२ ई० तक पिरेनीज पर्वत से
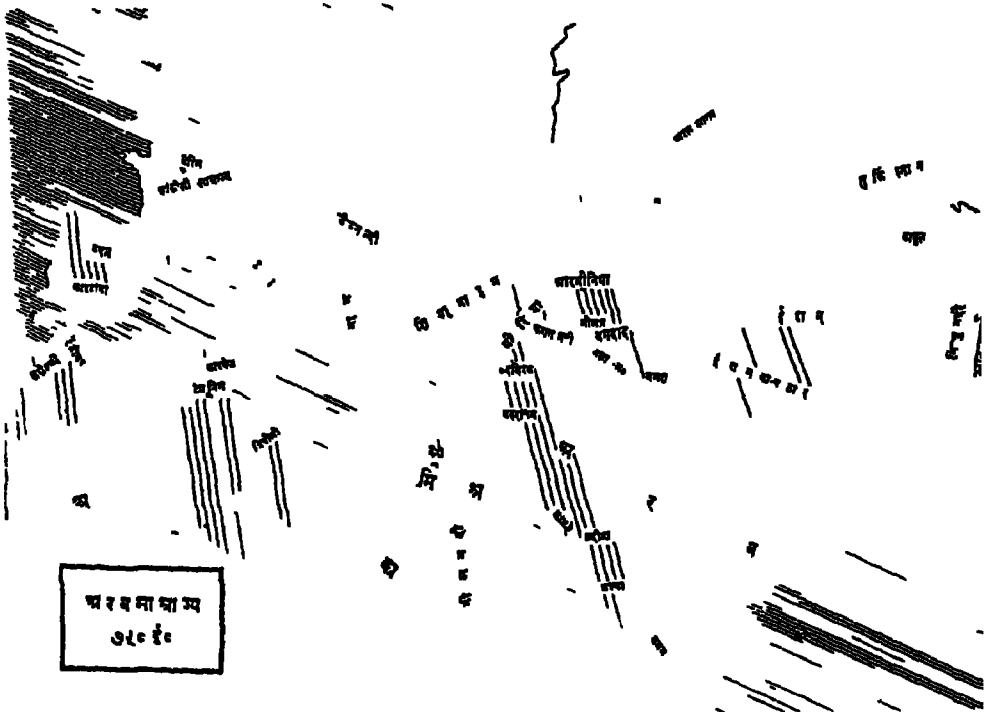
चित्र ४७

चीन तक इसका प्रसार हो गया। अरब साम्राज्य स्पेन से लेकर उत्तरी अफ्रीका तथा मंगोलिया की सीमा तक फैल गया। एशिया, यूरोप और अफ्रीका तीनों महादेशों में

इसकी शाखाएँ फैल गईं। एशिया में अरब के सिवा सीरिया, मेसोपोटेमिया, आरमीनिया, सिन्ध और फ़ारस, अफ्रीका में मिश्र, त्रिपोली, अलजीरिया, ट्यूनिस तथा मोरक्को और यूरोप में स्पेन के देश अरब साम्राज्य के अंग थे।

६६१ ई० में चौथे खलीफ़ा की मृत्यु हुई। उस समय तक साम्राज्य की राजधानी मदीना में थी। ६६१ ई० से ७४६ ई० तक उम्मैयद वंश का शासन था। इस वंश के खलीफ़ों ने दमिस्क में राजधानी स्थापित की थी। यहाँ से यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका तीनों महादेशों की निगरानी की जा सकती थी। अब तक खलीफ़ाओं की शक्ति में अपूर्व वृद्धि हो गई थी। इतिहासकार गिबन के शब्दों में "हिजरी की प्रथम सदी के अन्त में संसार के सम्राटों में खलीफ़ा सर्वशक्तिमान और बहुत ही स्वेच्छाचारी थे।" अरब विजय के सिलसिले में दो सेनापतियों के नाम विशेष उल्लेखीय हैं ओकबा और तारीक। ओकबा पश्चिमी दिशा में अरबों का नेतृत्व कर रहा था। वह मोरक्को तक विजय करता हुआ पहुँच गया था। उसके बाद जब उसने विशाल अतलान्टिक समुद्र देखा तो दुख प्रकट करते हुये कहा कि अब ईश्वर के नाम में विजय करने के लिये पृथ्वी का कोई भाग ही नहीं बच रहा। दूसरा सेनापति तारीक था जो अफ्रीका होता हुआ स्पेन में जा पहुँचा था। स्पेन की विजय का श्रेय उसी को प्राप्त है। जिब्राल्टर उसी के नाम का स्मरण करता है। इसका पुराना नाम था जाबालउत-तारीक जिसका अर्थ होता है तारीक का पत्थर। इसी नाम का अपभ्रंश हो गया है जिब्राल्टर। अरबों की इस तीव्र गति के कारण क्या थे? इसके कई कारण थे। प्रधान कारण तो था उनकी धार्मिक भावना। एक धार्मिक झण्डे के नीचे आने से सभी अपूर्व एकता के सूत्र में आबद्ध हो गये और कन्धे से कन्धे मिलाकर धर्म के नाम पर लड़ रहे थे। साथ ही अरब की भौगोलिक स्थिति के कारण वे उत्तम कोटि के सैनिक होते थे। अतः युद्ध-प्रियता उनकी एक खास विशेषता थी। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा आर्थिक दुरवस्था के कारण राजनीतिक प्रसार के लिये उन्हें प्रेरणा मिली हुई थी। फ़ारस और यूरोप की कमज़ोरी से भी उन्हे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। रोमन साम्राज्य और सास्सानी राज्य दोनों ही पारस्परिक युद्ध के कारण कमजोर हो गये थे और इससे अरबवासियों ने विशेष लाभ उठाया। जनता की मनोवृत्ति उनकी सफलता में सहायक सिद्ध हुई। जनता स्वेच्छाचारी शासकों तथा स्वच्छन्द पुरोहितों के अत्याचार से पीड़ित थी। अतः अपनी स्थिति में परिवर्तन के लिये बेचैन तथा सुअवसर की ताक में थी। अन्तिम कारण था इस्लाम का जनतंत्रात्मक सन्देश जिस से सर्वसाधारण इसके प्रति आकर्षित हुये थे।

अरबों की पराजय

७१६ ई० तक तो अरबवासी लगातार विजयी होते रहे और तूफ़ान के समान आगे बढ़ते गये। किन्तु इसके बाद उन्हें दो बार बुरी तरह पराजित होना पड़ा जिससे उनकी

प्रगति सदा के लिये रुक गई। यूरोप वाले उन्हें सेरासीन कहते थे जिसका अर्थ होता है रेगिस्तान के निवासी। उन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ पर आक्रमण किया। लेकिन ७१७ ई० में सम्राट् लियो तृतीय ने उन्हें लोहे के चने चबवा दिये। पराजित और लज्जित हो वे अपना-सा मुँह लिये वहाँ से चुपके खिसके। पश्चिमी यूरोप में, दक्षिणी फ्रांस में वे अपना सिक्का जमाना ही चाहते थे कि ८३२ ई० में टूर्स के युद्ध में फ्रांक जाति के राजा चार्ल्समार्टल ने उनके छक्के छुड़ा दिये। इस युद्ध का युगान्तकारी परिणाम हुआ। एक इतिहासकार के मतानुसार "टूर्स के युद्ध में अरबों ने उस समय सारी दुनिया का साम्राज्य अपने हाथ से खो दिया जो इनकी मुट्ठी में आ चुका था।" अब पीरेनीज से आगे बढ़ने की उनकी आशा पर पानी फिर गया। यदि वे कहीं विजयी होते तो यूरोप का ही नहीं, सारी दुनिया का इतिहास कुछ भिन्न होता।

अब पाठकों को यह जानने की उत्सुकता होगी कि अरबों की निरन्तर-विजय का सिलसिला क्यों टूटा? उनकी अबाध प्रगति में बाधा कैसे उपस्थित हुई? इसके कई कारण हुये। अरबों की प्रगति अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी और अब तक उनकी सर्वोत्तम शक्ति तथा उत्साह का उपयोग हो चुका था। फ्रांस में उनकी संख्या भी बहुत कम थी और वे अपने शासन-केन्द्र से अत्यन्त दूर हो गये थे। उन्हें केन्द्रीय सरकार से सहायता नहीं मिल रही थी क्योंकि वह मध्य एशिया को विजित करने में बहुत ही व्यस्त थी।

विजितों के प्रति व्यवहार

प्रारम्भिककाल में विजित प्रदेशों की सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट करना, लूट-मार या रक्तपात करना अरबवासियों का प्रधान उद्देश्य नहीं था। हाँ, वे इस्लाम धर्म का प्रचार करना अवश्य चाहते थे। अतः विजित जातियों के सामने तीन बातों में एक बात स्वीकार करनी पड़ती थीं। ये तीनों थीं—कुरान, कर और मृत्यु। गैरमुस्लिम जाति से जजिया नामक कर लिया जाता था। कई देशों में इस्लाम का प्रचार हुआ। उत्तरी 'अफ्रीका', सीरिया, और फारस में विशेष रूप से इसका प्रसार हुआ। इस काल में बहुत से ईसाइयों ने भी अपने धर्म को त्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। इसके कई कारण थे। ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में द्वेष की भावना बढ़ रही थी। इस्लाम स्वीकार करने वालों को सुविधाएँ मिलती थीं। करों से छुटकारा मिल जाता था और राज्य में आसानी से नौकरियाँ मिल जाती थीं। कितने ईसाइयों को इस्लाम धर्म सहज और व्यावहारिक मालूम पड़ता था।

मुहम्मद के उत्तराधिकारी

यह ऊपर बताया जा चुका है कि ६३२ ई० में मुहम्मद की मृत्यु के बाद अबूबकर खलीफा निर्वाचित हुआ था। खलीफा का अर्थ उत्तराधिकारी होता है। तब से सभी

उत्तराधिकारी खलीफा के ही नाम से प्रसिद्ध हुए। यह बड़ा ही गौरवशाली पद था। खलीफा धर्माचार्य तथा राजशासक दोनों ही था। अबूबकर के पश्चात् उमर तथा उस्मान खलीफा हुए। किन्तु खलीफा पद के लिये विस्तृत पैमाने पर षड्यन्त्र का भी प्रारम्भ हो गया था। उस्मान को अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा था और उसकी हत्या के बाद अली खलीफा बनाये गये। लेकिन वह भी क्रूरतापूर्वक मार डाला गया। तब उस्मान के वंशज गद्दी पर आसीन हुए और उमैयद वंश की नींव डाली (६६१ ई०)। अब तक साम्राज्य का केन्द्र मदीना था किन्तु उमैयद ने दमिस्क में राजधानी स्थापित की। ७५० ई० तक उम्मैयद-शासन कायम रहा। इसी वंश के शासन काल में ६८० ई० में कर्बला का युद्ध हुआ था जिसमें अली के पुत्र हुसेन सपरिवार मार डाले गये थे। मुसलमानों का मुहर्रम इसी घटना का स्मारक है। शिया सम्प्रदाय वाले हर साल मुहर्रम के रूप में हुसेन को याद करते रहे हैं।

उमैयद वंश के बाद अब्बासी वंश के हाथ में खिलाफत की बागडोर गई। इसके संस्थापक मुहम्मद साहब के चचा अब्बास थे। इसने दमिस्क के स्थान पर दजला नदी के किनारे बगदाद में राजधानी कायम की। यह फारस के सम्राटों की ग्रीष्म-कालीन राजधानी थी। इस तरह फारस साम्राज्य का केन्द्र बन गया। अब्बासी खलीफाओं का ध्यान विशेष रूप से एशिया की ओर आकृष्ट रहा। यद्यपि अब्बासी शासनकाल में साम्राज्य पतनोन्मुख था और कितने अंग उसके बिखर गये, फिर भी, अरब इतिहास में यह एक गौरवपूर्ण अध्याय है। अब्बासी सम्राटों में हारूँ-अल रशीद का (७८६-८०६ ई०) शासनकाल बहुत प्रसिद्ध है। उसके समय में बगदाद नगर उन्नति, समृद्धि और कीर्त्ति की चरमावस्था को प्राप्त हो चुका था। यह एक दर्शनीय स्थान बन गया था। एक अरब इतिहासकार के शब्दों में यह "इस्लाम की राजधानी, साम्राज्य की गद्दी, ईराक की आँख, कला, सौंदर्य तथा संस्कृति का केन्द्र था।" इसके सम्बन्ध में सरमार्क साइक्स ने अपने ग्रन्थ में बड़ा ही सुन्दर और रोचक ढंग से वर्णन किया है और वेल्स साहब ने उसके कथन को अपनी "आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री" नामक पुस्तक में उद्धृत किया है। हारूँ-अल रशीद शार्लमेन का समकालीन और मित्र भी था। दोनों में बहुमूल्य भेंटों का विनिमय हुआ था। वैभव, कला-कौशल, विद्या, व्यापार आदि में वह विश्व में विख्यात हो गया और सर्वत्र उसकी चर्चा होने लगी। उसके दरबार में विश्व के बड़े-बड़े सम्राटों के राजदूत रहते थे। संसार के विभिन्न भागों से कवियों सन्तों दार्शनिकों, विद्यार्थियों तथा व्यापारियों का बगदाद में जमघट लगा रहता था। वह विद्वानों तथा कलाकारों का बड़ा स्वागत करता था। वह भोग विलासमय जीवन व्यतीत करता था जो किसी शाहंशाह के जीवन से कम नहीं था। वह सदा ही स्त्रियों से घिरा रहता था और दास उसकी

सेवा में प्रतिक्षण तत्पर रहते थे। कितने शासकों के लिये वह अनुकरण का पात्र बन गया था।

साम्राज्य-विभाजन

लेकिन तड़क-भड़क ऊपर से थी, भीतर तो मलीनता थी। पतन का बीज छिपा हुआ था। हारूँ-अल रशीद के मरते ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। सीरिया, खुरासान और फारस के शासक स्वतंत्र हो गये। १०वीं सदी के अन्त तक अरब साम्राज्य तीन भागों में विभक्त हो गया। ईराक में (बगदाद) अब्बासी खलीफा, मिश्र (काहिरा) में फातिमी खलीफा और स्पेन (कार्डोवा) में उमैयद खलीफा। तुर्कों ने बगदाद को १०५८ ई० में अधिकृत कर लिया। २०० वर्षों के बाद मंगोलों ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। काहिरा का राज्य १३वीं सदी के मध्य तक रहा। कार्डोवा का राज्य ७११ से १२३६ ई० तक रहा। १२३६ ई० में कैस्टील के ईसाई राजा ने इस पर अधिकार कर लिया। स्पेन में ग्रेनेडा भी एक मुस्लिम नगर था जो १४६२ ई० तक कायम रहा। स्पेन के मुस्लिमनिवासियों को मूर कहा जाता था। बगदाद के समान काहिरा और कार्डोवा भी उच्चकोटि की सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र थे।

साम्राज्य के पतन के कारण

अरबवासियों की प्रगति जब पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी तो उनका पतन होना स्वाभाविक था। ७१७ और ७३२ ई० के युद्धों में भीषण हार हुई और वे निरुत्साह हो गये। उनकी पराजय उनकी 'कमजोरी का द्योतक थी।' साम्राज्य और वैभव में वृद्धि के साथ-साथ उनके जीवन में भोग विलास की वृद्धि होने लगी। अतः जो अरबवासी साधारण तम्बुओं में रहकर मरुभूमि का कठोर जीवन व्यतीत करते थे वे ही अब भव्य तथा वैभवमय नगरों के निर्माता और ऐश्वर्यपूर्ण राज-प्रासादों के निवासी बन गये। सत्ता और शक्ति के मद से चूर वे अपने प्राचीन प्राकृतिक जीवन को भूल गये और महल तथा महिलाओं के वशीभूत हो गये। अब खजूर तथा छोहारे के बदले स्वादिष्ट पका हुआ भोजन होने लगा। अतः उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगा। रोमन तथा फारसी साम्राज्य की कई बुराइयों के वे शिकार बन गये। स्त्रियाँ परदे में रहने लगी थीं। समाज में छोटाई-बड़ाई की भावना आ गई। सेवा भाव तथा भाईचारे के स्थान पर शासक मनमानी करने लगे। वे इस बात को भूल गये कि सदियों से पीड़ित जनता जन-तंत्र तथा समता के सन्देशों के ही कारण इस्लाम के प्रति आकर्षित हुई थी। पारस्परिक मतभेद और गृह-कलह के कारण अरबों की एकता भी भंग हो गई और राष्ट्रीय भावना छिन्न-भिन्न हो गई। उनमें शासन-प्रबन्ध तथा साम्राज्य-संगठन के अनुभव का भी अभाव था। बगदाद में राजधानी का परिवर्तन हानिकर सिद्ध हुआ। यह साम्राज्य के केन्द्र में नहीं था। अतः सुअवसर पाकर पश्चिमी भाग अफ्रीका तथा स्पेन साम्राज्य से पृथक् हो गये।

केन्द्रीय सरकार की दुर्बलता से लाभ उठाकर प्रान्तीय शासकों में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न हो गई। सेना में विदेशी भाड़े पर भर्ती किये जाने लगे जिनमें तुर्कों की संख्या पर्याप्त थी। ११वीं सदी के मध्य में इन तुर्कों ने पूर्वी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

अरब सभ्यता एवं संस्कृति

पृष्ठभूमि

जब यूरोप बर्बरता से मुठभेड़ करने में व्यस्त था तो अरबवासियों ने बड़ी ही उच्चकोटि की सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण किया था। उन्होंने साम्राज्य स्थापना के साथ-साथ सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में भी अपूर्व उन्नति की। उनमें कट्टरता तथा संकीर्णता का अभाव था। उनके दृष्टिकोण व्यापक थे। यूरोप के ईसाई असहिष्णु थे। लेकिन अरब-वासियों में सहनशीलता का भाव भरा था। दूसरों से कुछ लेकर अपनाने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। विभिन्न स्रोतों से विचारों को लेकर पचाने की उनमें विलक्षण शक्ति थी। अतः उन्होंने भारतवर्ष तथा यूनान की विचारधाराओं से बहुत सी बातें ग्रहण कीं; फारस से भी बहुत कुछ सीखा और उनके आधार पर सभ्यता एवं संस्कृति का एक नवीन संस्करण किया। सीरिया, स्पेन तथा मिश्र-तीनों ही उनकी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे। सीरिया तथा मिश्र के केन्द्र लगभग ८ सदियों तक चट्टान स्वरूप स्थिर रहे और वहाँ सभ्यता व संस्कृति का प्रकाश जगमगाता रहा। यह स्मरणीय है कि इस सभ्यता और संस्कृति के विकास में खलीफाओं का विशेष रूप से सहयोग रहा है।

शासन व्यवस्था

खलीफाओं की शासन व्यवस्था केन्द्रीय थी। कर लगाने की प्रथा भी उपयोगी थी। गैरमुस्लिमों से जजिया नामक कर लिया जाता था। साम्राज्य के विभिन्न भागों को मिलाने के लिये अच्छी सड़कों का निर्माण हुआ। और पुरानी सड़कों की मरम्मत कराई गई। अनेक नहरों, जलाशयों तथा पुलों का निर्माण हुआ। डाक व्यवस्था भी प्रचलित थी।

कला

निर्माण कला में अरबवासी बहुत ही निपुण थे। घोड़े के नाल के समान गोल तोरण, गुम्बज, मीनार और सुन्दर सजावट उनके निर्मित भवनों की विशेषतायें थीं। जेरुसलम में ओमर मस्जिद, दमिश्क में उम्मैयद मस्जिद और ग्रेनेडा में अलहम्बरा मस्ज़िद (लाल महल) उनकी इमारतों के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। स्पेन में कार्डोवा का मस्जिद भी विश्व-विख्यात था।

विद्या

शिक्षा, विद्या और विज्ञान के क्षेत्रों में अरबों ने पर्याप्त प्रगति की। १०वीं सदी में कार्डोवा यूरोप का सबसे अधिक सभ्य नगर था और यह 'संसार के आश्चर्य तथा प्रशंसा

का विषय था।' शिक्षा तथा विद्या की दृष्टि यूरोप की मरुभूमि में स्पेन एक शाद्वल स्थान के समान था।
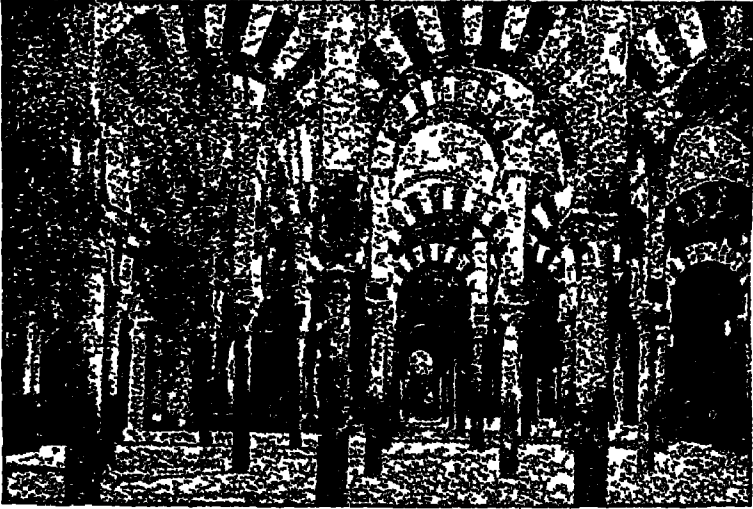
चित्र ६८—कार्डोवा का मस्जिद

बगदाद, काहिरा तथा कार्डोवा में बड़े-बड़े प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे जहाँ विधान, धर्म, दर्शन, सम्भाषण सम्बन्धी अनेक विषयों पर शिक्षा दी जाती थी। सीरिया के विश्वविद्यालयों पर धार्मिक नियंत्रण अधिक था और वे मस्जिद से ही मिले-जुले रहते थे। काहिरा विश्वविद्यालय में १२ हजार विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे। स्पेन में साम्राज्य के विभिन्न भागों से विद्यार्थी आते थे जिनमें ईसाइयों की संख्या बहुत अधिक थी। इन ईसाई विद्यार्थियों ने यूरोप में विद्या-प्रचार में बहुत सहयोग दिया। जरबर्ट नामक विद्यार्थ सिल्वेस्टर द्वितीय के नाम से पोप के पद पर आसीन हुआ था और यूरोप में विज्ञान तथा गणित के प्रचार में उसने विशेष रूप से भाग लिया। विश्वविद्यालयों में विशाल पुस्तकालय कायम किये गये जिनमें बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें एकत्रित की गई थीं। गरीब विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा देने का प्रबन्ध था।

विज्ञान

विज्ञान के क्षेत्र में अरबवासियों ने आश्चर्यजनक उन्नति की। ज्योतिष और गणितशास्त्र का उन्होंने विकास किया। इस दिशा में उन्हें भारत के ग्रन्थों से पूरी सहायता मिली थी। उन्होंने अंकों को भारत से ही सीखा था। दशमलव की उन्हें अच्छी जानकारी प्राप्त थी और बीजगणित उन्हीं का आविष्कार था। उन्होंने भौतिक तथा खगोल शास्त्र और त्रिकोणमिति का विकास किया। चिकित्सा शास्त्र में भी उनकी अपूर्व देन है। रोगों के निदान, औषधि और चीड़-फाड़ में वे बड़े ही प्रवीण थे। इब्नसिना (९८०-१०३७ ई०) एक विख्यात चिकित्सक था। वह इस्लामीक दुनिया का एक प्रकाण्ड विद्वान

था। उसका दूसरा नाम अविसेन भी था और बुखारा में उसका जन्म हुआ था। उसकी पुस्तकों का लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ था जिनकी बड़ी माँग थी। एक लेखक[1] के शब्दों में "सम्भवतः किसी भी चिकित्सा शास्त्र का इतना अध्ययन नहीं हुआ है और अभी भी पूर्व में इसका उपयोग किया जाता है।" रेज (८६५-६२५ ई०) नामक एक दूसरा भी प्रसिद्ध चिकित्सक था। इसने सभी रोगों के निदान और चिकित्सा के सम्बन्ध में सीरिया, अरब, ईरान तथा यूनान के वैद्यक शास्त्रों का अध्ययन किया था और अपनी चिकित्सा-प्रणाली कायम की थी। तीसरा चिकित्सक इब्नरश्द (११२६-६८ ई०) था। किन्तु वह दर्शन के ज्ञान के लिये भी विख्यात था। उसने यूरोप की विचारधाराओं को बहुत ही प्रभावित किया है। अलबरुनी (६७३-१०४८ ई०) और अलहेथम भी प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। अलबरुनी तो इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, गणित, विज्ञान आदि विषयों में पारंगत था। जहाँ-तहाँ वेधशालाएँ स्थापित की गईं थीं। पेंडुलम का भी अरबों ने ही आविष्कार किया था।

साहित्य

विज्ञान के सिवा जीवनी, इतिहास, कविता और उपन्यास सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखी गईं और इस तरह साहित्य के क्षेत्र में भी समुचित विकास हुआ। कहानी कला में अरब लेखक बड़े ही कुशल थे। अरब रजनी या सहस्र रजनी नामक पुस्तक को पाठक बड़ी ही अभिरुचि से सर्वत्र पढ़ते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अरबों ने यूरोप में कागज का प्रचार कर दिया तथा ज्ञान के प्रचार में अपूर्व सहयोग प्रदान किया। उन्होंने कई यूनानी पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद किया। वे यूनानी पुस्तकें यद्यपि कब न नष्ट हो गईं, परन्तु अरबी भाषा में वे अभी भी वर्तमान हैं।

वाणिज्य-व्यवसाय

वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में भी अरबवासी अग्रगण्य रहे। साम्राज्य के अन्दर विभिन्न वस्तुओं का निर्माण होता था जो बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक होते थे। वे सभी प्रकार की धातुओं की चीजें बनाते थे। शराब, शक्कर, मिट्टी के बर्तन, शीशे के पात्र, सुन्दर कपड़े और कागज बनाने में वे बड़े ही निपुण थे और रंगसाजी करने तथा चमड़े के काम में भी बेजोड़ थे। व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। जमीन और समुद्र दोनों ही रास्ते से व्यापार होता था। भूमि पर ऊँट और समुद्र पर जहाज चलते थे। अरबवासी कुशल-नाविक थे। मिश्र से एक जंगी बेड़ा भेजकर साइप्रस पर अधिकार किया गया था जो उनकी पहली सामुद्रिक विजय थी। कुस्तुन्तुनिया पर भी सामुद्रिक रास्ते से आक्रमण हुआ था। उनके जहाज भारत तक पहुँचते थे। भारत, चीन, रूस, अफ्रीका तथा पूर्वी द्वीप-

[1] डॉ० मैक्स मेयरहोफ

समूह से उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। बगदाद और बुखारा जैसे प्रमुख स्थानों में मेले लगते थे जिनमें दूर-दूर के व्यापारी आते थे। कृषि में भी उनकी अभिरुचि रहती थी और वे वैज्ञानिक ढंग से खेती करना जानते थे। सिंचाई की प्रणाली से वे भली-भाँति परिचित थे।

कालान्तर में तुर्कों की विजय के साथ इस गौरवमय सभ्यता एवं संस्कृति का अन्त हुआ। वे जहाँ भी गये वहाँ विनाश के बीज बोते गये। किन्तु स्पेन में उसके बाद भी इसकी ज्योति जगमगाती रही क्योंकि वहाँ उनकी पहुँच नहीं हो सकी।

अरब सभ्यता की देन

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबवासियों ने मानव सभ्यता व संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। विज्ञान के क्षेत्र में उनकी अपूर्व देन है। चिकित्सा शास्त्र में तो उन्होंने कमाल कर दिखाया। वे बड़े-बड़े खतरनाक चीड़-फाड़ का काम करते थे लेकिन अभी यूरोप के लोग पुरानी धार्मिक विधियों तथा जादू-टोनों के द्वारा ही समस्त रोगों की चिकित्सा कराते थे। यूरोप के अन्धयुग में कार्डोवा का राज्य प्रकाश-स्तम्भ के रूप में विद्यमान था। उन्होंने ज्ञान की ज्योति को जलाये रखा, अध्ययन की उत्सुकता को बनाये रखा और अनुसन्धान की भावना को जगाये रखा। इससे १५वीं सदी के पुनरुत्थान के आन्दोलन के सफल होने में बड़ी सहायता मिली। इस प्रकार अरब-वासियों ने प्राचीन तथा अर्वाचीन सभ्यताओं को मिलाने में एक कड़ी का कार्य किया है।

अध्याय १६

एशियायी बर्बर जातियाँ—हूण, मंगोल तथा तुर्क

भूमिका

पृथ्वी के कई भागों में कुछ बर्बर खानाबदोश[1] जातियाँ रहती थीं। यूरोप में जो बर्बर जातियाँ रहती थीं उनका अध्ययन किया जा चुका है। इस अध्याय में एशिया में रहने वाली बर्बर जातियों का उल्लेख किया जायगा। इनमें तीन जातियाँ प्रसिद्ध थीं, हूण, मंगोल तथा तुर्क। ये मध्य एशिया के घास के मैदानों में रहते थे। ये तम्बुओं तथा झोपड़ियों में अपने दिन काटते थे और इनका मुख्य वैभव पशु तथा भेड़ थे। जब आबादी की वृद्धि या अन्य कारणों से भोजन की समस्या विकट होती थी तो ये जिधर-तिधर घूमने-फिरने लगते थे। इन्होंने साहित्य, कला या राजनीति के विकास में कोई भाग नहीं लिया है, किन्तु युद्ध कला को प्रोत्साहित किया है और सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार में वे सहायक सिद्ध हुए हैं। इतिहास में यही उनका महत्त्व है।

(क) हूण जाति

हूण जाति के लोग पश्चिमी तुर्किस्तान और उसके आस-पास रहते थे। कई सदियों तक कष्टपूर्ण जीवन बिताने और शांत रहने के बाद वे इधर-उधर घूमने-फिरने लगे और लूट-पाट, मार-काट करना उनका प्रधान पेशा बन गया। जहाँ भी उनका तूफ़ानी धावा होता था वहीं विनाश तथा विध्वंस का भी दौरा होता था। सर्व प्रथम उन्होंने चीन पर धावा बोलना शुरु किया था किन्तु उनसे बचने के लिये चीनी सम्राटों ने सुप्रसिद्ध विशाल दीवार का निर्माण कराया। जब चीन में उनका कोई बस न चला तब वे अन्य दिशाओं की ओर मुड़े। उनकी एक शाखा वोल्गा पार कर यूरोप पहुँची और रोम साम्राज्य में उत्पात मचाने लगी। इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। उन्होंने एशिया के भी कई देशों पर आक्रमण किया। ५वीं और ६वीं सदी में भारत उनकी बर्बरता का शिकार हुआ था। वे श्वेत हूण कहलाते थे। भारत में उस समय गुप्तों का शासन था। ४५४ ई० में हूणों के एक जत्थे ने अफ़गानिस्तान होता हुआ पंजाब पर धावा बोल दिया। स्कन्दगुप्त ने उनका सामना किया और उनकी मिट्टी पलीद कर दी। अब लगभग आधी सदी तक भारत की ओर ताकने की उनकी हिम्मत नहीं हुई।

---

[1] भ्रमणशील

लेकिन मध्य एशिया में उनकी नोंच-खसोट जारी रही। उन्होंने कितने नगरों और ग्रामों को नष्ट किया और सहस्रों व्यक्तियों को तलवार के घाट उतार दिया। ईरान के सम्राट फीरोज की उनसे मुठभेड़ हुई जिसमें सम्राट को अपना प्राण तक गँवाना पड़ा। इन सफलताओं से उत्साहित होकर हूणों ने पुनः भारत पर चढ़ाई करने का साहस किया और पश्चिमोत्तर सीमा के कुछ प्रान्तों पर आधिपत्य कर लिया। उनका सरदार तोरमान गान्धार का राजा था। उसने मालवा तक धावा बोल दिया। भानुगुप्त ने सामना तो किया किन्तु विजयश्री हाथ नहीं लगी।

तोरमान के बाद उसका लड़का मिहिरकुल बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसमें निर्दयता कूट-कूट कर भरी थी। वह कृतघ्न तथा असहिष्णु भी बढ़-चढ़ कर था। उसने स्यालकोट में अपनी राजधानी बनायी। उसने उत्तर कालीन गुप्त सम्राटों को बड़ा ही तंग किया। अन्त में यशोधर्मन ने उसके छक्के छुड़ा दिये और हूणों को देश से बाहर निकाल दिया। ५६५ ई० में तुर्कों और फारसवासियों की सम्मिलित शक्ति ने हूणों को हराया और अब वे निःशक्त हो गये। भारतवर्ष में जो हूण रह गये थे वे कालान्तर में यहाँ की जातियों में घुल-मिल गये।

(ख) मंगोल जाति

भूमिका

चीन के उत्तर में मंगोलिया एक देश था जहाँ के निवासी मंगोल कहे जाते थे। मंगोल के अतिरिक्त तातार आदि कुछ अन्य खानाबदोश जातियाँ भी रहती थीं। इन लोगों का जीवन बड़ा ही कष्टमय था। अतः वे स्वस्थ और बलशाली होते थे। इन्हें किताबी ज्ञान भले ही न हो, प्राकृतिक और व्यावहारिक ज्ञान अवश्य ही प्राप्त था। वे युद्ध कला में निपुण थे और घोड़ों पर सवारी करना जानते थे। किन्तु १२वीं सदी तक उनमें किसी प्रकार का संगठन नहीं था। ११५५ ई० में तातारों के वंश में टिमोचीन नाम का एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ जो इतिहास में चंगेज खाँ के नाम से सुविख्यात है। वह जैसा ही भयंकर थी वैसा ही योग्य भी। जब वह १० वर्ष का था तभी उसके पिता चल बसे थे। किन्तु इससे वह निराश नहीं हुआ। ५० वर्षों तक उसके जीवन में कोई बड़ी घटना नहीं हुई। १२०६ ई० में, जब उसकी अवस्था ५१ वर्ष की हो रही थी, मंगोलिया की सभी जातियों ने मिलकर उसे अपना नेता निर्धारित किया और खा (सम्राट) की उपाधि से अलंकृत किया। इस प्रकार मंगोल जातियों को संगठित करने का एकमात्र श्रेय चंगेज खा को प्राप्त हुआ। अब एक नेता के अधीन एकत्र हो मंगोलों ने अपनी तूफानी विजय-यात्रा प्रारम्भ की।

चंगेज खाँ

चंगेज सीजर तथा सिकन्दर की श्रेणी का लड़ाकू एवं विजेता था। किन्तु क्रूरता

में वह अपना सानी नहीं रखता था। उसने एक विशाल विश्व-विख्यात सेना सुसंगठित किया। अश्व सेना को छोटे-छोटे वर्गों में विभक्त कर दिया और सैनिकों में बलिदान की भावना भर दी। अब उसने एशिया तथा यूरोप के भूभागों पर एक भीषण बवंडर के समान प्रस्थान किया। उसकी विजयों का उल्लेख करने के पूर्व तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करना आवश्यक है।

चित्र ४३—चंगेज़ खाँ

चीन में तांग वंश के पतन के बाद शुंग वंश की स्थापना हो चुकी थी। भारत में ग़ुलाम वंश का शासन था। फ़ारस और मेसोपोटेमियाँ पर ख्वारज़म के मुसलमानों का अधिकार था और समरकन्द उनकी राजधानी थी। बग़दाद में ख़लीफ़ा का शक्तिहीन शासन था। समरकन्द और बग़दाद के पश्चिम में सेल्जुक तुर्क और मिश्र तथा फ़िलिस्तीन में सलादीन के वंशज राज्य कर रहे थे। इन तुर्कों में फूट फैली हुई थी। धर्म-युद्धों का अन्तिम अवस्था में पदार्पण हो रहा था। फ्रेडरिक द्वितीय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। फ्रांस में नवें लूई का राज्य था। कुस्तुन्तुनियाँ में पूर्वी रोमन साम्राज्य की तूती बोल रही थी।

चंगेज चीन और मंचूरिया को विजय करता हुआ पेकिंग तक पहुँच गया। ख्वारज़म के शाहों को उसके सामने झुकना पड़ा और उनकी राजधानी समरकन्द मटिया-मेट कर दी गई। जलालुद्दीन का पीछा करते हुए वह भारत की सीमा तक पहुँच गया था। किन्तु सौभाग्यवश देश के अन्दर प्रवेश न कर सका। उसने रूस पर भी चढ़ाई की और कीफ के ड्यूक को पराजित किया। इस तरह उसने एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया जो पश्चिम में कृष्ण सागर से पूरब में प्रशान्त महासागर तक फैला था। उसकी राजधानी कराकुरम में स्थापित थी। इस प्रकार प्रतिभाशाली तथा भयंकर जीवन व्यतीत करते हुए ७२ वर्ष की उम्र में १२२७ ई० में वह काल के गाल में चला गया।

यह पहले ही कहा गया है कि चंगेज एक क्रूर और भयंकर व्यक्ति था किन्तु उसे आधुनिक मापदण्ड से नहीं तौलना चाहिये। क्रूरता केवल उसी की एक विशेषता

नहीं थी, बल्कि तत्कालीन विश्व में प्रायः सभी शासकों का यह एक प्रधान गुण था। खानाबदोश होने के कारण उसे नगरों तथा बस्तियों से स्वाभाविक ही घृणा थी। अतः उसने उन्हें बुरी तरह नष्ट किया। खारज़म के मुस्लिम राज्यों में उसने डंके की चोट से भीषण उत्पात मचाया था क्योंकि शाह ने उसके राजदूत को कत्ल करवा दिया था। इन अवगुणों के होते हुए भी उसमें कई गुण थे। वह सफल विजेता के अतिरिक्त कुशल शासक तथा संगठनकर्त्ता भी था। स्वयं साक्षर नहीं होते हुये भी उसने लेखन कला को प्रोत्साहित किया। साम्राज्य विस्तार के चलते एशिया तथा यूरोप में घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हुआ और व्यापारिक विकास तथा विचारों के आदान-प्रदान में सहायता मिली। सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में यही मंगोलों की देन रही है।

चंगेज के उत्तराधिकारी

चंगेज के उत्तराधिकारियों ने उसके कार्यों को जारी रखा। उसके मरणोपरान्त उसका पुत्र ओगताई सम्राट हुआ। उसने चीन पर पूर्ण रूप से अधिकार स्थापित किया
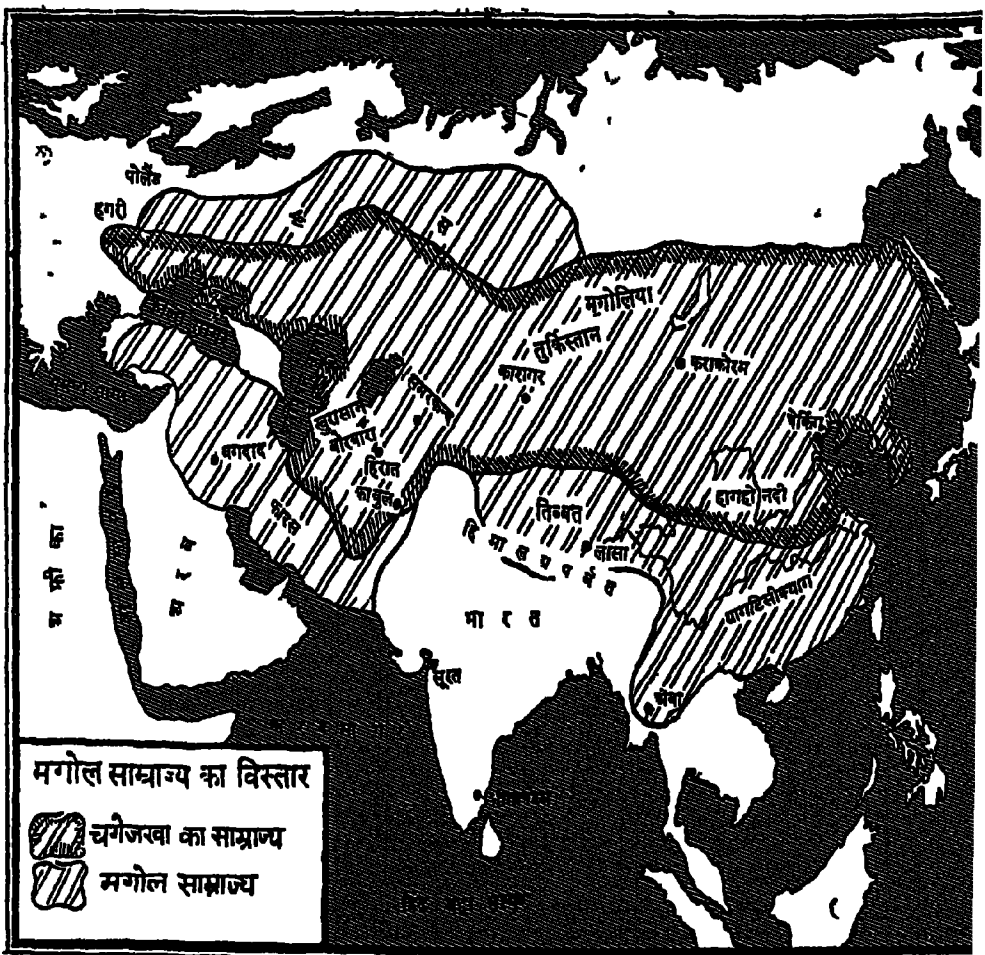
चित्र ५०

और शावूताई के नेतृत्व में यूरोप में एक विशाल सेना भेजी। रूस पर आधिपत्य स्थापित हुआ। पौलैंड तथा जर्मनी भी नत-मस्तक हुए। फ्रेड्रिक द्वितीय ने भी मंगोलों का लोहा मान लिया। इसी लगातार विजय की घड़ी में (१२४० ई०) में ओगताई का प्राणान्त हो गया और पश्चिमी यूरोप मंगोलों की रौंद से बच गया। १२५१ ई० में मंगू खाँ सम्राट हुआ। उसने अपने भाई कुबलई खाँ को चीन का शासक नियुक्त किया और तिब्बत पर भी मंगोल-प्रभुत्व स्थापित किया। १२५८ ई० में उसके दूसरे भाई हुलागू खाँ ने बगदाद को धराशायी कर दिया, लाखों व्यक्तियों को तलवार के घाट उतार दिया और अकूत धन-दौलत को हड़प लिया। मंगोल अब मिश्र पर धावा बोलना चाहते थे किन्तु फिलस्तीन में ही १२६० ई० में मिश्रियों ने उन्हें बुरी तरह हराया और अब वे पतनोन्मुख हो गये।

कुबलई खाँ (१२५६-६० ई०)

१२५६ ई० में कुबलई खाँ को सम्राट बनाया गया। किन्तु चीन में ही उसकी विशेष अभिरुचि थी। उसने प्राचीन राजधानी कराकोरम को छोड़कर पेकिंग में नयी राजधानी स्थापित की। उसने चीन में युआन नामक एक नवीन राजवंश भी चलाया जो १३६८ ई० तक कायम रहा। उसने अन्नाम और बर्मा को अपने साम्राज्य में मिलाया और जापान तथा मलयेशिया को जीतने का प्रयास किया। किन्तु वह सफल नहीं हुआ क्योंकि मंगोल जल-युद्ध से अपरिचित थे।

कुबलई खाँ का शासन चीन के इतिहास में एक महान् अध्याय है। मंगोलों के इतिहास का भी यही एक उज्ज्वल पृष्ठ है। उसने जनहित के कई कार्य किये। एक इम्पीरियल एकेडमी स्थापित हुई। बैंक-नोट की प्रणाली चलायी गई और पीली नदी में व्यापार का कार्य शुरू हुआ। आवागमन के साधनों में सुविधाएँ प्राप्त हुईं। साम्राज्य के अन्दर काफिलें कहीं भी वे रोक-टोक आते-जाते थे। अनेक नहरों का निर्माण हुआ जिनके द्वारा नदियाँ और प्रमुख नगर एक दूसरे से मिला दिये गये। नहर-निर्माण के फलस्वरूप भूमि का अधिकांश भाग उपजाऊ बन गया और

चित्र ५१—कुबलई खाँ

उर्वरा शक्ति में वृद्धि हो गई। अनेक सड़कें उन्नत बनायी गईं। नदियों पर अनेक पुल भी बनाये गये। देश के आयात-निर्यात में तरक्की हुई और कई नगर मालोमाल हो गये।

उसने विदेशी यात्राओं को भी प्रोत्साहित किया जिनके बदौलत यूरोप की चीन में अभिरुचि बढी। इस तरह उसके राज्य काल में चीन की भौतिक उन्नति हुई और शासन कार्य में उसने न्याय तथा निष्पक्षता का परिचय दिया। उसने राजनीतिक प्रणाली तथा धार्मिक विधि-विधानों में हस्तक्षेप नहीं किया। १२९० ई० में इस योग्य सम्राट का देहान्त हो गया।

मंगोलों का पतन

यह पहले ही कहा गया है कि १२६० ई० से मंगोल पतनोन्मुख हो गये। कुबलई खाँ की मृत्यु के साथ ही मंगोल साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। यह पाँच भागों में विभक्त हो गया।

(१) चीनी साम्राज्य—इसमें चीन, तिब्बत, मंगोल, मंचूरिया और कोरिया शामिल थे। (२) साइबेरिया का साम्राज्य। (३) रूस, पोलैंड तथा हंग्री का स्वर्ण-राज्य। (४) इलखान साम्राज्य—इसमें एशियामाइनर, फारस तथा मेसोपोटेमिया सम्मिलित थे। (५) चगताई साम्राज्य—इसका केन्द्र तुर्किस्तान में था। इसे तुर्की साम्राज्य भी कहते हैं।

इस प्रकार १२वीं सदी के अन्त तक मंगोलों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। यह अरबी साम्राज्य से भी अधिक विस्तृत था। पश्चिम में विश्चुला तथा डैन्यूब नदी से पूरब में प्रशान्त महासागर तक और उत्तर में आर्कटिक सागर से दक्षिण में फारस की खाड़ी और हिमालय पहाड़ तक इसका विस्तार था। मगोलों की निरन्तर विजयों का तत्कालीन धर्म-युद्धों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। ईसाई तथा मुसलमान अपनी-अपनी रक्षा की चिन्ता करने लगे जिससे युद्ध की गति में शिथिलता आ गई। मुस्लिम राज्यों की शक्ति का ह्रास हुआ, बगदाद भूमिसात हो गया और अब्बासी राजवंश की समाप्ति हो गई। परन्तु मंगोलों की सभ्यता एवं संस्कृति की नींव दृढ नहीं थी। अतः कालान्तर में वे स्वयं अपना अस्तित्व खो बैठे। १३६८ ई० में यूनान वंश का अन्त हो गया और पूर्वी एशिया में उन्होंने चीनियों में मिलकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उन्होंने पश्चिमी एशिया में मुसलमानों के साथ मिलकर इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया।[1] तुर्किस्तान के निवासी अपने पुरातन खानाबदोशी जीवन में ही आनन्द का अनुभव करने लगे थे। यूरोप के मंगोलों ने वहाँ के निवासियों में मिलकर ईसाई धर्म मान लिया। १५वीं सदी में रूस ने अपनी स्वतंत्रता ही घोषित कर डाली।

मार्को पोलो की यात्राएँ

कुबलई खाँ का राज्य काल एक अन्य घटना के लिये भी प्रसिद्ध है। उसके राज्य

---

[1] इस्लाम ग्रहण करने के बाद मंगोल मुगल कहलाने लगे।

में वेनिस नगर के दो व्यक्ति निकोलो पोलो और मेफियो पोलो भ्रमण करने आये थे। १२६६ ई० में जब वे अपने देश को लौटने लगे तो खाँ ने उनके द्वारा पोप के पास एक सन्देश भेजा। सन्देश यह था कि पोप एक सौ पादरी विद्वानों को उसके दरबार में भेजे जो ईसाई धर्म की श्रेष्ठता को सिद्ध कर सकें। किन्तु उस समय रोम में पोप था ही नहीं और एशिया का महान् सम्राट् ईसाई होने से बच गया। कुछ समय के बाद जब एक पोप की नियुक्ति हुई तो उसने दो डोमिनीकन भिक्षुकों को भेजा। भिक्षुकों के साथ निकोलो पोलो, मेफियो पोलो और निकोलो के पुत्र मार्को पोलो ने भी प्रस्थान किया और स्थल मार्ग से भ्रमण किया। फिलिस्तीन, आर्मीनिया, मेसोपोटेमिया, फारस, बल्ख, काशगर आदि स्थानों को पार करते हुए वे चीन में पधारे। खाँ की आज्ञा सुवर्ण-पट पर खुदी हुई थी जिसे उन्होंने यात्रा में अपने साथ ले लिया था। यही आज्ञापत्र प्रवेश-पत्र का काम देता था। चीन पहुँचने पर मार्को पोलो ने खाँ को बड़ा ही प्रभावित किया और १६ वर्ष तक उसके राज्य में रहा। खाँ ने उसे कुछ काल के लिये प्रांतीय शासक भी बना दिया था। उसने सुमात्रा, जावा, बर्मा आदि देशों में भ्रमण भी किया। १२९५ ई० में वह समुद्र मार्ग से वेनिस लौटा। सुमात्रा, दक्षिणी भारत, फारस तथा कुस्तुन्तुनिया आदि देश वापसी यात्रा में मिले हुए थे। किंतु १३वीं सदी के अन्त तक वह किसी सामुद्रिक युद्ध में पकड़ा गया और बंदी गृह में भेज दिया गया। इसी बंदी-गृह में उसने अपनी पूर्वी यात्रा के अनुभवों को पुस्तक के रूप में लिपिबद्ध कर डाला जो "मार्कोपोलो की यात्रा" के नाम से विश्व-विख्यात है! यह पुस्तक बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई। इसके अध्ययन से कोलम्बस आदि अनेक नाविकों तथा साहसिकों को सामुद्रिक यात्राएँ करने के लिए प्रोत्साहन मिला। इन यात्राओं के फलस्वरूप पूर्व तथा पश्चिम का संपर्क बढ़ा। वस्तुतः इसी समय से पूर्व में और खासकर चीन में पश्चिम की अभिरुचि दीख पड़ने लगी।

तैमूर लंग

१४वीं सदी के अंत में (१३६९-१४०५ ई०) तैमूर लंग नाम का एक मंगोल विख्यात हुआ। वह भी चंगेज खाँ के समान उत्साही लड़ाकू तथा अत्याचारी था। वह जहाँ पहुँचता था वहाँ ही विनाश का पहाड़ ढाता जाता था। उसके दिल में लेश-मात्र दया नहीं मालूम पड़ती थी और नर-मुण्डों के स्तूप बनाने में वह बड़ा आनन्द अनुभव करता था। उसने चीन की महान् दीवार से मास्को तक के भूभागों को हड़प लिया। १३९८ ई० में उसने दिल्ली तक धावा किया और हजारों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा। १४०२ ई० में उसने अंगोरा के युद्ध में टर्की के सुल्तान को पराजित किया और मिश्र के सुल्तान को भी उसके सामने झुकना पड़ा। अंत में वह चीन पर हाथ

साफ करने की योजना बना ही रहा था कि १४०५ ई० में नियति ने उसकी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। उसका प्राणान्त हो गया।

मुगल साम्राज्य की नींव

मंगोलों की एक शाखा ने बाबर के नेतृत्व में १५२६ ई० में भारत में एक साम्राज्य की नींव दी जो दो शताब्दियों तक फूलता-फलता रहा। बाबर अपनी माँ के पक्ष से मंगोल और पिता के पक्ष से तुर्क था। इस साम्राज्य की चर्चा यथा स्थान पर की जायगी। अब यहाँ सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में मंगोलों की देन पर विचार करना उपयुक्त होगा।

मंगोलों की देन

मानव समाज को मंगोलों की देन के सम्बन्ध में यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ बहुत ही संक्षेप में उसकी पुनरावृत्ति की जाती है। वे क्रूर और अत्याचारी तो थे ही जिन्होंने खून की नदी बहाई, नर-मुण्डों के पहाड़ बनाये और नगरों को भूमि-सात् किये; किंतु वे कोरे जंगली नहीं थे। उन्होंने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया और इसमें शांति भी स्थापित रखी। व्यवस्था का भी कोई अभाव नहीं था। एशिया तथा यूरोप के बीच जो सम्पर्क अंत होने पर था वह निकटतर हो गया और सामुद्रिक यात्रा तथा व्यापार को प्रोत्साहन मिला। उन्हीं के द्वारा आग्नेयास्त्र, मुद्रणकला तथा दिशासूचक यंत्र का यूरोप में प्रचार हुआ। उन्होंने बगदाद की खिलाफत का अंत कर तुर्की साम्राज्य की स्थापना के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। उन्होंने आधुनिक रूस की उन्नति के लिये भी रास्ता साफ कर दिया। भारत के मुगल सम्राटों के राज्य-काल में कला-कौशल की खूब उन्नति हुई और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ। इस तरह सभ्यता के जर्जर शरीर में मंगोलों ने नव-जीवन का संचार किया। सबसे बड़ी बात तो थी उनकी सहिष्णुता। सभ्य कही जाने वाली जातियाँ धर्मान्धता का शिकार हो रही थीं और धर्म के नाम पर रक्त-धारा बहा रही थीं। उस समय भी बर्बर मंगोलों ने सहिष्णुता की नीति अपना कर सभ्य लोगों का पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने अपनी सुविधा के अनुसार दुनियाँ के तीन महान् धर्मों—बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम को ग्रहण कर अपनी सहनशीलता का परिचय दिया।

(ग) तुर्क जाति

भूमिका

तुर्क लोग गोबी मरुभूमि के आस-पास तुर्किस्तान में रहते थे और वे बंजारे का जीवन व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे उनमें सभ्यता का प्रचार होने लगा था। ८वीं सदी तक उन्होंने अपना एक राज्य कायम कर लिया था। उसमें बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म का भी प्रचार हुआ था किंतु इन धर्मों के प्रभाव से उनमें उदारवादिता का संचार नहीं हुआ। मंगोलों के दबाव और विषम भौगोलिक स्थिति के कारण उन्हें पश्चिम तथा

दक्षिण की ओर बढ़ने के लिये बाध्य होना पड़ा। अतः एक ओर अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत तक और दूसरी ओर पश्चिमी एशिया और दक्षिण-पूर्वी यूरोप तक उनकी पहुँच हुई।

ग़ज़नवी तुर्क

पश्चिमी एशिया में पहले वे बगदाद के खलीफ़ाओं की सेना में भर्ती होने लगे थे और बाद में उन्नति करने लगे। ९६२ ई० में अलप्तगीन ने गजनी में एक राज्य कायम कर लिया। सुबुक्तगीन ने राज्य की शक्ति को और भी बढ़ाया। इसी वंश में महमूद नामक प्रसिद्ध विजेता हुआ जिसने भारत पर १७ बार चढ़ाई की थी। लेकिन वह कोरा सैनिक ही नहीं था, विद्या प्रेमी भी था। अलबरूनी जैसे वैज्ञानिक और फ़िरदौसी जैसे कवि उसी के दरबार में विराजमान थे।

सेल्जुक तुर्क

इन तुर्कों का एक फ़िरका सेल्जुक तुर्क कहलाता था। सेल्जुक एक तुर्क सरदार का नाम था जिसके वंशजों ने खलीफ़ाओं के राज्य का अन्त कर अपना राज्य स्थापित किया। खलीफ़ाओं के शासन काल में इन लोगों ने बड़ा उत्पात मचाया और ये बगदाद के पतन का एक कारण बने। ये लोग सुन्नी सम्प्रदाय के थे और शियाओं को फूटी आँखों भी नहीं देखना चाहते थे। इन्होंने मिश्र तथा फ़ारस पर आधिपत्य स्थापित कर वहीं बस गये। १०७१ ई० में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया की सेना को पराजित किया और १०७६ ई० में ईसाइयों की तीर्थभूमि जेरुजलम पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हुआ। इसी के फल-स्वरूप ईसाइयों तथा मुसलमानों में धर्म-युद्ध का श्रीगणेश हुआ जिसका विशद वर्णन पहले ही किया जा चुका है। ईसाइयों का प्रयास सफल नहीं हुआ और १९१८ ई० तक जेरुजलम पर मुसलमानों का अधिकार अक्षुण्ण रहा।

लेकिन १३वीं सदी के मध्य में तुर्कों का स्वतंत्र अस्तित्व मिट गया। मंगोलों ने उन्हें पराजित किया और उन पर अपनी प्रभुता स्थापित की।

१२वीं सदी के अन्त तक अफ़ग़ानिस्तान में गोरी वंश ने एक राज्य कायम किया। मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में इस राज्य ने उन्नति की और तुर्की साम्राज्य का तीसरा महान् अध्याय शुरू हुआ। भारत में राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से मुहम्मद ने इस देश पर चढ़ाई की और वह सफल भी हुआ। भारत में तुर्की-अफ़ग़ान राज्य की स्थापना उसी के सतत् प्रयास का परिणाम था।[1]

---

[1] इसका वर्णन "मध्यकालीन भारत" नामक अध्याय में मिलेगा।

उस्मानी तुर्क

तुर्कों की एक दूसरी शाखा थी जिसे इतिहास उस्मानी तुर्क के नाम से स्मरण करता है। उनके सुविख्यात सरदार उस्मान के ही नाम पर इस शाखा के तुर्क उस्मानी कहलाने लगे थे। यूरोपियन लोग उन्हें ओटोमन कह कर पुकारते थे। उनके प्रधान को सुल्तान की उपाधि मिली थी। मंगोलों के निरन्तर उत्पात के समय ये तुर्क अपना देश छोड़ कर एशिया माइनर में जाकर बस गये। सेल्जुक तुर्कों की दुर्बलता के साथ उस्मानी तुर्कों की शक्ति क्रमशः बढ़ती गयी। १४वीं सदी के मध्य तक वे पूरे शक्तिशाली हो गये और दर्रा दानियाल को पार कर यूरोप में धावा करने लगे। उन्होंने साइबेरिया तथा बल्गेरिया को अधिकृत कर एड्रियानोंपुल में अपनी राजधानी स्थापित की। १४०२ ई० में कुस्तुन्तुनिया पर उनका आक्रमण हुआ किन्तु सारा प्रयास विफल गया। परन्तु आधी शताब्दी के पश्चात् १४५३ ई० में मुहम्मद द्वितीय के नेतृत्व में उन्हें विजय प्राप्त हुई और कस्तुन्तुनिया उनके अधिकार में आ गया। नगर का खूब लूट-पाट हुआ, विश्वविख्यात सन्त सोफिया के गिरजे का अकूत वैभव उनके हाथ लगा और इसे मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर डाला गया। पोप तथा सम्राट् पुनः धर्म युद्ध की दुहाई देना चाहते थे किन्तु अब तो इसके दिन लद चुके थे। तुर्कों की सफलता का एक प्रधान कारण था उनका सैन्य संगठन। उनके अधीन एक संगठित सेना थी। राज्य की सेवा के लिये छोटे-छोटे स्वस्थ ईसाई बच्चे माँग लिये जाते थे और उन्हें इस्लामी तथा सैनिक शिक्षा दी जाती थी। इन सैनिकों का दल "जेनीसिरीज" के नाम से प्रसिद्ध था क्योंकि वे सुल्तान के लिये अपनी जान तक देने को तैयार थे। ये अपनी योग्यता तथा वीरता के लिये सुविख्यात थे और तुर्की सल्तनत के विस्तार में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

अब तुर्क-शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। उन्होंने यूनान तथा मिश्र को जीता और स्वयं खलीफा की उपाधि भी ग्रहण कर ली। यह स्थिति लगभग ५ शताब्दियों तक कायम रही। लेकिन १७वीं सदी से ही तुर्कों के पतन का प्रारम्भ हो चुका था। दूरस्थ प्रदेश स्वतंत्र होते जा रहे थे। प्रथम महायुद्ध के बाद १९२२ ई० में टर्की के नेता मुस्तफा कमाल पाशा ने खलीफा तथा सुल्तान के दोनों पदों पर कुठाराघात कर जनतन्त्र की स्थापना की।

सुलेमान प्रथम (१५२०-६६ ई०)

उस्मानी वंश में सुलेमान प्रथम एक उच्चकोटि का शासक हुआ जिसके समय में तुर्की साम्राज्य अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने हंगरी तथा सायप्रस पर अधिकार कायम किया और भूमध्य सागर के पूरबी भाग पर तुर्कों का आधिपत्य स्थापित हो गया। जल शक्ति का विकास हुआ और अलजीरिया, जेनोआ तथा वेनिस उसके सामने नत-मस्तक थे। कृष्ण सागर पर भी तुर्कों का प्रभाव था। इस
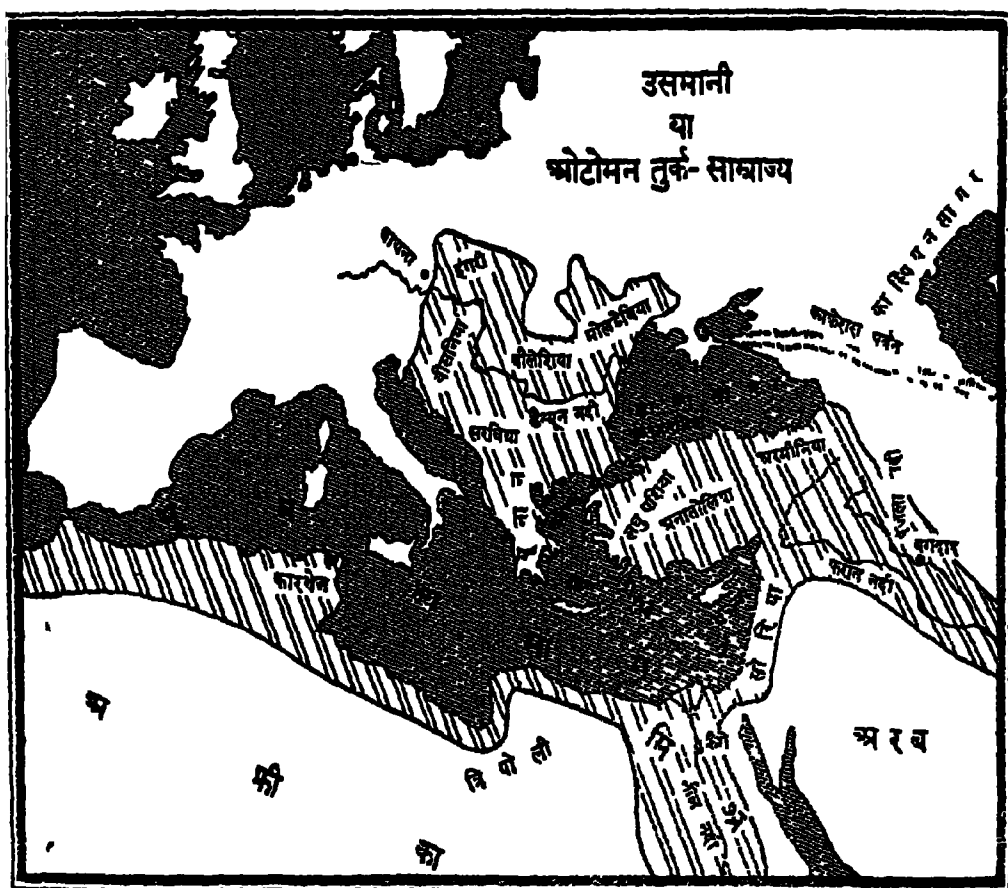
चित्र ५२

प्रकार साम्राज्य तथा वैभव की खूब वृद्धि हुई और सुलेमान को महान् की उपाधि से विभूषित किया गया। किन्तु तुर्कों ने रोमन साम्राज्य की बुराइयों को धीरे-धीरे ग्रहण कर लिया और सुलेमान के मरते ही उनके साम्राज्य की अवनति होने लगी।

तुर्कों की देन

हूणों तथा मंगोलों की भाँति तुर्क भी भयंकर लड़ाकू तथा बड़े कठोर थे। वे शान्ति-युक्त प्रयत्नों के दुश्मन थे। उनका कार्य मुख्यतः विनाशात्मक था। इस्लाम ग्रहण करने पर वे इसके कट्टर प्रचारक हो गये। उनमें अरबों तथा मंगोलों की सहिष्णुता का अभाव था। उन्होंने इस्लाम की निन्दा कराई। इन कारनामों के होते हुए भी सभ्यता के क्षेत्र में उनकी देन नगण्य नहीं है। महमूद, सलाउद्दीन और सुलेमान जैसे सुल्तान कला-प्रिय तथा विद्या प्रेमी थे। दिल्ली के कुछ मुसलमान शासकों ने वास्तुकला को प्रोत्साहित किया और हिन्दू-मुस्लिम शैली के प्रचार के लिये रास्ता खोल दिया।

जब सेल्जुक तुर्कों ने बगदाद पर चढ़ाई की तो इससे उसे फायदे ही हुए। बगदाद अवनति की दशा में था। अब उसमें एक नयी स्फूर्ति का संचार हुआ। शिया-सुन्नियों के आपसी झगड़े दब गये। साहित्य, विज्ञान तथा कला-कौशल की उन्नति हुई। फिर उनके

प्रयास से पश्चिमी एशिया में इस्लाम धर्म का प्रचार हुआ। जमींदारियों का अन्त कर किसानों को भूमि दी गई। स्थानीय चुंगी उठा दी गई और विद्वानों को प्रोत्साहित किया गया।

सेल्जुक तुर्कों की अपेक्षा अटोमन तुर्क पिछड़े हुए थे। युद्ध और सैन्य संगठन में ही इनकी विशेष अभिरुचि थी। प्रजाहित के लिये वे चिंतित नहीं होते थे। उनके साम्राज्य में वाणिज्य, व्यापार कला-कौशलादि को समुचित प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हुआ। लेकिन उनकी यूरोप-विजय से विश्व-इतिहास बड़ा ही प्रभावित हुआ है। कुस्तुन्तुनियां रोम साम्राज्य की परम्परा का उज्ज्वल प्रतीक था। अब उसका अंत हो गया। तुर्क एशियायी राष्ट्र के अंग होने के सिवाय अब यूरोपीय राष्ट्र के भी अंग बन गये। अतः विचार विनिमय का प्रसार हुआ। पूर्वी साम्राज्य से यूनानियों ने भाग कर पश्चिमी यूरोप में शरण ली और नव-जागरण को प्रोत्साहित किया। पूर्वी देशों से व्यापारिक मार्ग अवरुद्ध हो जाने से नवीन भौगोलिक खोजों के लिये स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

अध्याय २०

मध्यकालीन एशिया—भारतवर्ष

राजनीतिक दशा

हर्ष की मृत्यु के उपरान्त ७ वीं सदी-मध्य से भारतवर्ष की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई और अनेकों छोटे-बड़े राज्य निकल पड़े। इनमें मालवा के परमार, बंगाल के पाल, कन्नौज के प्रतिहार और दक्षिण में राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल तथा पाण्ड्य राजवंश विशेष प्रसिद्ध थे। गुर्जर, प्रतिहार, चंदेल, तोमर, गढ़वाल, राठौर, चौहान और सोलंकी सुविख्यात राजपूत वंश थे। ये सभी उत्तरी भारत में स्थित थे। कुछ समय तक इन क्षत्रिय राजवंशों की बहुत धाक जमी हुई थी और सर्वत्र इनकी तूती बोल रही थी। लेकिन पारस्परिक द्वेष तथा संघर्ष इनकी विशेषताएँ थीं। होयशल, काकतीय और यादव दक्षिण के प्रसिद्ध राजपूत वंश थे। सभी राज्य आपस में लड़ते-झगड़ते थे और विदेशी आक्रमणों के समय भी एक झण्डे के नीचे एकत्रित नहीं हो पाते थे। अतः धीरे-धीरे मुसलमानों ने सभी राजवंशों को पराभूत कर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। किंतु यह स्मरणीय है कि मध्यकालीन यूरोप में जो अराजकता का साम्राज्य था वैसी अराजकता एशिया के देशों में नहीं थी। कुछ काल के लिये भारत में गुर्जर-प्रतिहारों (७००-१००० ई०) और चोलों (६००-११०० ई०) के राज्य तो बहुत ही शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यपूर्ण थे और उनके समय में सर्वत्र शान्ति स्थापित थी।

सांस्कृतिक दशा

क्षत्रेय राजवंशों के समय में सभ्यता एवं संस्कृति की दशा प्रायः वही थी जो गुप्त काल में थी। सामाजिक संगठन का आधार पूर्ववत वर्ण ही था। रूढ़िवादिता की वृद्धि हो रही थी। सामंतवाद का भी विकास हो रहा था। सामंतों की महत्ता के अनुसार इसमें कई सीढ़ियाँ होती थीं। सामंत, महा सामंत, सामंताधिपति, मण्डलेश्वर आदि उपाधियों से वे सम्बोधित किये जाते थे। धर्म की दृष्टि से हिन्दू धर्म की प्रमुखता स्थापित हो चुकी थी। किन्तु अन्य धर्म-वाले भी स्वच्छन्द विचरते थे। हिन्दू धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय थे, शैव तथा वैष्णव। शैव सम्प्रदाय के श्री शंकराचार्य तथा वैष्णव सम्प्रदाय के श्री रामानुज प्रधान धर्मगुरु थे। कला और साहित्य की उन्नति गुप्त काल की भाँति हो रही थी। संस्कृत भाषा की प्रधानता थी। माघ तथा भारवि प्रसिद्ध विद्वान लेखक थे। अलंकार, व्याकरण, चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी गईं। उत्तरी

भारत की प्रान्तीय भाषाओं का विकास होने लगा था। हिन्दी साहित्य में यह काल वीर-गाथाकाल के नाम से प्रचलित है। दक्षिणी भाषाओं की भी उन्नति हुई। अनेक शैलियों में मन्दिरों का निर्माण होता था और भुवनेश्वर, काची, तंजोर आदि स्थानों के मंदिर बहुत ही सुन्दर बने हुए थे। मन्दिरों में धन-वैभव का कोई ठिकाना नहीं था। मूर्त्तियाँ भी कलापूर्ण होती थीं और उनमें भावों की प्रधानता थी, आकृति की नहीं।

मुस्लिम आक्रमण एवं विजय

इस्लाम के अभ्युदय पर दृष्टिपात किया जा चुका है। भारतवर्ष भी उसकी छाया से वंचित न रह सका। ७१०-१२ ई० में पश्चिमी किनारे सिन्ध पर अरबों के आक्रमण हुए। वहाँ के हिन्दू राजा दाहिर ने उनका सामना तो किया किन्तु उसके प्रयास विफल हुए। रानियों ने जौहर[1] की शरण ली और भारत के इतिहास में यही प्रथम जौहर था।

सिन्ध अरबों के हाथ में चला गया और ८७१ ई० तक इस पर उनका प्रभुत्व बना रहा लेकिन गुर्जर-प्रतिहार राज्य की शक्ति के सामने उनकी दाल न गली और वे सिन्ध से आगे नहीं बढ सके। अगले पौने दो सौ वर्षों के लिये भारत निश्चिन्त हो गया। राजनीतिक दृष्टि की अपेक्षा सास्कृतिक दृष्टि से अरबों की सिन्ध-विजय अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। अरबनिवासी बड़े ही गुणग्राही थे। अरबी विद्वानों ने हिन्दुओं से ज्योतिष, चिकित्सा, गणित आदि अनेक विद्याएँ सीखीं तथा संस्कृत ग्रंथों का अरबी भाषा में अनुवाद कराया। हिन्दू विद्वानों को बगदाद में बुलाकर कई पदों पर नियुक्त किया गया। १०वीं सदी के अंत में गजनी के महमूद का भारत पर आक्रमण होना शुरू हुआ। उसने ३० वर्ष के भीतर कुल १७ चढ़ाइयाँ कीं, अनेक मन्दिरों और मकानों को ध्वंस किया और अकूत धन लूटा। मथुरा, वृन्दावन, नगरकोट, थानेश्वर, कन्नौज आदि स्थानों के मंदिरों को तोड़ने के पश्चात् १०२४ ई० में सोमनाथ के सुविख्यात वैभव-पूर्ण मंदिर पर उसका वज्रप्रहार हुआ था। लेकिन वह भारत में शासन स्थापित करना नहीं चाहता था। अतः उसके आक्रमणों का लूट-पाट के सिवा कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं हुआ। लेकिन १२वीं सदी के अंतिम चरण में एक दूसरे अफगान मुहम्मद गोरी के आक्रमण का प्रारंभ हुआ। उस समय दिल्ली तथा अजमेर में चौहान वंश और कन्नौज में राठौर वंश का शासन स्थापित था। पहले वंश में पृथ्वीराज और दूसरे वंश में जयचन्द प्रसिद्ध राजा हुए थे किन्तु इन दोनों में घोर शत्रुता थी। गोरी ने इस स्थिति से लाभ उठाया। पहले हिन्दुओं ने मुसलमानों के छक्के छुड़ा दिये किन्तु दया के वशीभूत

---

[1] अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु स्वेच्छा से अग्नि में भस्मी भूत हो जाना। यह प्रथा राजपूत स्त्रियों मे प्रचलित थी। पति की मृत्यु के बाद अग्नि में भस्मीभूत हो जाने को सती कहा जाता है।

हो उन्होंने अपने शत्रुओं को कुचल नहीं डाला। अतः अवसर पाकर आक्रमणकारियों ने पुनः सिर उठाया। ११९२ ई० में तराइन के मैदान में युद्ध हुआ। इस बार मुसलमानों ने हिन्दुओं की मिट्टी पलीद कर दी; पृथ्वीराज पराजित हुए।

मुस्लिम राज्य

अब भारत पर इस्लाम का भी टीका लग चुका। मुस्लिम राज्य की नींव पड़ गयी। १२०६ ई० से १७६१ ई० तक यानी ५५० वर्षों तक भारत पर उनका शासन अक्षुण्ण बना रहा। भारत के इतिहास में १२०६ से १५२६ ई० तक के समय को तुर्की-अफगान सल्तनत काल और १५२६ से १७६१ ई० तक के समय को मुगल काल कहा जाता है।

प्रथम काल में ५ वंशों के मुसलमानों ने शासन किया। कथित दास वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश और लोदी वंश। गुलाम वंश का संस्थापक कुतुबुद्दीन था। इस वंश में अल्तमश तथा बलबन प्रसिद्ध राजा हुए। अल्तमश ने बगदाद के खलीफा की प्रभुता स्वीकार की। बलबन तड़क-भड़क तथा शान शौकत के लिये विशेष विख्यात था। उसके राज्य में संघर्षों का भी अभाव न था। खिलजी वंश में अलाउद्दीन (१२९६-१३१६ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसके समय में प्रायः समूचे भारतवर्ष में मुसलमानों का प्रभुत्व जम गया। दिल्ली से देवगिरी तक उसके साम्राज्य का विस्तार था। मेवाड़ विजय के समय सुन्दरी पद्मिनी ने सहस्रों राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर किया था। अलाउद्दीन विजेता तो था ही, वह एक योग्य शासक भी था। उसने प्रायः सभी आवश्यक वस्तुओं का दर निर्धारित कर दिया था ताकि लोगों को चीजें सुविधा से मिल सकें। तुगलक वंश में मुहम्मद तुगलक विशेष रूप से स्मरणीय है। उसमें गुणों और अवगुणों, अच्छाइयों तथा बुराइयों का विचित्र मिश्रण था। वह एक ओर विद्वान तथा दयालु था तो दूसरी ओर अधीर तथा निर्दयी। उसने सोने-चाँदी की जगह ताँबा का सिक्का चलाया और दिल्ली से दौलताबाद राजधानी बदली। किन्तु, अपने प्रयास में वह असफल रहा। इसी वंश के समय में तैमूर लंग का भारत पर आक्रमण हुआ था। अब मुस्लिम राज्य निःशक्त होने लगा था। सैयद और लोदी वंश के समय केन्द्रीय शक्ति सुदृढ़ नहीं रही। १५२६ ई० में पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर मुगल साम्राज्य की नींव खड़ी की। इस तरह ३२० वर्षों के पश्चात् दिल्ली की सल्तनत का सूर्य अस्त हो गया।

दक्षिणी भारत के स्वतंत्र राज्य

सल्तनत काल में दक्षिणी भारत में दो प्रसिद्ध स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई थी, बहमनी का मुस्लिम राज्य और विजयनगर का हिन्दू राज्य। मुहम्मद तुगलक के राज्य

काल में इनकी स्थापना हुई थी। हसन गंगू नामक अफगान ने बहमनी राज्य की और हरिहर तथा बुक्का नामक दो भ्राताओं ने विजयनगर राज्य की नींव दी थी। दोनों पड़ोसी राज्य थे किन्तु दोनों ही एक दूसरे के विरोधी थे और परस्पर लड़ाई-भिड़ाई किया करते थे।

विजयनगर की भौतिक तथा सांस्कृतिक उन्नति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। कई वंशों ने गद्दी को गौरवान्वित किया था। उनके शासन काल में कई विदेशी यात्री आये थे जिन्होने अपने भ्रमण वृत्तान्त में विजयनगर राज्य का हाल लिख छोड़ा है। १५वीं सदी के पूर्वार्द्ध में निकोलोकोन्ती तथा अब्दुल रज्जाक नाम के यात्री पहुँचे थे। उनके लेखों से मालूम होता है कि विजयनगर विश्व का एक सर्वश्रेष्ठ तथा अतुलनीय नगर था। शासक निरंकुशता के आधार पर राज्य करते थे। किन्तु प्रजा सुखी थी। एक विशाल सेना का संगठन हुआ था। ग्राम व्यवस्था जन समितियों के हाथ में थी। राजदरबार एक अद्‌भुत आकर्षक दृश्य था।

बहमनी राज्य ने भी उन्नति की लेकिन १६वीं सदी में यह पाँच टुकड़ों में विभक्त हो गया। ये आपस में लड़ते थे। लेकिन विजयनगर के विरुद्ध एक हो जाते थे। १५६५ ई० में तालीकोट के मैदान में इनकी विजयनगर के साथ मुठभेड़ हो गयी। विजयनगर की हार हो गयी और यह शक्तिहीन बन गया। बहमनी राज्य भी धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य में विलीन हो गया।

मुसलमानी काल की सभ्यता एवं संस्कृति

भूमिका

मुसलमानों के पहले भारत पर विदेशियों के आक्रमण हुये थे, जैसे पर्सियन, यूनानी, सीथियन, मंगोलियन और पार्थियन। लेकिन जो लोग भारत में बस गये थे वे कालान्तर में हिन्दू धर्म के अंग बन गये। हिन्दू संस्कृति एक विशाल समुद्र के समान है जिसमें अन्य विचारधाराएँ सुगमतापूर्वक मिलती रही हैं। परन्तु वह मुसलमानों को अपने में न खपा सकी। इसका प्रधान कारण था कि भारत में इस्लाम राज-धर्म के पद पर आरूढ़ था। लेकिन यह भी तो एक सत्य है कि जहाँ अन्य देशों में राजनीतिक सत्ता के साथ इस्लाम की भी विजय हुई वहाँ भारत में राजनीतिक विजय होने पर भी धार्मिक विजय न हो सकी। फिर भी हिन्दू तथा इस्लामी सभ्यताएँ कब तक एक दूसरे से पृथक् रह सकती थीं? उनके बीच में कोई अभेद्य दीवार तो नहीं खड़ी की जा सकती थी। जब दोनों का सम्मेलन हुआ तो दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकीं। विचारों के आदान-प्रदान को रोकना मानव शक्ति से परे है।

राजनीतिक व्यवस्था

तुर्क निरंकुशता के पोषक थे। अतः मुसलमानों ने भारत में स्वेच्छाचारी शासन

स्थापित किया। उनकी शक्ति सैन्य बल पर आधारित थी। प्रजा को अधिकार नहीं था। शासक क्रूर होते थे परन्तु वे न्यायप्रिय भी पाये जाते थे। सुल्तान पर केवल धार्मिक बन्धन था। वे कुरान शरीफ के आदेशों को मानने के लिये बाध्य थे। अतः राज्य में मुफ्तियों तथा उलमाओं का विशेष प्रभाव था। इन्होंने अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक जैसे शासक को बड़ा तंग किया था क्योंकि वे धार्मिक मामलों से स्वतंत्र रहना चाहते थे। विजित देशों में धर्म-प्रचार के लिये भरपूर प्रयत्न होता था जो असहिष्णुता का द्योतक था। इसने राज्य की जड़ खोद दी थी। मुसलमानों की एक और त्रुटि थी जो खून-खतरे का कारण होती थी। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित् कानून नहीं था। अतः षड्यन्त्र के लिये बराबर प्रोत्साहन मिलता था और दासों तक को गद्दी पर बैठने का सुअवसर मिल जाता था।

आर्थिक व्यवस्था

राज्य की आर्थिक व्यवस्था सन्तोषजनक थी। वाणिज्य व्यापार उन्नत था। भड़ौंच तथा सूरत दो प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। विभिन्न प्रकार के मालों का विदेशों से विनिमय होता था। भारत में उच्चकोटि के कपड़े बनाये जाते और मार्कोपोलो ने भारतीय मलमल की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

साहित्य तथा कला

मुसलमान शासकों ने विद्वानों तथा लेखकों को प्रोत्साहित किया। इस काल में अनेक मुसलमान तथा हिन्दू विद्वान वर्त्तमान थे। ज्योतिष, संगीत, चिकित्सा तथा धर्म सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखी गईं और संस्कृत ग्रन्थों का फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। फारसी और हिन्दी के संयोग से उर्दू भाषा की सृष्टि हुई। फारसी राज भाषा थी किन्तु हिन्दी की भी उन्नति हुई। मुसलमानों में अमीर खुसरो का स्थान सर्वोच्च है। वह एक सैनिक होते हुये गद्य तथा पद्य दोनों का कुशल लेखक था। वह संगीत विद्या में भी पारंगत था। उसने दिल्ली सल्तनत सम्बन्धी एक उत्तम ग्रन्थ की रचना की जिसमें खिल्जी तथा तुगलक वंश का हाल लिखा गया है। बदरुद्दीन और मीर हसन भी प्रसिद्ध मुस्लिम कवि थे। जिया-उद्दीन बर्नी एक विख्यात इतिहासकार था जिसने 'तारीखे फीरोज शाही' नामक पुस्तक लिखी। मिनहाजुद्दीन तथा शम्ससिराज भी इस काल के अच्छे इतिहास लेखक थे।

मुसलमानों को भवन निर्माण से भी विशेष प्रेम था। इससे वास्तु कला का विकास हुआ। दोनों सभ्यताओं के सम्पर्क ने कला को बहुत प्रभावित किया और एक नई कला का प्रादुर्भाव हुआ जो हिन्दू-मुस्लिम-कला के नाम से सम्बोधित की जाती है। सल्तनत काल में अनेक नगर बसाये गये जिनमे सुन्दर भवनों तथा मस्जिदों का निर्माण हुआ। जौनपुर की अटाला मस्जिद और दिल्ली की कुतुबमीनार, कुतुबमस्जिद तथा अलाई दरवाजा

विशेष प्रसिद्ध हैं। अनेक सड़कें, बाग, नहरें तथा पुल बनाये गये। अलाउद्दीन ने सीरी और गयासुद्दीन ने तुगलकाबाद नाम से नगर बसाये। फिरोजशाह ने फिरोजाबाद, फतेहाबाद और जौनपुर आदि नगरों को स्थापित कराया। खिलजी वंश के समय में अनेक इमारतें बनीं जो सजावट के लिये प्रसिद्ध थीं। किन्तु मुस्लिम काल में भास्कर-शिल्प का समुचित विकास नहीं हो सका क्योंकि इस्लाम ने इसे प्रोत्साहित नहीं किया था।

धर्म तथा समाज

इस्लाम धर्म में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो दूसरों को आकर्षित करती थीं। ये विशेषताएँ थीं—सरलता, समानता और अद्वैतवाद के सिद्धान्त। दूसरी ओर हिन्दू समाज में कुछ बुराइयाँ घुस पड़ी थीं। जाति-पाँति का बन्धन कड़ा किया जा रहा था, एक ईश्वर के सिवाय और भी कितने देवी-देवताओं की उपासना होती थी और पूजा-पाठ में कृत्रिमता की अधिकता रहती थी। निम्न श्रेणी के लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। अतः वे इस्लाम के प्रति आकर्षित होने लगे थे। इस प्रवृति को रोकने के लिये हिन्दू-समाज में सुधार आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। रामानन्द, कबीर, चैतन्य, नानक, मीरा आदि जैसे उपदेशकों ने सुधार का बीड़ा उठाया। ये एक ईश्वर की उपासना और पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग पर विशेष जोर देते थे। इस तरह हिन्दू धर्म में भक्ति मार्ग का जोर हुआ। इसका आरम्भ तो महाभारत काल में ही हुआ था जिसकी गुण गाथा गीता में वर्णन किया गया है। उसके बाद कई सदियों तक इसका प्रवाह मन्द पड़ गया था। लेकिन मुस्लिम काल में इसका पुनः अभ्युदय हुआ। इस मार्ग के पथिक सेवा तथा प्रेम को ही प्रधानता देते थे और श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मान उनकी पूजा करते थे। मूर्त्ति-पूजा तथा वर्ण व्यवस्था की कट्टरता पर भी ये सुधारक कुठाराघात कर रहे थे। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई को बहुत कुछ भरकर एक दूसरे को निकट सम्पर्क में ला दिया।

हिन्दू समाज में सती प्रथा तो थी ही, मुसलमानों के आगमन के साथ बाल्य विवाह तथा परदा प्रथा का भी प्रचलन हुआ। हिन्दू विधि-विधानों से मुसलमान भी प्रभावित हुए। उनमें भी वर्ण विभेद चल पड़ा और वे शेख, सैय्यद, पठान आदि कई शाखाओं में विभक्त हो गये।

वृहत्तर भारत

भूमिका

प्राचीन भारतवासी संकीर्ण तथा कूप-मण्डूक नहीं थे। उन्होंने अन्य देशों से व्यापारिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित किया। कालान्तर में उन्होंने कई स्थानों में अपने उपनिवेश भी बसाये। किन्तु उनकी उपनिवेश-स्थापना का उद्देश्य साम्राज्यवादी नहीं था। वर्त्तमान काल में मातृभूमि के लाभ के हेतु उपनिवेशों की स्थापना होती रही है।

इससे उपनिवेशों के शोषण के आधार पर मातृभूमि की पुष्टि होती है। लेकिन भारतीयों ने ऐसे स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से उपनिवेश नहीं बसाये। उनके उपनिवेशों में छीना-झपटी, नोंच-खसोट, लूट-पाट का बाजार गर्म नहीं था। वे अपनी मातृभूमि के ही समान अपने

चित्र ५३

उपनिवेशों की उन्नति चाहते थे और इसके लिये वे सतत् प्रयत्नशील रहे। उन्होंने अपनी शान्तिपूर्ण सभ्यता का प्रचार किया और असभ्य जातियों को इसका पाठ पढ़ाया। अतः उनके साम्राज्य का संगठन रक्तपात और शोषण के बदले धर्म के आधार पर हुआ था। जिस प्रकार यूनानी तथा रोमन सभ्यता की छाप सारे यूरोप पर पड़ी थी वैसे ही सारे एशिया पर भारतीय सभ्यता का रंग चढ़ा था। इस तरह अपनी सीमा के बाहर भारत ने जो विशाल साम्राज्य कायम किया वही इतिहास में बृहत्तर भारत के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यों तो ईसा से कई सौ वर्ष पहले से इसका श्रीगणेश हो चुका था किन्तु दूसरी सदी ई० पू० से सातवीं सदी ईसा बाद तक इसका उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुँच गया था।

सर्वप्रथम व्यापार के ही द्वारा भारतवासियों का अन्य देशों से सम्पर्क बढ़ने लगा जिसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पश्चिमी एशिया

सिन्धु घाटी की खुदाई और बोगाजकोई के अभिलेख से मालूम होता है कि बहुत

प्राचीनकाल से भारत का पश्चिमी एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहा था। पर्सिया (ईरान) के साथ भारत का निकट सम्बन्ध था। आराम (सीरिया) में कुछ अवशिष्ट चिह्न मिले हैं जिन्हें देखने से भारत और सीरिया के देवताओं के नामादि में साम्य पाया जाता है। इतिहासकारों का यह मत है कि कस्सी (कासाइट) और मितानी भारतीय आर्यों की ही शाखायें थीं जो पश्चिमी एशिया में रहती थीं। अतः भारत के साथ उनका सम्बन्ध जारी रहा। पश्चिमी एशिया में बसने पर पड़ोसी देशों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित होने लगा। मिश्र के थुटमोस चतुर्थ का विवाह एक मितानी राजकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ जो इतिहास में प्रथम राजनीतिक विवाह माना जाता है। अतः आर्यों की कई प्रथाएँ मिश्र में भी चली गईं। वहाँ भी वैदिक रीति से ही सूर्य की पूजा के चिह्न प्राप्त हुए हैं

भारत और मिश्र के साथ भी गहरा व्यापारिक सम्बन्ध था। दोनों देशों के शासक व्यापार को प्रोत्साहन देते थे और दोनों देशों के जहाज दोनों देशों के बन्दरगाहों में आते-जाते थे। फ़िलस्तीन के साथ भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था जिसकी चर्चा यहूदियों के धर्म ग्रन्थ बाइबिल मे की गई है। उनके दो प्रतापी राजा थे—डैविड और सलोमन। उनके समय में यह व्यापार खूब बढ़ा-चढ़ा था और भारत के पश्चिमी तट पर ही यह अधिक सीमित था। भड़ोच भारत का एक विख्यात बन्दरगाह था। ऐसे ही बेबीलोन के साथ भी भारत का व्यापार चल रहा था। किन्तु यह व्यापार नर्मदा और सिन्धु नदियोंके तटों पर के भू-भाग में विशेष सीमित था। कुछ भारतीय व्यापारी अरब-समुद्र तट पर रहने लगे थे और सिन्ध विजय के पश्चात् अरबवासियों ने भारतीयो से चिकित्सा, ज्योतिष तथा गणित सम्बन्धी विषयों की जानकारी प्राप्त की और यूरोप वालों को इनका ज्ञान कराया।

मध्य एशिया

काबुल, कन्दहार आदि हाल तक भारत के ही अंग रहे थे और इन स्थानों में हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियों, हस्तलिपियों, विहार, स्तूप आदि चिह्न भी प्राप्त हुए हैं। सर आरलस्टीन के पथप्रदर्शन में इन भागों में अनुसन्धान का कार्य सम्पन्न हुआ है। खुदाइयों से पता चला है कि खोतान एक उन्नतिशील हिन्दू उपनिवेश था।

वीं एशिया

बहुत प्राचीन समय से भारत और चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध था। बाद में, २री सदी मे चीन ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। तत्पश्चात् दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्बन्ध घनिष्ठ होने लगा। अनेकों बौद्ध भिक्षु चीन गये और चीनी लोग भारत आये। जल तथा स्थल दोनों ही मार्गों का उपयोग किया जाता था। चीनियों में फाहियान तथा ह्वेन-सांग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे क्रमशः ५वीं तथा ७वीं सदी में भारत आये थे

और अपने समय का हाल सजीव भाषा में लिखकर छोड़ गये हैं। चीनी विद्वान संस्कृत तथा पाली भाषा सीखते थे और उन्होंने भारतीय ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद किया। कोरिया तथा जापान में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। तिब्बत भी इससे अछूता न रहा। ७वीं तथा ६वीं सदी में वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इसका विशेष श्रेय दिपंकर नाम के भिक्षु को प्राप्त हुआ है। तिब्बत में अब तक कोई उपयुक्त लिपि नहीं थी। इसी समय वहाँ लिपि तथा भाषा का विकास हुआ और उसमें संस्कृत पुस्तकों को अनुवाद कराया गया।

भूमध्यसागरीय भू-भाग

भूमध्यसागर का पूर्वी द्वीप क्रीट के साथ भी भारत का सम्बन्ध था। दोनों देशों के कला-कौशल, रहन-सहन में सादृश्य पाया जाता है। भारतीय ग्रन्थ में क्रीट के बदले क्रतु नाम का प्रयोग मिलता है। क्रीट तो व्यापार में उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था।

यूनान तथा रोम के साथ भी भारत का गहरा सम्बन्ध था। ३२७ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई की थी किन्तु वह राज्य नहीं स्थापित कर सका। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी सम्राट् सेल्युकस को पराजित किया और देश में व्यवस्था स्थापित की। तत्पश्चात् यूनान से भारत का सम्बन्ध और गाढ़ा हो चला। भारत के उत्तर-पश्चिम में कई यवन राज्य कायम हुए थे। मौर्य दरबार में सेल्युकस ने मेगास्थनीज तथा डेसीकस नामक दो राजदूतों को भेजा था। भारत की मूर्तिकला, वास्तुकला तथा सिक्कों पर यूनान का बहुत प्रभाव पड़ा था। रोम के साथ भी भारत का घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था। रोमन साम्राज्य में यहाँ से भोग-विलास की चीजें जाती थीं और वहाँ से सोना तथा सिक्के आते थे। रोमन इतिहासकार प्लिनी ने बड़े ही दुखपूर्ण शब्दों में इस बात की चर्चा की है। दक्षिणी भारत में मदुरा में प्राचीन रोमन सिक्के प्राप्त भी हुए हैं। दोनों देशों में दूतों का आवागमन होता था। चेर तथा पाण्ड्य राज्यों ने आगस्टस के शासन-काल में दूत भेजा था।

उपनिवेश

एशिया के दक्षिण-पूरब में हिन्दुओं ने अनेक उपनिवेश बसाये। मलाया आयद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली द्वीप, कम्बोडिया, अनाम, बर्मा आदि स्थानों में हिन्दू उप-निवेश स्थापित थे। खासकर ईसा के पश्चात् ही इन उपनिवेशों की स्थापना हुई थी। गुप्त-काल औपनिवेशिक साम्राज्य का स्वर्णयुग था। कम्बोडिया में प्रथम सदी में भारतीयों का आगमन हो चुका था। ब्राह्मण धर्म के एक अनुयायी कौण्डिन्य ने यूनान में हिन्दू राज्य की नींव दी थी। उसने सोमवंश की स्थापना की और यहाँ के लोगों को सभ्य बनाया। ७वीं सदी तक यूनान का राज्य कायम रहा। इसने चीन तथा भारत में अपना दूत भेजा था। इसकी राजनीतिक प्रणाली भारतीय थी और विभिन्न कलाएँ भी भारत की परम्परा

से प्रभावित हुई थी। बाद में कम्बोज राज्य की स्थापना हुई जिसने स्याम पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया था। यहाँ के शासकों के नाम भी भारतीय ढंग के थे और ये लोग ६ सौ वर्षों तक ८वीं से १४वीं सदी तक अपनी सत्ता कायम किये रहे। इसी के पूर्व में चम्पा नाम का हिन्दू राज्य था जिसकी राजधानी अमरावती थी। आधुनिक अनाम इसी राज्य के अन्तर्गत था। श्रीमार ने २री सदी में इसकी नींव दी थी और १५वीं सदी तक यह राज्य कायम रहा था। इसकी कई शाखाएँ स्थापित हो चुकी थीं। यहाँ के निवासी शिव के पुजारी थे। पहली सदी में ही जावा में भी हिन्दू राज्य स्थापित हुआ। २री सदी के प्रारम्भ में ही देववर्मन ने चीन में दूत भेजा था और तब से दोनों राज्यों का सम्बन्ध जारी रहा। फाहियान के कथनानुसार उपनिवेशों में हिन्दू धर्म का बोलबाला था। ९वी सदीं के बाद जावा शैलेन्द्र राज्य का अंग बन गया और १५वीं सदी तक उन्नति करता रहा। सुमात्रा का उपनिवेश पुराना था। ४थी सदी ई० पू० में ही यह स्थापित हुआ था किन्तु ७वीं सदी बाद तक कायम रहा। यहाँ श्रीविजय का राज्य बड़ा ही मुख्य था। इसके बाद मलयू नाम का राज्य स्थापित हुआ जो १५वीं सदी तक कायम रहा। बोर्नियों में ५वीं से १४वीं सदी तक तक हिन्दू उपनिवेश कायम था और यहाँ यज्ञ प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण धर्म का प्रभाव था। सुदूर पूरब में बाली भी एक प्रसिद्ध हिन्दू राज्य था जहाँ भारतीय ढंग के आज भी अनेकों मन्दिर पाये गये हैं। १९वीं सदी के मध्य तक ✓ हिन्दू राज्य सुरक्षित था। एक हिन्दू राजा ने १९११ ई० तक यहाँ राज्य किया था। भारतीयों ने बर्मा में खानों का पता लगाया, इसे आबाद किया और यहाँ के लोगों को सभ्यता की शिक्षा दी। स्याम भी हिन्दू उपनिवेश का एक प्रमुख केन्द्र था जहाँ पहले हिन्दू धर्म और कुछ काल के बाद बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

मलाया प्रायद्वीप में शैलेन्द्र वंश का गौरवपूर्ण राज्य था जो ८वीं सदी से १४वीं सदी तक कायम था। भारत के चोलवंशीय राजाओं से इनका निकट सम्पर्क था, किन्तु कुछ समय बाद दोनों में मतभेद हो गया था और लड़ाई भी हुई थीं। कुछ समय तक चोलों ने अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया, किन्तु शैलेन्द्रों ने पुनः अपना गौरव प्राप्त कर लिया था। बालपुत्र ने नालन्दा में एक विहार निर्मित कराया था जिसमें कुछ गायों को देने के हेतु उसने बंगाल के राजा देवपाल के पास एक दूत भेजा था। शैलेन्द्र राजा महायान बौद्धमत के समर्थक थे। उनके निर्मित बरबदूर का स्तूप बहुत ही प्रसिद्ध है। साम्राज्य में व्यापार की उन्नत दशा थी और अरब व्यापारी भी वहाँ रहते थे। राजाओं के पास जंगी बेड़े भी थे और इस तरह वे शक्तिशाली तथा धन-वैभव से सम्पन्न थे।

इस प्रकार प्राचीन भारतीयों ने एक विशाल चमत्कारपूर्ण औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया। इसमें हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति का बोलबाला था। हिन्दू देवी-देवताओं

की आराधना होती थी और उनकी सहस्रों मूर्त्तियाँ बनायी गई थीं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कुबेर, इन्द्र आदि प्रसिद्ध देवता थे। बौद्ध धर्म का भी प्रचार था। लेकिन विभिन्न धर्मावलम्बियों में संघर्ष का अभाव था। धर्म के नाम पर वे एक दूसरे का सिर नहीं फोड़ते थे। उनमें सहिष्णुता तथा सहयोग की भावना थी। इसीलिये सभी राजाओं की दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति हो रही थी। अनेक स्थानों में संस्कृत भाषा का प्रचार था जिसमें उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुये हैं। पाली भाषा का भी उपयोग होता था। रामायण तथा महाभारत की कथाओं पर हिन्दुओं का प्रचार था। कलाओं पर हिन्दुओं की अमिट छाप थी। इस तरह सारे एशिया में हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति की प्रकाश-किरण फैली थी। एशिया का सम्पूर्ण धरातल उसकी दिव्य ज्योति से जगमगा रहा था। आज भी मन्दिरों और मूर्त्तियों के रूप में इसके कुछ चिह्न वर्त्तमान हैं जो उस उज्ज्वल गौरवमय अतीत का पावन स्मरण कराते हुये भारतीयों की नस-नस में उत्साह का संचार करते हैं। उनकी अमर, धवल कीर्ति सदा अक्षुण्ण बनी रहेगी और मानव समाज उनके प्रति चिरकृतज्ञ रहेगा।

अध्याय २१

मध्यकालीन एशिया—चीन तथा जापान

(क) चीन

भूमिका

यह पहले ही बताया जा चुका है कि २१६ ई० में हान वंश का अन्त हो गया। तत्पश्चात् लगभग २½ सौ वर्षों तक अशांति का समय रहा। कई राजवंश आये और ओझल हो गये। किन्तु सांस्कृतिक विकास में रुकावट नहीं पैदा हुई और यह चलता रहा। छठी सदी में स्वी वंश के शासनकाल में चीन का पुनर्संगठन हुआ।

तांगवंश (६१८-९०७ ई०)

६१८ ई० में तांगवंश का उदय हुआ जो लगभग ३०० वर्षों तक सत्तारूढ़ रहा। चीन के इतिहास से तांगवंश का राज्य एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है।

ताग राजवंश की राजधानी दक्षिणी चीन में सायान-फू में थी। यह नगर पूर्वी एशिया में अपने वैभव तथा ज्ञान के लिये सुविख्यात था। इस काल में एक सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार स्थापित हुई और साम्राज्य की सीमा का विस्तार हुआ।

अनाम, कम्बोडिया तथा फ़ारस तक साम्राज्य विस्तार हुआ। कोरिया का भी कुछ हिस्सा इसके पेट में समा गया था। इस वंश में वू नाम की एक सम्राज्ञी ने बड़ी ही कुशलता के साथ राज्य किया। वह एक अल्पवयस्क राजकुमार की संरक्षिका थी। वह योग्यता के आधार पर कर्मचारियों की नियुक्ति करती और उसने नर-नारियों के बीच समानता का भाव उत्पन्न किया। उसे दैवी सम्राज्ञी और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपाधियों से सम्मानित किया गया था। तांगवंश के राजाओं ने विदेशी व्यापार तथा सम्बन्धों को प्रोत्साहित किया। चीन में इस्लाम के आगमन के पूर्व ही अरबों को बसने की अनुमति दे दी गयी थी। राजाओं ने मुसलमानों तथा ईसाइयों के प्रति सहिष्णुता की नीति बरती और उन्हें मस्जिद तथा गिरजे बनाने के अधिकार दे दिये गये। साहित्य, कला और विद्या के प्रसार में भी प्रगति हुई। जगह-जगह पर पाठ-शालायें स्थापित हुई और संगीत-विद्यालय भी खोले गये। इस तरह राज्य में शांति बनी रही और धन-वैभव की खूब वृद्धि हुई। परन्तु साथ ही राज्य में अनेक बुराइयों का प्रादुर्भाव हुआ। शासन-व्यवस्था में ढिलापन आ गया। जनता असन्तुष्ट हो गयी। प्रांतीय

और सीमावर्ती राज्य स्वतंत्र होने लगे। ९०७ ई० में तांगवंश का भाग्य-सूर्य अस्त हो चला।

शुंगवंश (९६०-१२५९ ई०)

९६० ई० में शुंगवंश का भाग्योदय हुआ जिसके हाथ में १२वीं सदी तक शासन की बागडोर कायम रही। इसी काल में तातारों ने उत्तरी चीन पर आक्रमण कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। शुंगवंश के शासन काल में भी चीन का सांस्कृतिक विकास जारी रहा। सुविख्यात लेखक, सुधारक तथा विचारक उत्पन्न हुए। आन शीह तथा चू शी दो प्रसिद्ध सुधारक थे। आन शीह ने आर्थिक सुधार किया। उसने भूमि नपवाई और कर-व्यवस्था निश्चित की। सैन्य-संगठन भी किया गया। प्रत्येक परिवार से एक योग्य व्यक्ति को सेना में देने के लिये नियम बनाया गया। लोगों को घोड़े रखने के लिये प्रोत्साहित किया गया। उसने कनफ्यूशस के सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की। चू शी ने भी इन सिद्धांतों की व्याख्या उपस्थित की थी। इसी समय में छपाई की कला में उन्नति हुई। अब तीव्र गति से पुस्तकों का प्रकाशन होने लगा। क्रम-बद्ध इतिहास लिखने की परिपाटी चल पड़ी। उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। रेशमी वस्त्र तथा बर्तन का निर्यात होने लगा। १२५९ ई० में मंगोलों के हाथ इस वंश का अन्त हुआ।

युआनवंश (१२५९-१३६८ ई०)

मंगोलों के प्रधान कुबलई खाँ के नेतृत्व में युवान राज वंश की स्थापना हुई। मंगोल शासकों ने जनता को सन्तुष्ट करना चाहा, किन्तु उनका शासन दीर्घकाल तक न रहा। १३६८ ई० में एक सफल जनक्रांति हुई और एक नये राजवंश की नींव पड़ी। किंतु मंगोलों के अधीन चीन की विशेष उन्नति हुई जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है।[1]

मिंग वंश (१३६८-१६४४ ई०)

मंगोलों के विरुद्ध जन क्रांति का नेतृत्व एक निर्धन व्यक्ति ने किया था। वह साधारण पढ़ा-लिखा था और एक श्रमिक का लड़का था। उसके माँ-बाप भी नहीं थे। वह एक बौद्ध-भिक्षु बन गया किंतु उसमें आशा तथा उत्साह भरे हुये थे। उसका नाम चू था। वह मंगोलों को पराजित कर चीन का सम्राट बना और हुंग वू के नाम से विख्यात हुआ। इस तरह उसने एक नये राज वंश की नींव दी जो "मिंग" कहलाता है और नानकिंग में इसकी राजधानी स्थापित हुई। यह १६४४ ई० तक राज्य करता रहा। हुँग वू का पुत्र चुंग लो भी इस वंश में एक प्रसिद्ध सम्राट हुआ था। जिसने १५वीं सदी के प्रथम चरण में राज्य किया।

---

[1] देखिये अ० १६

चीन के इतिहास में मिंग राजवंश का भी शासन एक गौरवपूर्ण अध्याय है। शासन सुव्यवस्थित था। बाह्य तथा आन्तरिक शांति स्थापित रही थी। आर्थिक व्यवस्था में सुधार हुआ। मुद्रा की दर निर्धारित की गई। प्रजा सुखी थी। कला तथा साहित्य ने अद्भुत उन्नति की। इसी काल में चीनी भाषा में विशाल ज्ञानकोष तैयार कराये गये थे। हजारों की संख्या में पुस्तकें प्रकाशित हुईं। हेनलिन नामक कालेज की स्थापना हुई। बौद्ध तथा ताओ धर्म के प्रचार पर विशेष जोर दिया गया। नैतिक स्तर को उच्च करने के ख्याल से बौद्ध मठों में भिक्षुणियों तथा नवयुवक भिक्षुओं के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस वंश के शासनकाल में अतीत के गौरव को स्थापित करने का सफल प्रयास किया गया।

१५वीं सदी में यूरोप में सामुद्रिक यात्राओं और अज्ञात देशों की खोज के लिये एक लहर उमड़ पड़ी थी। यूरोप के राज्य विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। भारत में कई यूरोपीय कम्पनियाँ व्यापारिक सुविधाओं के लिये मुगल सम्राट के दरबार में आई थीं। वैसे ही १६वीं सदी में वे मिंग सम्राट के दरबार में भी उपस्थित हुई थीं। पुर्तगाल, स्पेन तथा हालैंडनिवासियों का चीन में आगमन हुआ था। उन्हे कई सुविधाएँ भी प्राप्त हुईं, किंतु वे आपस में लड़ने लगे और देश के मामलों में स्वार्थवश हस्तक्षेप करने लगे। अतः चीनी भी उनके साथ कड़े हो गये और उन्होंने उन पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये।

१६४४ ई० में मंचुओं ने इस वंश के शासन का अंत कर डाला। मंचू तातारियों के सगे-संबंधी थे जो मंचुरिया में आकर बसे हुए थे।

(ख) जापान

आदि वृत्तान्त

प्राचीन तथा मध्य कालीन युग में जापान का इतिहास विशेष महत्व नहीं रखता। इसका इतिहास कोरिया से भी बहुत बाद प्रारम्भ होता है। यहाँ के आदिम निवासियों के संबंध में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त है, किंतु कुछ विद्वानों का मत है कि "आइनस" लोग यहाँ के आदिम निवासी थे। दूसरी शताब्दी के बाद से जापान के इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ के लोग मंगोलियन शाखा के हैं और इनके पूर्वज चीन तथा कोरिया से आकर यहाँ बसे। यामातों में इनका राज्य था। शिन्टो इनका प्राचीन धर्म था जिसका अर्थ होता है भगवद्मार्ग। आज्ञाकारिता और राजभक्ति इसकी विशेषताएँ थीं। छठीं सदी के मध्य में कोरिया से कुछ बौद्ध भिक्षु भेजे गये थे। यहाँ राजतंत्र प्रणाली कायम की गई थी और प्रथम राजा जिम्मूटेनी कहलाता था। सम्राट मकाडो कहलाते थे। वे सर्वशक्तिमान् होते थे और अपने को सूर्यवंशी बतलाते थे।

प्रथम मिकाडो देश की रक्षिका सूर्य देवी का पौत्र था। जापान का राजवंश विश्व का प्राचीनतम राजवंश है; क्योंकि एक ही राजवंश शुरू से लेकर आजकल राज्य करता है। किंतु वास्तविक अधिकार किसी प्रभावशाली परिवार के हाथ में रहा है। सर्व प्रथम सोगा परिवार को यह गौरव प्राप्त हुआ था।

शोगन शाही प्रथा

सोगा परिवार का उत्तराधिकारी फूजीवारा परिवार हुआ। इस परिवार ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और सम्राट को अपने हाथ में कठपुतली बना लिया। इसी समय जमींदार श्रेणी का उदय होने लगा था। ये युद्ध-कौशल में सिद्ध होते थे और इनकी ही सहायता से सम्राट ने फूजीवारा परिवार को अशक्त किया। इन जमींदारों में मिनामोतो नामक एक परिवार था जिसमें योरीतोलो नाम का व्यक्ति बड़ा ही योग्य था। सम्राट ने उसे शोगन की उपाधि से विभूषित किया जिसका अर्थ होता है सेनापति। इस तरह १२वीं सदी के अन्त में जापान में शोगन प्रथा का आरम्भ हुआ जो ७०० वर्षों तक कायम रही। इस काल में सम्राट नाम के लिये ही शासक था। प्रथम शोगन वंश ने डेढ़ सौ वर्षों तक शांतिपूर्वक शासन किया। तत्पश्चात् दूसरे शोगुन वंश का शासन शुरू हुआ जो २३५ वर्षों तक कायम रहा। यह चीन के मिंग वंश का समकालीन था। शुगोनों को इस राजवंश प्रभुता भी स्वीकार करनी पड़ी थी। इस समय जापान की सांस्कृतिक उन्नति हो रही थी, किंतु गृह-युद्ध के कारण किसानों को तकलीफें भी उठानी पड़ती थीं। १६वीं सदी के अंत तक जापान का संगठन हुआ और कोरिया पर इसका धावा हो गया। लेकिन जापान को मुँह की खानी पड़ी और इसके जहाजी बेड़े नष्ट हो गये। १७वीं सदी के प्रारम्भ में तृतीय शोगन वंश का शासन शुरू हुआ जो ढ़ाई सौ वर्ष तक कायम रहा।

चीन का प्रभाव

सांस्कृतिक दृष्टि से जापान चीन का ही उत्पादन रहा है। हर क्षेत्र में चीन ने उसे प्रभावित किया। चीन से ही वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। जापान ने उसकी राजनीतिक प्रणाली ग्रहण की। किंतु जापान अंधे की तरह नकल नहीं करता था, बल्कि चीन से सभी बातों को सीख कर अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेता था। जापानी भाषा में जापान का नाम निप्पन है जिसका अर्थ होता है सूर्य का देश। चीन ने ही यह नामकरण भी किया था।

विदेशों से तटस्थता

जापान के इतिहास में यह एक विचित्र अध्याय है। यहाँ पहले कुछ ईसाइयों तथा व्यापारियों का आगमन हुआ था। सर्वप्रथम पुर्तगीज और उनके बाद स्पेनी आये थे।

विदेशियों के आचरण से असन्तुष्ट हो जापानियों ने अपना दरवाजा बंद कर डाला। उन्होंने दुनिया से पृथक रहने की नीति ग्रहण कर ली। १६३६ ई० तक विदेशों से सारा संबंध विच्छेद हो गया। सभी विदेशी निर्वासित किये जाने लगे। कोई जापानी अपने प्राण को हथेली पर रख कर ही किसी प्रकार का विदेशी संबंध रख सकता था। यहाँ तक कि चीन-कोरिया से भी कोई संबंध नहीं रखा गया। जब १६४० ई० में कुछ पुर्तगीजों ने व्यापारिक सुविधा की माँग की तो उनमें अधिकांश लोगों को अपने प्राण भी गँवाने पड़े। इस प्रकार दो शताब्दियों से भी अधिक काल तक जापान दुनिया से पूर्णतः पृथक् रहा। १८५३ ई० में इस एकांतवास की नीति का अंत हुआ।

———

अध्याय २२

नूतन दुनिया की पुरातन सभ्यता—प्राचीन अमेरिका

अमेरिका की खोज

१५वीं सदी के अंत में कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की जिसे नई दुनिया कहा जाता है। उसने समझा कि वह हिन्दुस्तान में आ गया है। अतः वहाँ के निवासियों को रेड-इन्डियन्स (लाल या रक्तवर्ण हिंदुस्तानी) के नाम से पुकारने लगा। इसका यह अर्थ नहीं कि इसके पहले अमेरिका था ही नहीं; अमेरिका तो था अवश्य, लोगों को इसकी जानकारी ही नहीं थी। प्राचीन काल में इसका नाम पाटल था। यह अनुमान किया जाता है कि पत्थर युग जैसे अति प्राचीन काल में एशिया और उत्तरी अमेरिका के बीच कोई स्थलीय रास्ता था और उसी रास्ते से आलास्का होकर अमेरिका में कुछ लोग आकर बस गये। कालान्तर में बीच में समुद्र के हो जाने से यह रास्ता बंद हो गया जिसके फलस्वरूप अमेरिका का यूरोप या एशिया के साथ पूर्ण संबंध-विच्छेद हो गया। ये बसने वाले कौन थे ? इसकी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं है, किन्तु कुछ लोगों का अनुमान है कि ये आर्य जाति के रहे होंगे। हिन्दुओं और यहाँ के निवासियों में बहुत कुछ सादृश्य पाया जाता है। कला, धर्म, सामाजिक व्यवहार आदि में बहुत बातें मिलती-जुलती हैं। एक लेखक के मतानुसार माया लोगों की भाषा संस्कृत भाषा से ही उत्पन्न हुई मालूम पड़ती है। आर्यों के सिवाय अमेरिका मे मंगोलों के भी प्रवेश का अनुमान किया जाता है। चीन की एक पुस्तक में अमेरिका में किसी बौद्ध-भिक्षु के जाने की चर्चा मिलती है।

कथित रक्त वर्ण हिन्दुस्तानियों की सभ्यता

आरम्भ में 'रेड-इन्डियन्स' या रक्तवर्ण हिन्दुस्तानियों की सभ्यता पत्थर युग की सभ्यता जैसी थी। पत्थरों के अस्त्र-शस्त्र बनते थे और लकड़ियों पर पत्थर के टुकड़ों को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी। टोकरी भी बनायी जाती थी और लोग शिकार कर अपना जीवनयापन करते थे। कालक्रम के साथ-साथ वहाँ के लोग भी आवश्यकतानुसार उन्नति करते गये। खेती का कार्य होने लगा। अतः पशु पाले जाने लगे और मिट्टी तथा धातु के बर्तन एवं आभूषण बनने लगे। वहाँ कुछ ऐसी चीजें का उत्पादन होता था जो अन्य प्राचीन सभ्यताओं में नहीं पायी जाती थीं। ये चीजें थीं—मकई, शकरकन्द और कई प्रकार की साग-सब्जियाँ। सम्भवतः ये चीजें वहीं से प्राचीन दुनिया में लायी गई।

इस प्रकार अमेरिका में भी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। इसके ३ प्रधान केन्द्र ये मध्य

अमेरिका, मेक्सिको और पेरू। कालांतर में इन जगहों में एक नयी उच्च कोटि की सभ्यता का विकास हुआ जिसे माया सभ्यता कहते हैं। मध्य अमेरिका इसका प्रधान केन्द्र था।

माया सभ्यता

मध्य अमेरिका के उपजाऊ भू-भाग में माया नाम के लोग बसते थे। इन लोगों ने जंगलों को साफ किया और खेती के उपयुक्त जमीनों का निर्माण किया। किसी निश्चित योजना के अनुसार ग्राम और नगर बसाये जाते थे। नगरों में बड़े-बड़े मंदिर और महल दीख पड़ते थे। पत्थरों की कटाई की जाती थी और भवन-निर्माण में इनका प्रयोग किया जाता था। मिट्टी और धातुओं के सुन्दर बर्तन और मूर्त्तियाँ बनायी जाती थीं। कपड़ों की बुनाई और रँगाई भी होती थी। लोहे का अभाव था। चित्र के द्वारा लेखनकला का काम चलाया जाता था। बहुत लोग गणित के सिद्धांतों से भी परिचित थे और एक जन्त्री का भी व्यवहार किया जाता था। ज्योतिष शास्त्र में भी उन्नति हुई।

वे भवन-निर्माण-कला में तो दक्ष थे ही, चित्रकला में भी बहुत आगे बढ़े थे। चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों की ही प्रधानता होती थी। देवताओं तथा मनुष्यों के भी चित्र बनाये जाते थे। इनके निर्मित चित्र सजीव तुल्य होते थे। एक पाषाण-खण्ड प्राप्त हुआ है जिस पर एक जल से संबंधित चित्र अंकित है। इसकी सुन्दरता अभी भी किसी को मुग्ध करने के लिये पर्याप्त है। इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि ये सौन्दर्य के कितने प्रेमी थे। ये जादू-टोनों की उपयोगिता में विश्वास करते थे और प्रकृति के पुजारी थे। इनकी पूजा में सर्प की प्रमुखता थी। पशुओं की बलि भी दी जाती थी। इनमें पारस्परिक सहयोग का भाव था और ये आपसी झगड़ों का पंचायत के द्वारा निपटारा कर लिया करते थे। समाज में पुरोहितों का खूब सम्मान होता था और सर्वत्र उनकी तूती बोल रही थी। माया लोगों का शासन सुदृढ़ था। उक्समल तथा मायापान इनके विख्यात नगर थे। कई राज्यों ने मिल कर एक संघ कायम किया था जिसकी राजधानी मायापान नगर में थी। अब यह संघ भी मायापान संघ कहलाता था। १००० ई० में यह बहुत ही प्रभावशाली था। ११६० ई० के लगभग मायापान के नगर और संघ सभी का अंत हो गया और इसके अवशेष पर अन्य जातियों का उत्थान हुआ।

इस सभ्यता के विकास का काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। अनुमानतः ७वीं सदी ई० पू० के आस-पास इसका विकास हुआ होगा, क्योंकि ६१३ ई० पू० के करीब मेक्सिको की संवत्-गणना शुरू होती है।

टोल्टेक तथा अजटेक जातियाँ

माया लोगों के सिवा कुछ अन्य सभ्य जातियाँ भी अमेरिका में बसती थीं। टोल्टेक मेक्सिको की दक्षिणी उपत्यका पर रहते थे। ये लोग भी विशाल मंदिर और महल बनाने में कुशल थे। चोलोला नगर में इनका निर्मित एक पिरामिड पाया जाता है।

टोल्टेकों के बाद अजटेकों की उन्नति हुई। इनके द्वारा माया लोगों की परम्परा कायम रखी गयी और उसका विकास भी हुआ। इन लोगों ने झीलों के बीच द्वीपों में ही एक सुन्दर नगर का निर्माण किया था। सैन्य कला में ये बड़े ही प्रवीण थे और क्रूरता इनकी एक प्रमुख विशेषता थी। कई उपनिवेश तथा किले के स्वामी थे। मातहती राज्यों को आपस में लड़ा कर अपनी धाक बनाये रखने में ये कुशल थे। सैनिक राज्य होने के कारण सड़कें उन्नत दशा में थीं। लेकिन प्रजा सुखी नहीं थी। बलिदान प्रथा का बोलबाला था जिसमें पुरोहितों की आज्ञा से नर-हत्या होती रही थी। ऐसा राज्य
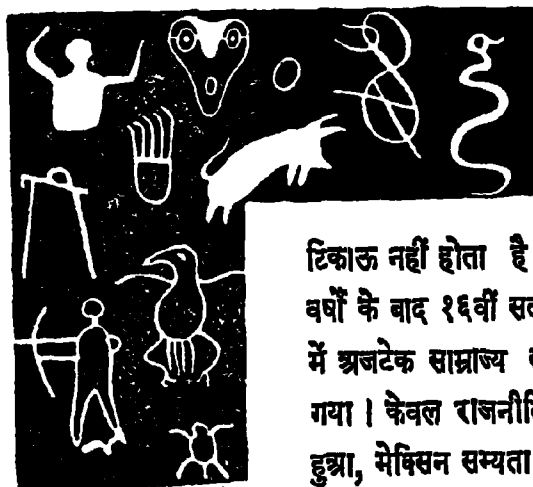
अमेरिका की भाषा के चित्र संकेत

चित्र ५४

टिकाऊ नहीं होता है। लगभग २०० वर्षों के बाद १६वीं सदी के प्रथम चरण में अजटेक साम्राज्य संसार से मर-मिट गया। केवल राजनीतिक मरण ही नहीं हुआ, मेक्सिन सभ्यता का भी लोप हो गया। इसके विनाशकारी विदेशी थे। स्पेनवासी कोर्टिस के नेतृत्व में विदेशियों ने इस ध्वंसात्मक कार्य को संपन्न किया था।

इङ्का नाम की एक और जाति पेरू में रहती था। इस जाति के लोग भी भव्य-मंदिर तथा भवन बनाते थे और अच्छी सड़कों का निर्माण करते थे। ये कला में भी निपुण होते थे और सुवर्णकारों के द्वारा बनायी वस्तुएँ बहुत ही सुन्दर होती थीं। इनका शासन भी सुव्यवस्थित था। यहाँ के लोग आलू का व्यवहार करते थे। मेक्सिको वालों के साथ इनका कोई संपर्क नहीं था। यद्यपि दोनों प्रदेश बहुत दूर नहीं थे मेक्सिको में आलू का उपयोग नहीं होता था।

प्राचीन अमेरिका की देन

प्राचीन अमेरिका की भी सभ्यता के विकास में अपनी खास देन है। वर्तमान जगत ने अनेक प्रकार की सब्जियों का उत्पादन और उपयोग अमेरिका से ही सीखा है। आलू, शकरकन्द, तम्बाकू, टमाटर आदि की जानकारी अमेरिका से ही प्राप्त हुई है।

परिशिष्ट १

प्रसिद्ध घटनाएँ, राजवंश और तिथियाँ

	ई० पू०
आदिमानव का प्रादुर्भाव	५००,०००
प्राचीन पाषाण युगीन सभ्यता	५००,०००-५०,०००
वास्तविक मानव का प्रादुर्भाव	५०,०००
अग्नि का आविष्कार	५०,०००
उत्तर काल की प्राचीन पाषाण युगीन सभ्यता	५०,०००-१०,०००
कृषि तथा पशुपालन	१०,०००
नव पाषाण युगीन सभ्यता	१०,०००-६०००
सिंधु तथा दजला-फरात की घाटियों में सभ्यता का उदय	६,०००
मिश्री सभ्यता का श्रीगणेश	५,०००
क्रीटन सभ्यता का प्रभात	४,०००
सैन्धव सभ्यता की पराकाष्ठा	३,०००
शिया वंश (चीन)	२२०५-१,७६६
आर्यों का भारत पर हमला	२,०००
हिट्टाइट सभ्यता का प्रारम्भ और विकास	२,०००-१२००
एजियन सभ्यता की पराकाष्ठा	२,०००
कस्सी का बेबीलोन पर और हिक्सोस का मिश्र पर आक्रमण	१८००
शैंगवंश (चीन)	१७६६-११२२
मिश्र में घोड़े का उपयोग	१७४६
क्रीटन सभ्यता की पराकाष्ठा	१६००
फिनीशी सभ्यता का विकास	१५००
यूनान मे आर्य-प्रवेश	१५००
फिलस्तीन में यहूदियों का बसना	१४००-१२००
असीरिया का उत्कर्ष	१३००-६०६
चाऊवंश (चीन)	११२२-२४६
हजरत-मूसा का जन्म	१०२५
यहूदियों का उत्थान	१०२५-५३६

	ई० पू०
अमेरिकी माया सभ्यता	१०००
ग्रीकों के द्वारा नोसस के महल का विनाश	११००
होमर का महाकाव्य	१०००-८००
कार्थेज की स्थापना	८००
यूनानी उपनिवेशों की स्थापना	८००-५००
रोम की स्थापना	७५३
असीरियों के द्वारा इसरायल विजित	७२२
लीडिया में मुद्रा पद्धति	६७५-६७०
असीरियों के द्वारा मिश्र विजित	६७०
फेरोहनीको के द्वारा यहूदी जोशिया की पराजय	६०८
केल्डिया के साम्राज्य की स्थापना या बेबीलोनिया का पुनरुत्थान	६०६-५३८
यूनान में निरंकुश शासकों (टायरंट) का युग	६००-५००
सोलन के कानून	५९४
यहूदी बेबीलोन में कैद	५८६-५३८
साइरस का बेबीलोन पर अधिकार और केल्डिन साम्राज्य का अन्त	५३९
कम्बोज की मिश्र विजय	५२१
एशियाई कोचक के यूनानियों द्वारा सार्डस का भस्मीभूत होना	५००
मारायन का युद्ध और दारा की हार	४९०
थर्मोपली स्लेमीस के युद्धों में फारस की हार	४८०
पेरीक्लीज का काल	४६०-४३०
रोम में कानून संग्रह	४५१
पेलोपोनेसियन युद्ध	४३१-४०४
पिरोक्लीज की मृत्यु	४२८
स्पार्टा का प्रभुत्व	४०४-३७१
सुकरात का विषपान	३९९
गालों का रोम पर आक्रमण	३९०
केरोनिया का युद्ध और फिलिप के द्वारा ग्रीकों की पराजय	३३८
सिकन्दर की विजय	३३४-३२३
सिकन्दर का भारत पर आक्रमण	३२७-२६
चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण और साम्राज्य की स्थापना	३२२-२१

	ई० पू०
मिस्र के टालमेज	३०५-४० ई०
कलिंग युद्ध (भारत)	२६५
रोम और कार्थेज का प्रथम युद्ध (प्रथम प्यूनिक युद्ध)	२६४-२४१
चिनवंश (चीन)	२४६-२०७
रोम और कार्थेज का दूसरा युद्ध	२१८-२०१
चीन की महान् दीवार का निर्माण प्रारम्भ	२१४
हानवंश (चीन)	२०६ ई० पू० २१९ ई०
रोम और कार्थेज का तीसरा युद्ध	१४९-१४६
कार्थेज का रोमनों द्वारा विनाश	१४६
इटालियनों का रोमन नागरिक बनना	८९
जुलियस सीजर द्वारा गाल की विजय	५८-५०
ब्रिटेन में जुलियस सीजर	५५-५४
जुलियस सीजर की हत्या	४४
एक्टियम का युद्ध, राजतन्त्र की स्थापना	३१
ओक्टेवियस (आगस्टस) का प्रिन्सेप बनना	२७
ईसा का जन्म	४ सन् ई०
ईसा को प्राणदण्ड	२९-३०
जूलियस सीजर के वंश	३१-६८
फ्लेवियन वंश	६९-९६
पाँच सद्व्यवहारी सम्राट्	९६-१८०
सस्सानिद वंश	२२७-६५१
सम्राट् कौन्सटैन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म का ग्रहण	३१३
गुप्त साम्राज्य का अभ्युदय	३१९-५३०
कस्तुन्तुनिया की स्थापना	३३०
रोम साम्राज्य का द्वय विभाजन	३९५
एलारिक के नेतृत्व में विसीगाथ रोम का लूट-खसो'	४१०
चीनी यात्री फाहियान का भारत भ्रमण	४०५-४११
हूणों का हमला	४४५-४५३
अटिल्ला हूण की मृत्यु	४५३
वाण्डालों के द्वारा रोम का लूटमार	४५५
पश्चिमी रोम साम्राज्य का अन्त	४७६

	ई० सन्
बेनेडिक्ट सम्प्रदाय की स्थापना	५२६
मुहम्मद का जन्म	५७०
बौद्ध धर्म का जापान में प्रसार	५८८
ताग वंश (चीन)	६१८-६०७
हिजरी संवत् का आरम्भ	६२२
चीनी यात्री ह्युएनसांग की भारत-यात्रा	६३०
मुहम्मद की मृत्यु	६३२
मिश्र और सीरिया पर अरबों का अधिकार	६३६
अरबों का स्पेन पर अधिकार	७११
भारत पर अरब आक्रमण और सिन्ध विजय	७१२
अरब साम्राज्य की पराकाष्ठा	७१५
अरबों की कस्तुन्तुनिया में पराजय	७१८
टूर्स (फ्रांस) में चार्ल्स मार्टल द्वारा अरबों की पराजय	७३२
चार्ल्स महान् का पवित्र रोमन सम्राट निर्वाचित होना	८००
शुंग वंश (चीन)	६६०-१२७६
रोमन साम्राज्य का द्वितीय पुनरुत्थान	६६२
मिश्र की खिलाफत की स्थापना	६६६
ह्यूकेपट द्वारा फ्रांस का एकीकरण	६८७
भारत पर अफगान आक्रमण	६६७
इंगलैन्ड की नार्मन विजय	१०६६
ग्रेगरी का पोप होना, राज्य और चर्च में संघर्ष का सूत्रपात	१०७३
ग्रेगरी ७म् और हेनरी ४र्थ का संघर्ष	१०७५
सम्राट् हेनरी का कनोसा में प्रायश्चित	१०७७
ग्रेगरी ७म् की मृत्यु	१०८५
धर्म-युद्ध (क्रूसेड)	१०६५-१२७१
पोप अरबन द्वितीय का महान् व्याख्यान और प्रथम धर्म-युद्ध	१०६५
जेरुजेलम पर ईसाई अधिकार	१०६६
तातारी सम्राट् चंगेज खाँ	११६२-१२२७
सलाउद्दीन का जेरुजेलम विजय	११७८
मिश्र में सलाउद्दीन का सुल्तान होना	११८७
सलाउद्दीन की मृत्यु	११६३

	ई० सन्
चंगेज की विजय यात्रा का प्रारम्भ	१२०६
भारत में कुतुबुद्दीन द्वारा मुस्लिम राज्य की स्थापना	१२०६
फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय की स्थापना	१२१०
डोमिनोकन सम्प्रदाय की स्थापना	१२१५
राजा जॉन द्वारा मैग्नाकार्टा स्वीकृति	१२१५
यूरोप पर मंगोल धावा	१२३८-४१
मंगोलों की रूस विजय	१२४०
लुई ६म् के नेतृत्व में धर्म युद्ध	१२४६
मंगोलों द्वारा बगदाद के गौरव का अन्त	१२५८
इंगलैन्ड की प्रथम पार्लियामेन्ट	१२६५
युआन वंश (चीन)	१२७६-१३६८
फ्रांस की प्रथम पार्लियामेन्ट, स्टेट्स जनरल	१३०२
रोम से अविग्निन में पोप का परिवर्तन	१३०६
शत वर्षीय युद्ध	१३३८-१४५३
उस्मानी तुर्कों का यूरोप में प्रवेश	१३५३
मिंग वंश (चीन)	१३६८-१६४४
रोमन कैथोलिक चर्च में महान् विच्छेद या यूरोप में दो पोपों का प्रादुर्भाव	१३७८-१४१७
जौनविक्लिफ की मृत्यु	१३८४
तैमूर का भारत पर आक्रमण	१३६८
यूरोप का नवजागरण	१४००-१६००
तुर्की साम्राज्य पर तैमूर का और कस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का आक्रमण	१४०२
तैमूर की मृत्यु	१४०५
छापेखाने का आविष्कार और बाइबिल की छपाई	१४५०
अंगरेजों का फ्रांस से बहिष्कार	१४५३
कुस्तुन्तुनिया पर उस्मानी तुर्कों का आधिपत्य, नवीन युग का प्रादुर्भाव	१४५३
स्पेन में मूरों के प्रभाव का अन्त और अमेरिका में कोलम्बस की प्रथम यात्रा	१४६२

परिशिष्ट २

कुछ प्रमुख शासक और व्यक्ति विशेष

		ईस्वी पूर्व
मेन्स प्रथम मिश्री राजवंश का संस्थापक	लगभग	३४००
सार्गन, सुमेर-अक्काद साम्राज्य का सम्राट्	,,	२७५०
ह्वांगठी, (पीत सम्राट्) चीन का प्रथम सम्राट्	,,	२६६७
हम्मूरबी, वेबीलोनिया का सम्राट् और विधेयक	,,	२१००
थुत्मोस प्रथम, मिश्र का सम्राट्		१५४५-१५१४
हात्शेपशुट, मिश्र की सम्राज्ञी		१५०१-१४७६
थुत्मोस तृतीय, मिश्र का सम्राट्		१४७६-१४४७
आमन होटप तृतीय, मिश्र का सम्राट्		१४११-१३७५
आमनहोटप चतुर्थ, (अखनाटन) मिश्र का एकेश्वरवादी सम्राट् और विश्व का प्रथम आदर्शवादी व्यक्ति		१३७५-१३५८
सोलोमन, यहूदियों का विलासी राजा		१०१५-६७५
टिगलाथ पिलासर तृतीय, असीरी साम्राज्य का संस्थापक		७४५-७२२
सारगन द्वितीय, असीरी सम्राट्		७२२-७०५
सेनाकरीब, ,, ,,		७०५-६८१
असुरबनी पाल, ,, ,,		६६८-६२६
नेबुकेडने जार-केल्डियन राज्य का सस्थापक		६०५-५६२
जरथुष्ट्र, फारस का धर्म गुरु		५६६-५२५
गौतम बुद्ध, बौद्ध धर्म का प्रवर्त्तक		५६३-४८३
कनफ्यूशस, चीन का नीति उपदेशक		५५१-४७६
साइरस महान्, फारसी साम्राज्य का संस्थापक		५५०-५२६
कम्बोज, फारस का सम्राट्		५२६-५२२
दारा प्रथम, फारस का सम्राट्		५२१-४८६
जरसीज, फारस का सम्राट्		४८६-४६६
हीरोडोटस (हिरोदत्त), यूनान का इतिहास लेखक		४८४-४२५
थ्यसीडाइड्स, यूनान का इतिहास लेखक		४७१
सुकरात, मानव समाज का प्रथम शहीद और यूनान का दार्शनिक		४६६-३६६

अफ़लातून (प्लेटो), यूनान का दार्शनिक	४२६-३४७
अरस्तू (एरिस्टोटल), यूनान का राजनीतिक दार्शनिक	३८४-३२२
फ़िलिप, मेसीडन का सम्राट् और सिकन्दर का पिता	३५६-३३६
दारा तृतीय, फ़ारस का सम्राट्	३३६-३३१
सिकन्दर, एक महान्, विजेता	३३६-३२३
यूक्लिड, मिश्र का गणितज्ञ	३२३-२८३
चन्द्रगुप्त मौर्य, प्रथम भारतीय साम्राज्य का संस्थापक	३२१-२९७
आर्कमीडिज, एंजीनियर	२८७-२१२
अशोक, मानव समाज का एकमात्र दार्शनिक सम्राट्	२७३-२३२
हेनिबल, कार्थेज का महान् सेनापति	२४७-१८३
शिह्वागटी, चीन का अद्भुत सम्राट्	२४६-२१०
जूलियस सीजर, रोम का सैनिक शासक	१७०-४४
आगस्टस, रोम का प्रथम सम्राट्	३१ ई० पू०-१४ ई०
महात्मा ईसा, ईसाई धर्म का प्रवर्त्तक	४ ई० पू०-२६ ई०
	सन् ईस्वी
डायोक्लोशियन, रोमन सम्राट्	२८४-३०४
चन्द्रगुप्त, गुप्त साम्राज्य का संस्थापक	३२०-३३५
समुद्र गुप्त, भारतीय नेपोलियन'	३३५-३७५
कौन्सटैन्टाइन, ईसाई धर्म ग्रहण करने वाला प्रथम रोमन सम्राट्	३२३-३३७
जस्टीनियन, पूर्वी रोमन साम्राज्य का गौरवशाली सम्राट्	५२७-५६५
मुहम्मद, इस्लाम धर्म का प्रवर्त्तक	५७०-६३२
हर्षवर्द्धन, भारत का गौरवशाली सम्राट्	६०६-४७
शार्लमेन (चार्ल्स महान्), फ्राक जाति का महान् सम्राट्	७६८-८१४
हारूँ अलरशीद, अब्बासी वंश का गौरवशाली खलीफा	७८६-८०९
ओटो महान्, जर्मनी का सम्राट्	९३६-९७३
हेनरी तृतीय, ,, ,, ,,	१०३९-१०५६
फ्रेडरिक बारबेरोसा, जर्मनी का सम्राट्	११५२-११९०
संत फ्रांसिस, पादरी	११८१-१२२६
इन्नोसेंट तृतीय, पोप	११९८-१२१६
रोजर बेकन, वैज्ञानिक	१२१४-९४
लूई नवम् फ्रांस का सम्राट्	१२२६-७०
दाँते, इटली का महाकवि	१२६५-१३२१

मार्को पोलो, इटली का पूर्वी देशों में यात्री	१२७१-६५
फिलीपदो, फेयर, फ्रांस का सम्राट्	१२८५-१३१४
चौसर, अंगरेज कवि	१३४०-१४००
कापर निकस, ज्योतिष शास्त्रवेत्ता	१४७३-१५४३
तुलसीदास, भारत के सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि	१५३२-१६२३
शेक्सपियर, अंगरेज नाटककार	१५६४-१६१६

परिशिष्ट ३

प्रश्नावली

प्रथम भाग—प्राचीन युग

अ० १

१. इतिहास की परिभाषा क्या है ? इसके अध्ययन की क्या उपयोगिताएँ हैं ? विश्व इतिहास क्यों पढ़ना चाहिये ?

२. मानव प्रगति के काल निर्णय पर एक टिप्पणी लिखिये। पूर्व इतिहास काल और ऐतिहासिक युग से आप क्या समझते हैं ?

३. "काल निर्णय विद्या तथा भूगोल-इतिहास की दो आँखें हैं।" इसकी व्याख्या कीजिये।

४. नदी की घाटियों में ही सभ्यता तथा संस्कृति का उदय सर्वप्रथम क्यों हुआ ?

५. सभ्यता से आप क्या समझते हैं ? सभ्यता तथा संस्कृति में भेद समझाइये।

६. विश्व में प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्रों की स्थिति पर प्रकाश डालिये।

७. मानव परिवार के वर्गीकरण के विषय में आप क्या जानते हैं ? क्या एक ही जाति के सभी मनुष्य उत्पन्न हुए हैं ?

अ० २

१. पृथ्वी और समय का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? समय की तुलना नदी से क्यों की जाती है ?

२. पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति के बारे में आप की क्या सम्मति है ?

अ० ३

१. पूर्व इतिहास काल की सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

२. आदि काल का पत्थर के आधार पर विभाजन क्यों किया गया है ? प्राचीन तथा नवीन पाषाण काल की सभ्यताओं का तुलनात्मक विवरण लिखिये।

३. सभ्यता के आदि विकास का धातु के प्रयोग के साथ गहरा सम्बन्ध है—इस कथन की पुष्टि कीजिये।

अ० ४

१. मिश्र की उन्नति का मूल नील नदी और नील नदी का दान मिश्र को क्या कहते हैं ?

२. मिश्र के उत्थान तथा पतन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

३. प्राचीन मिश्र के इतिहास में पिरामिड युग, सामन्त युग तथा साम्राज्यवादी युग की क्या विशेषताएँ हैं ?

४. पिरामिड तथा स्फिंक्स के बारे में आप जो जानते हैं, लिखिये ।

५. मिश्र के धार्मिक जीवन में अखनाटम ने क्या परिवर्तन किया ? उसका प्रयास कहाँ तक सफल हुआ ?

६. मिश्र के इतिहास में स्वर्ण युग से आपका क्या तात्पर्य है ?

७. मिश्र की सभ्यताएँ एवं संस्कृति का वर्णन कीजिये ।

८. मिश्र के धर्म तथा समाज के बारे में आप क्या जानते हैं ?

९. किन बातों के लिये दुनिया मिश्र के प्रति कृतज्ञ रह सकती है ?

अ० ५

१. मेसोपोटेमिया से आपका क्या तात्पर्य है ? इसकी सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन कीजिये । इसकी उन्नति के क्या कारण थे ।

२. जातीय दृष्टि से मिश्र में एकरूपता थी, मेसोपोटेमिया में मिश्रण था, क्यों ?

३. सुमेरु सभ्यता के बारे में आप क्या जानते हैं ? मिश्री लेखन कला के साथ इसकी लेखन कला की तुलना कीजिये ।

४. असीरिया के राजनीतिक विकास पर प्रकाश डालिये । सभ्यता के क्षेत्र में इसकी क्या देन है ?

५. हम्मूराबी तथा नेबूकेडनेजार की कृतियों का उल्लेख कीजिये ।

६. मिश्र तथा मेसोपोटेमिया की वैज्ञानिक उन्नति बतलाइये ।

७. विश्व को मेसोपोटेमिया की क्या देन रही है ?

अ० ६

१. सैन्धव सभ्यता का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर कीजिये :—
(क) समाज (ख) धर्म (ग) कला और (घ) शासन ।

२. मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा की भौगोलिक स्थिति बतलाइये । इनके प्रसिद्ध होने के क्या कारण हैं ?

३. सिन्धु नदी घाटी की सभ्यता किस काल की है ? इसका संक्षेप में वर्णन कीजिये ।

४. भारतवर्ष की प्राचीनतम सभ्यता एवं संस्कृति का उल्लेख कीजिये ।

५. सैन्धव सभ्यता के कौन निर्माण कर्त्ता थे ? इसके विनाश के क्या कारण थे ?

अ० ७

१. मौर्य काल की स्थापना तक आर्यों के प्रसार पर प्रकाश डालिये ।

२. वैदिक कालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का उल्लेख कीजिये ।

अ० ८

१. छठी सदी ई० पू० की भारतीय धार्मिक क्रांति पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिये।

२. जैन तथा बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का उल्लेख कीजिये।

३. बौद्ध धर्म की सफलता तथा विफलता के कारणों को बतलाइये।

४. अशोक की धार्मिक नीति पर अपना मत दीजिये।

५. विश्व इतिहास में अशोक का क्या स्थान है?

६. 'अशोक के बाद का राजनीतिक भारत' नामक शीर्षक पर एक संक्षेप निबन्ध लिखिये।

७. निम्नलिखित आधारों पर हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन कीजिये :—(क) शिक्षा एवं साहित्य (ख) कला एवं विज्ञान (ग) धर्म एवं समाज।

८. 'भारतीय इतिहास में गुप्त काल स्वर्ण युग है।' ऐसा क्यों कहा गया है?

९. प्राचीन भारत में शासन प्रबन्ध प्रजातंत्र के आधार पर होता था। इस कथन की पुष्टि कीजिये।

१०. भारतीय सभ्यता की क्या विशेषताएँ हैं? मानवता इसके प्रति क्यों ऋणी है?

अ० ९

१. चीन के इतिहास पर भूगोल का क्या प्रभाव पड़ा है?

२. चीन के प्रमुख प्राचीन राजवंशों को बतलाइये और प्रत्येक के महत्व पर प्रकाश डालिये।

३. चीन की प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश डालिये।

४. चीनी इतिहास में स्वर्ण युग के विषय में आप जो जानते हों, लिखें।

५. लाओजे और कनफ्यूशस के क्या सिद्धान्त थे? चीनी समाज को कहाँ तक उन्होंने प्रभावित किया?

६. चीन के "प्रथम सम्राट" के शासन के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये।

७. चीनी सभ्यता के गुण-दोष पर प्रकाश डालिये। विश्व को इसकी क्या देन रही है?

अ० १०

१. मेदों के उत्थान-पतन के विषय में आप क्या जानते हैं? उनकी सभ्यता का उल्लेख करें।

२. फारस के इतिहास में दारा प्रथम का स्थान महत्वपूर्ण क्यों है?

३. फारसी साम्राज्य के राजनीतिक संगठन पर एक टिप्पणी लिखिये।

४. फारस के उत्थान तथा पतन पर एक निबन्ध लिखिये।

५. निम्नलिखित शीर्षक के आधार पर फ़ारसी सभ्यता का उल्लेख करें :—(क) धर्म (ख) साहित्य एवं कला।

६. एक मानचित्र बनाकर ईरानी साम्राज्य का विस्तार दिखलाइये।

अ० ११

१. हिट्टियों की सभ्यता का उल्लेख कीजिये।

२. ऐरामीय जाति और इसकी सभ्यता के विषय में आप क्या जानते हैं?

३. फ़िलीस्तीन, फिनीशिया तथा क्रीट का प्राचीन राजनीतिक इतिहास लिखिये।

४. यहूदियों की सभ्यता का वर्णन कीजिये।

५. फिनीशिया तथा क्रीट सभ्यताओं का तुलनात्मक परिचय दीजिये।

६. फ़िलस्तीन फिनीशिया तथा क्रीट की दुनियाँ को क्या देन है?

अ० १२

१. यूनान के इतिहास का क्या महत्व है? इस पर भौगोलिक स्थिति का क्या प्रभाव पड़ा है?

२. वीर गाथा काल का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

३. यूनान में नगर राज्यों के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

४. यूनानी-फ़ारसी युद्ध के कारणों तथा परिणामों पर प्रकाश डालिये।

५. स्पार्टा तथा एथेन्स के नेतृत्व की क्या विशेषतायें थीं? पेलपोनेसियन युद्ध के कारणों तथा परिणामों का उल्लेख कीजिये।

६. यूनान के इतिहास के स्वर्ण युग का विवरण प्रस्तुत कीजिये।

७. यूनान के उपनिवेशों के विषय में आप क्या जानते हैं।

८. यूनानवासी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के लिये दूसरे देशों के कहाँ तक ऋणी हैं?

९. यूनानियों के क्या दृष्टिकोण थे? उनकी सभ्यता एवं संस्कृति पर एक निबन्ध लिखिये।

१०. कला एवं साहित्य, विज्ञान एवं दर्शन के विकास में यूनानियों ने क्या सहयोग दिया है?

११. "प्राचीन यूनान को यदि यूरोपीय सभ्यता की जननी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

१२. मानवता को यूनानी सभ्यता की क्या देन है?

अ० १३

१. मकदुनिया के साम्राज्य विस्तार का विवरण लिखिये और एक मानचित्र में प्रमुख स्थानों को दिखलाइये।

२. विश्व इतिहास में सिकन्दर का क्या स्थान है ?

३. सिकन्दर को महान् की उपाधि से विभूषित किया गया है, यह कहाँ तक उचित है ?

४. दूर—यूनानी सभ्यता से आपका क्या तात्पर्य है ? इस पर एक निबन्ध लिखिये।

५. पश्चिमी प्रदेश यूनानी सभ्यता से कहाँ तक प्रभावित हुए थे ?

अ० १४

१. रोमन इतिहास का क्या महत्व है? भौगोलिक स्थिति का इस पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

२. प्रजातंत्र काल की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं का उल्लेख कीजिये।

३. रोमन साम्राज्य के उत्थान पर एक निबन्ध लिखिये।

४. रोम तथा कार्येज के सम्बन्ध के विषय में आप क्या जानते हैं ?

५. 'रोम राजतंत्र की ओर' इस शीर्षक पर एक लेख लिखिये।

६. जुलियस सीजर के विषय में परिचयात्मक टिप्पणी लिखिये।

७. रोम का प्रथम सम्राट कौन था ? उसके विषय में आप क्या जानते हैं ?

८. रोमन साम्राज्य की सफलता तथा इसके पतन के कारणों को बतलाइये।

९. पूर्वी रोमन साम्राज्य का संक्षिप्त इतिहास लिखिये। इसकी क्या महत्ता थी ?

१०. रोम की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर एक निबन्ध लिखिये।

११. मानव समाज किन बातों के लिये रोम के प्रति ऋणी है ?

१२. यूनान तथा रोम की सभ्यता एवं संस्कृति का तुलनात्मक परिचय दीजिये।

१३. एक मानचित्र बनाकर रोमन साम्राज्य के विस्तार को बतलाइये।

अ० १५

१. ईसा के जन्म के समय फिलस्तीन की सामाजिक दशा कैसी थी ? तत्कालीन समाज को उसकी क्यों आवश्यकता थी ?

२. ईसा के जीवन चरित्र के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनके उपदेशों का उल्लेख कीजिये।

३. ईसाई धर्म के प्रसार का वर्णन कीजिये। इसकी सफलता के क्या कारण थे ?

४. रोमन सम्राटों का ईसाई धर्म के प्रति क्या रुख था ?

५. ईसाई धर्म ने दुनिया की सभ्यता एवं संस्कृति को कहाँ तक प्रभावित किया ?

मध्यकालीन युग

अ० १६

१. यूरोप के अन्धयुग से आप का क्या तात्पर्य है ?

२. यूरोप की बर्बर जातियों के विषय में आप क्या जानते हैं? रोम के पतन में उन्होंने किस तरह सहयोग दिया?

३. ईसाई धर्म के विकास पर एक लेख लिखिये जिसमें मठों के उत्कर्ष की विशद व्याख्या हो।

४. मध्य कालीन यूरोपीय इतिहास पर फ्रांक जाति का क्या प्रभाव पड़ा?

५. शार्लमेन के विषय में आप क्या जानते हैं? वह महान् की उपाधि से क्यों विभूषित है?

अ० १७

१. पवित्र रोमन साम्राज्य से आप क्या समझते हैं? इसकी स्थापना किसने की और किस के हाथ तथा कब इसका अंत हुआ?

२. पोप तथा सम्राट के बीच संघर्ष संबंधी एक लेख लिखिये।

३. धर्म युद्ध पर निम्नलिखित शीर्षक के आधार पर एक निबंध लिखिये :—(क) कारण (ख) प्रगति (ग) परिणाम।

४. सामन्तवाद से क्या तात्पर्य है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई?

५. सामन्तवाद के स्वरूप तथा आधार पर प्रकाश डालिये।

६. सामन्तवाद के गुणों तथा दोषों की विवेचना कीजिये। इसके क्या कारण थे?

७. मध्य कालीन चर्च तथा मठ के विषय में आपकी क्या जानकारी है?

८. नगर-निर्माण मध्य कालीन युग की एक प्रमुख विशेषता है—इस कथन की पुष्टि कीजिये।

९. नगरों की सांस्कृतिक महत्ता पर प्रकाश डालिये। इनकी त्रुटियाँ क्या थीं?

१०. नगर राज्य और राष्ट्रीय राज्य में क्या भेद है? सोदाहरण समझाइये।

११. मध्य कालीन यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण पर एक निबंध लिखिये।

१२. इटली तथा जर्मनी की स्थिति राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण की दृष्टि से उपयुक्त नहीं थी, क्यों?

१३. मध्य कालीन यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन कीजिये।

१४. विश्व को मध्य कालीन यूरोप की क्या देन है?

१५. पाश्चात्य सभ्यता पूर्वी सभ्यता का बहुत बड़ा ऋणी है, कैसे?

अ० १८

१. अरब वासियों की प्रारम्भिक स्थिति का उल्लेख कीजिये।

२. इस्लाम के प्रवर्त्तक कौन थे? उनका जीवन-चरित्र लिखिये।

३. अरबों की विजय-अभियान का वर्णन कीजिये। विजितों के प्रति उनका कैसा व्यवहार होता था?

४. इस्लामी साम्राज्य का पतन कब और क्यों हुआ ?

५. अरब सभ्यता एवं संस्कृति पर एक निबंध लिखिये।

६. मानव समाज को अरब वासियों के प्रति क्यों ऋणी रहना चाहिये ?

७. एक मानचित्र बनाकर अरब साम्राज्य का विस्तार दिखलाइये।

अ० १६

१. हूण जाति के उत्थान और पतन पर प्रकाश डालिये।

२. मंगोल कौन थे ? उनके दो प्रसिद्ध राजाओं की विजय का उल्लेख कीजिये।

३. चीन के इतिहास के साथ मंगोलों का क्या सपर्क है ?

४. एक मानचित्र में मंगोल साम्राज्य के विस्तार को दिखलाइये।

५. मंगोलों ने विश्व सभ्यता के विकास में क्या सहयोग दिया है ?

६. तुर्क कौन थे ? इनकी विभिन्न शाखाओं का वर्णन कीजिये।

७. उस्मानी तुर्क से आप क्या समझते हैं ? उनकी उन्नति तथा अवनति पर प्रकाश डालिये।

८. संसार को तुर्की सभ्यता की क्या देन है ?

अ० २०

१. हर्ष के बाद मुस्लिम शासन की स्थापना तक भारत की राजनीतिक दशा का उल्लेख कीजिये।

२. दक्षिणी भारत के दो बड़े स्वतंत्र राज्यों के इतिहास पर प्रकाश डालिये।

३. मुस्लिम काल की सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन कीजिये।

४. बृहत्तर भारत से आपका क्या तात्पर्य है ?

अ० २१

१. मध्य कालीन चीन के राजवंशों के उत्थान-पतन का उल्लेख कीजिये।

२. मध्य कालीन चीन के सांस्कृतिक विकास पर प्रकाश डालिये।

३. जापान के प्रारम्भिक इतिहास के विषय में आप क्या जानते हैं ? चीन से उसका क्या संपर्क रहा है ?

अ० २२

१. अमेरिका को 'नई दुनिया' क्यों कहा जाता है ? इसकी प्राचीन सभ्यता का उल्लेख कीजिये।

२. माया सभ्यता पर एक निबंध लिखिये।

३. प्राचीन अमेरिका का मानव समाज को क्या देन है ?

———

परिशिष्ट ४

विस्तृत अध्ययनार्थ ग्रन्थ सूची

1. Wells, H. G. — Outline History of the World.
2. Swain, J. E. — History of World Civilisation.
3. Thorndike, L. — History of Civilisation.
4. Sanderson, E. — Outlines of the World History.
5. Weech — World History.
6. Robinson — History of Greece.
7. „ — History of Rome.
8. Hall, H. R. — Ancient History of the Near East. (Latest Ed.)
9. Moret, A. — The Nile & Egyptian Civilisation.
10. Delaporte. — Mesopotamia.
11. Wilhelm, R. — Short History of Chinese Civilisation.
12. Mackay — The Indus Civilisation.
13. Glotz, G. — The Aegean Civilisation
14. Mumford, L. — Technics & Civilisation.
15. Van loon — Story of Mankind.
16. Toynbee, A. — Study of History.
17. Langer, W. L. — An Encyclopedia of World History.
18. Marshall, L. E. — The Story of Human Progress.
19. Muller Lyer — History of Social Development.

२०. जवाहर लाल नेहरू — विश्व इतिहास की झलक (दो भाग)

२१. राहुल सांकृत्यायन — मानव-समाज

२२. चन्द्रराज भंडारी — समाज विज्ञान

२३. कालीदास कपूर — विश्व संस्कृति का विकास